प्रकाशिका—
रामकली देवी
व्यवस्थापिका
साहित्य-निकेतन,
दारागञ्ज, प्रयाग।

मुद्रक—
नारायणप्रसाद,
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिङ्ग, प्रयाग

भूमिका

अर्थशास्त्र का अध्ययन आधुनिक समाज में परम आवश्यक हो गया है। प्राचीन समय में, जबकि साधारण व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकतायें सीमित थीं, जब अध्यापक अपने आश्रम में, हस्तलिखित पुस्तकों अथवा कंठस्थ ग्रन्थों की सहायता से समस्त शास्त्रों में शिक्षा दे सकते थे, जब शिक्षित पुरुषों की संख्या कम थी और उनके शारीरिक सुख और स्वास्थ्य के लिये बहुत कम सामग्री की अपेक्षा थी, जब प्रजा को जो कुछ राजा से मिलता था वही उसके लिये पर्याप्त था, और जो राजा के कर्मचारियों को प्राप्त होता था उसी से वे प्रसन्न रहते थे, जब "दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति यो गृहे" यही आनन्द की पराकाष्ठा थी, तब अर्थशास्त्र के पंडितों से साधारण जनता का कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। परन्तु अब तो समाज इतना विस्तृत हो गया है और नित्य के जीवन में इतनी गुत्थियां उपस्थित हो गई हैं कि इन महापंडितों की सहायता बिना आगे बढ़ना असम्भव है। प्रत्येक पद पर अर्थशास्त्र के तत्त्वों का अनुसन्धान करना पड़ता है। चांदी का, अन्न का, वस्त्र का, — नितान्त आवश्यक वस्तुओं का — सम्बन्ध न केवल एक देश की, परन्तु समस्त संसार की आर्थिक स्थिति से है। अमेरिका, जापान, इंगलैंड की स्थिति का गहरा प्रभाव हमारे देश की स्थिति पर पड़ता है। कुछ वेत्ताओं का मत तो यह है कि न केवल एक देश का, समस्त विश्व का, इतिहास आर्थिक उलटफेर से निश्चित हुआ करता है। धन और ऐश्वर्य के लोभ से प्रभावित होकर, आर्थिक लाभ की आशा से, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को

दलित करना चाहता है और वैयक्तिक जीवन में भी इन्हीं आकांक्षाओं से प्रेरित होकर मनुष्य अपने आचरणों को स्थिर करता है। यह शोक का विषय है। लक्ष्मी की आराधना अनिष्ट नहीं है, परन्तु साथ ही और देवियों के प्रति श्रद्धा रखना श्रेयस्कर है। इस युग में तो केवल लक्ष्मी ही एक आराध्य भगवती हो रही हैं।

अस्तु। जैसी युग की गति है, वैसी ही शिक्षा की प्रणाली भी होती जा रही है। अर्थशास्त्र का अध्ययन तो अब आत्मरक्षा और देशरक्षा के लिये अनिवार्य हो गया है। पश्चिम के देशों में इस शास्त्र की बड़ी उन्नति हुई है और हो रही है। हमारे विचार से इसका प्राधान्य भयावह है, परन्तु हमारी कौन सुनेगा? काल की प्रगति हम नहीं रोक सकते।

पंडित दयाशंकर दूबे कोई बीस बरस से हिन्दी में अर्थशास्त्र के विविध विषयों पर लेख और पुस्तिकायें लिख रहे हैं। आपने हिन्दी साहित्य के एक अंग की पूर्ति में बड़ी सराहनीय सेवा की है। ऐसे जटिल विषयों का सरल भाषा में वर्णन करना आप ही का काम है। अब आपने यह विशालकाय पुस्तक लिखकर हिन्दी पढ़ने वालों का ऐसा उपकार किया है कि बहुत दिनों तक इस पुस्तक का अध्ययन अर्थशास्त्र में पांडित्य प्राप्त करने के लिये पर्याप्त होगा। इसकी लेखन शैली चित्तग्राहिणी है, विषय में रुचि उत्पन्न करने की शक्ति इसमें है, सिद्धान्तों को हृदयङ्गम कराने की इसमें योग्यता है। संवाद का रूप देकर लेखक ने इसकी मनोरंजकता बढ़ा दी है। हिन्दी संसार में इस पुस्तक का सम्मान होगा और विद्यार्थियों का इससे उपकार होगा ऐसा मेरा विश्वास है।

अमरनाथ झा

६.८.४०

निवेदन

इस अर्थप्रधान युग में अर्थ या धन का महत्व समझाने की आवश्यकता नहीं है। छोटा बच्चा भी पैसे का महत्व समझता है और मचलकर अथवा रोकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह भी इतना जानता है कि पैसा ही ऐसी वस्तु है जिससे वह अपनी इच्छित वस्तुएँ ले सकता है। नवयुवक और बूढ़े आदमी तो दिन-रात उसी की चिंता में परेशान रहते हैं।

परन्तु बहुत कम व्यक्ति उस शास्त्र का अध्ययन करते हैं जो यह बतलाता है कि व्यक्ति, देश और समाज ग़रीब या धनवान कैसे होते हैं और ग़रीब देश या व्यक्ति के धनवान होने के प्रधान साधन क्या हैं। भारत बहुत ग़रीब देश है। यहाँ की अधिकांश जनता को कठिन परिश्रम करने पर भी रूखा-सूखा भरपेट भोजन नहीं मिल पाता। देशवासियों में अर्थशास्त्र के ज्ञान के प्रचार करने की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। इस प्रचार में सब से बड़ी कठिनाई

हिन्दी में अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों की कमी है। इसी कमी को कुछ अंश में दूर करने के लिए मैंने इस पुस्तक को लिखने का साहस किया है।

एक युग था, जब अर्थ का केवल बाह्य जीवन से ही सम्बन्ध माना जाता था। हमारे देश का आदर्श तो यहाँ तक ऊँचा था कि योगी यती ही नहीं, सद्गृहस्थ लोग भी अर्थ-संचय के सम्बन्ध में उदासीन रहा करते थे। पर आज अब यह स्थिति नहीं है। आज तो अर्थ हमारे रात-दिन के चिन्तन का विषय बन गया है। जीवन-निर्वाह के लिए ही नहीं, आज तो विवाह, पुत्र-जन्म, अन्य संस्कार, प्रेम, प्रतिदान और उपहार से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक के लिए अर्थ एक प्रधान, बल्कि सर्व-प्रधान, समस्या है। आज तो पिता-माता पुत्र के प्रति, भाई-भाई के प्रति, इष्ट-मित्र, कुटुम्बी और व्यवहारी अपने साथी, पड़ोसी और सहयोगी के प्रति अपने आत्मीय प्रेम, आकर्षण और प्रतिदान के लिए एक मात्र अर्थ पर ही निर्भर रहते हैं। आज तो एक मात्र आर्थिक समस्या ही जीवन की प्रमुख समस्या है। अतएव कितने आश्चर्य्य किन्तु परिताप का विषय है कि जीवन के क्षण-क्षण से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे अनिवार्य्य उपयोगी विषय (अर्थशास्त्र) के प्रति हमारे देश की शिक्षित जनता अनुराग का भाव न रखकर उसे एक शुष्क विषय मानती है। जब कभी मैं इस तरह की बात सुनता हूँ, तो मुझे बड़ा क्लेश होता है। मैं चाहता हूँ कि हमारे नवयुवक अर्थशास्त्र के स्थायी और व्यापक महत्व को स्वीकार करें और इस विचार को सदा के लिए भूल जायँ कि यह कोई शुष्क विषय है। मेरी तो यह पक्की धारणा है कि यही एक ऐसा विषय है

जो जीवन को सरस, सरल और प्रिय बनाने में सब से अधिक सहायक है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक को पढ़ जाने के अनन्तर पाठक मेरे इस मत से पूर्णतया सहमत होंगे।

मैं उन व्यक्तियों में से हूँ जो यह विश्वास करते हैं कि अर्थशास्त्र इतना सरल विषय है कि उसका ज्ञान साधारण जनता से लेकर प्रारम्भिक कक्षाओं तक के विद्यार्थियों को आसानी से कराया जा सकता है। इसी उद्देश्य से मैंने बालबोध-रीडरों में कुछ पाठ अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर दिये। ये रीडरें युक्तप्रांत की सरकार द्वारा स्वीकृत हुई और इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित की गईं। इनका प्रचार पाँच वर्षों तक युक्तप्रांत में हुआ। मुझे यह सूचित करते हर्ष होता है कि अर्थशास्त्र-सम्बन्धी पाठों को प्रारम्भिक पाठशालाओं के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने बहुत पसंद किया। इस सफलता से प्रोत्साहित होकर मैंने एक ऐसी पुस्तक लिखने का विचार किया, जिसमें अर्थशास्त्र-सम्बन्धी प्रायः सब बातें कहानी या संवाद के रूप में इस प्रकार से दी जाँय कि साधारण जनता उसे आसानी से समझ सके और उसकी रुचि भी इस शास्त्र के पढ़ने के सम्बन्ध में पैदा हो।

कई व्यक्तिगत झंझटों के कारण मैं अपना विचार शीघ्र कार्यरूप में परिणत नहीं कर सका। तो भी मैं प्रयत्न करता ही गया। इसी प्रयत्न का परिणाम यह पुस्तक है। इसे हिन्दी-संसार को भेंट करते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। यह मेरे २० वर्षों के अर्थशास्त्र के अध्ययन और अध्यापन के अनुभव के आधार पर लिखी गई है। इस पुस्तक में भारतीय दृष्टिकोण

को प्रधानता दी गई है और धर्म तथा अर्थ का सम्बन्ध भी इसी दृष्टिकोण से समझाया गया है। आजकल संसार में प्रायः सर्वत्र भौतिकवाद और स्वार्थ-सिद्धि का साम्राज्य स्थापित है अथवा हो रहा है। संसार भर में अशांति की लहर फैली हुई है। जो ग़रीब हैं वे तो दुःखी हैं ही, परन्तु धनवान भी सुख का अनुभव नहीं कर रहे हैं। अपने थोड़े-से निजी स्वार्थ के लिए दूसरों का या समाज का भारी अहित करना धनवान व्यक्ति भी बहुत जल्द अंगीकार कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में वे धर्म का तो कुछ ख़्याल ही नहीं रखते। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि संसार में सुख और शान्ति का साम्राज्य तभी स्थापित हो सकता है जब अर्थ-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में धार्मिक* भावना की प्रधानता रहे। यही हिन्दू आदर्श है। विश्व की स्थायी शान्ति के लिए भारत का यही एकमात्र संदेश है। इसका विशेष रूप से विवेचन इस पुस्तक में किया गया है।

इस पुस्तक का विषय अर्थशास्त्र है, कहानी नहीं। तो भी इसके विषय-प्रतिपादन में कहानीपन लाने की चेष्टा अवश्य की गई है। कहानी का लक्ष्य है, आनन्द का उद्रेक और चमत्कार की सृष्टि। इसके अनेक अध्यायों में यह बात भी पाठकों को मिलेगी। अन्तर केवल इतना है कि मैंने जो घटनाएँ चुनी हैं, वे एक तो कोरी कल्पना-प्रसूत नहीं है, हमारे आज के जीवन में चारों ओर व्याप्त हैं और सत्य ही हैं। केवल पात्रों के नाम बदल दिये गये हैं। दूसरे इसकी कहानियों का उद्देश्य कला की सृष्टि नहीं है, वरन् अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों, अंगों और समस्यात्मक उलझनों का

* यहां धर्म का अर्थ सङ्कुचित रूप में नहीं लिया गया है।

ान है। इसलिए हम यह स्वीकार करते हैं कि इसकी कुछ कथाओं
ठकों को वह आनन्द तो नहीं मिलेगा, जो किसी श्रेष्ठ कला-पूर्ण कहानी
लता है। बात यह है कि उद्देश्य हमारा यही रहा है कि अर्थशास्त्र को
ढंग से उपस्थित किया जाय, जिससे वह सरल-से-सरल और रोचक
पड़े। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को इस रूप में उपस्थित करने का
में यह पहला ही प्रयत्न है। अंग्रेज़ी में भी शायद ऐसा प्रयत्न
किया गया। मैं इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ हूं इसका निर्णय मैं
पाठकों पर छोड़ता हूँ।

किसी भी शास्त्र का पूरा विवेचन करना बहुत कठिन कार्य है। मैंने तो
अर्थशास्त्र की रूप-रेखा ही बतलाने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक को
ागों में प्रकाशित कराने का मेरा विचार है। इस भाग में उपभोग, उत्पत्ति,
मय और वितरण के सम्बन्ध में मैंने अपने विचार प्रकट किये हैं। यदि
-संसार ने इस पुस्तक को पसंद किया, तो दूसरे भाग में रुपया-पैसा, करेंसी,
देशी और विदेशी व्यापार, राजस्व तथा साम्यवाद आदि विषयों पर मैं
विचार उपस्थित करूँगा।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे श्री महेशचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०,
एस्-सी० 'विशारद' और श्रीयुत श्रीधर मिश्र बी० काम० से सहायता
ी है। भारत-विख्यात, हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक पं० भगवतीप्रसादजी
पेयी ने मेरे विचारों को कहानी अथवा कथोपकथन का रूप देने में सहायता
है। इस कृपा के लिए मैं उपर्युक्त तीनों सज्जनों का आभारी हूँ।

प्रयाग-विश्व-विद्यालय के वाइस चैंसलर पंडित अमरनाथजी झा एम० ए०, एफ० आर० एस्० ने इस पुस्तक की भूमिका लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया है। इस असीम कृपा के लिए मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ।

नारायण प्रेस के अध्यक्ष श्रीयुत गयाप्रसादजी तिवारी बी० काम० ने इस पुस्तक को शीघ्र छाप देने में जो तत्परता दिखलाई है उसके लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

यदि इस पुस्तक के द्वारा मैं भारत की साधारण जनता को—और विशेषकर विद्यार्थियों को—अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को समझाने में कुछ भी सहायक हो सका तो मैं अपने प्रयत्नों को सफल समझूँगा।

श्री दुबे-निवास, दारागंज, प्रयाग
१७ अगस्त, १९४०
श्रावण शुक्ल पौर्णिमा, संवत् १९९७

अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय

विषय-सूची

पहला खण्ड—प्रारंभिक

दूसरा खण्ड—उपभोग

तीसरा खण्ड—उत्पत्ति

चौथा खण्ड—विनिमय

पाँचवाँ खण्ड—वितरण

पहला अध्याय

अर्थशास्त्र क्या है ?

मोहन रहता तो उन्नाव में है, पर उसके चाचा प्रयाग में नौकर हैं, इसलिए माघ के महीने में वह अपनी मां के साथ चाचा के यहां आया हुआ है। उसकी मां माघ-भर त्रिवेणी-संगम में प्रतिदिन स्नान करेगी। गत रविवार को मोहन भी अपने चाचा के साथ त्रिवेणी-स्नान करने तथा वहां लगे हुए माघ मेला को देखने के लिए गया था।

मेले के पास पहुँचने पर पहले मोहन को कृषि-प्रदर्शिनी दिखाई पड़ी। उसने चाचा से कहा कि वह भी इसे देखेगा।

प्रदर्शिनी के पण्डाल में जाने पर मोहन ने तरह-तरह की मशीनें देखीं। चाचा ने उसे बताया कि ये सब खेती करने के काम आती हैं। मोहन को कुएं से पानी खींचनेवाली मशीन अधिक पसन्द आई। वहां की अन्य वस्तुएं भी वह देखना चाहता था, पर चाचा ने कहा कि चलो, पहले गंगा जी नहा आवें, फिर लौटते समय इन सब चीज़ों को अच्छी तरह देखना।

बांध पर पहुँचते ही मोहन ने कई हलवाइयों की दूकानें देखीं। सुबह का समय था। ताज़ी-ताज़ी जलेबी बनाई जा रही थी। कुछ लोग दूकान के पास जलेबी खा रहे थे।

माघ का शुरू था। इसलिये अभी कुछ दूकानों पर माल नहीं आया था। वे खाली पड़ी थीं। कुछ मज़दूर इधर उधर ज़मीन खोद रहे थे। मोहन

ने कहा—चाचा, यहां तो बड़ा मज़ा है। क्या यह सब यहां पर हर साल होता है?

चाचा—हां, हर साल इसी तरह मज़दूर टीन और लकड़ी की दूकानें बनाते और उजाड़ते हैं।

मोहन—तब तो बहुत लकड़ी और टीन ख़र्च होता होगा।

चाचा—ख़र्च तो होता है। पर बड़े-बड़े ठेकेदार इन चीज़ों को मेला ख़तम होने पर मोल ले लेते हैं। फिर साल भर बाद वे इनको बेचते हैं।

इसी समय एक ओर हल्ला सुनकर मोहन का ध्यान उधर चला गया। दो एक साधू कह रहे थे—चलो, चलो, आज एक भाग्यवान् ने सुबह ही भंडारा किया है।

मोहन—चाचा, यह भंडारा क्या होता है?

चाचा—जब कोई आदमी बहुत से साधुओं को भोजन कराता है तो उनके खाने के लिए बड़ा प्रबन्ध करना पड़ता है। इसी बड़ी दावत को भंडारा कहते हैं। यहां पर ऐसे भंडारे रोज़ ही हुआ करते हैं।

बातें करते-करते दोनों सड़क से दूर एकांत स्थान में पहुँच गये।

इतने में मोहन चिल्ला उठा—अरे चाचा! वह देखो। कुछ साधू ध्यान लगाये आंख मूंदे बैठे हैं।

चाचा—यहां एकांत में ये लोग भगवान का ध्यान कर रहे हैं। हम लोग सड़क से दूर निकल आये हैं। सड़क से चलना ठीक होगा।

थोड़ी देर में दोनों सड़क पर पहुँच गये। वहां पर एक साधू को देखकर मोहन ने कहा—अरे, यह साधू तो उलटा लटका हुआ है! नीचे आग जल रही है। क्यों चाचा, ये जलते नहीं होंगे? थोड़ी देर में तो भुन जायँगे! पर चाचा, यह क्या बात है कि बचाना दूर रहा, लोग तमाशा देख रहे हैं!

चाचा—यह सब पैसा कमाने का ढङ्ग है। तुम देखते हो न, साधू इधर से उधर झूल रहा है। इस कारण उसे अग्नि की झुलस नहीं लगती। हां, थोड़ी गरमी ज़रूर लगती होगी। परन्तु आजकल तो ठंढ में यह अधिक खलती न होगी। फिर उसने इसका अभ्यास भी तो कर रक्खा है।

मोहन—इससे तो अच्छा हो कि वह यों ही मांगकर पैसे इकट्ठे कर ले। पर वह पैसों का करेगा क्या ?

चाचा—वह पैसों से भोजन-वस्त्र आदि मोल लेगा। तुम जानते ही हो कि दुनियाँ में सब काम इसीलिए किये जाते हैं कि सुख प्राप्त हो। जीवन के सारे सुख आज पैसे पर ही निर्भर हैं।

मोहन—अरे चाचा ! ओ चाचा !! देखो, वह साधू तो कीलों पर बैठा है। इसके बदन में तो तमाम खून निकल आता होगा। इसे तो सिवाय तकलीफ़ के और क्या आराम मिलता होगा ?

चाचा—वह पैसा कमाने के लिए ही ऐसा कर रहा है। पैसे से वह उन वस्तुओं को ख़रीदेगा जिनकी उसे आवश्यकता है। उन वस्तुओं के उपयोग से उसे सुख मिलेगा। यदि अंत में उसे सुख न मिले, तो बैठने की कौन कहे वह कीलों के पास भी न जाय।

मोहन ने चाचा की बातों पर ध्यान नहीं दिया। उसका ध्यान उस दूकान की वस्तुओं पर था जिसके बग़ल से वह और उसका चाचा गुज़र रहे थे। दूकान में तरह-तरह के छपे बेल-बूटेदार कपड़े रखे थे। यकायक मोहन की नज़र एक मोर-छाप-अँगोछे पर रुक गई। उसने चाचा से कहा कि वह उसे मोल ले दें। इस पर चाचा ने दूकानदार से उस अँगोछे का दाम पूछा।

दूकानदार—एक दाम बता दें या मोल-भाव करोगे ?

चाचा—एक दाम बताइये।

दूकानदार ने अँगोछे को उतारकर खोला और मोहन के चाचा को दिखाते हुए कहा—

देखिए, बड़ा मोटा है, सालों नहीं फटेगा। है तो अधिक दाम का, पर तुमसे चार आने पैसे ले लेंगे।

चाचा—चार आने तो बहुत हैं, तीन आने में दो।

इतने में मोहन बोल उठा—और क्या, चार-छः पैसे का माल है।

दूकानदार—अरे बाबा, साढ़े तीन आने की ख़रीद है। मथुरा से यहां आये। दूकान का किराया, कुछ मुनाफा-मज़दूरी भी तो चाहिये। मैंने आप से कोई ज़्यादा नहीं कहा। फिर सुबह-सुबह बोहनी के वक्त... !

चाचा—अच्छा लो, साढ़े तीन आने ले लेना। ख़रीदा तो तुमने दो आने में होगा।

दूकानदार—अरे बाबू साहब, भाव के भाव पर दे रहा हूँ। चलो, तुम पन्द्रह पैसे ही दे देना।

चाचा—पन्द्रह-वन्द्रह नहीं, देना हो तो चौदह पैसों में दे दीजिये। सुबह-सुबह खटखट अच्छी नहीं होती।

दूकानदार—क्या बताऊं! अच्छा लाओ।

चाचा ने जेब से एक रुपया निकालकर दूकानदार के पास फेंका। दूकानदार ने रुपये को उठाकर उंगलियों पर बजाया। फिर वह कुछ सोचते हुए बोला—

पैसे तो नहीं हैं। सवेरे-सवेरे...आप के पास चौदह पैसे नहीं हैं?

चाचा के इनकार करने पर दूकानदार ने अपने सन्दूक में पैसे ढूंढ़े। जब साढ़े बारह आने नहीं निकले, तो हारकर दूकान के सामने बैठे भांजवाले से उस रुपये का भांज मांगा। उसने एक पाई रुपये की भंजाई ले ली। दूकानदार पाई कम साढ़े बारह आने पैसे मोहन के चाचा को लौटाने लगा।

चाचा—पूरे साढ़े बारह आने दीजिए।

दूकानदार—पाई तो भांज में चली गई।

चाचा—तो मैं क्या करूँ? आप ही ने तो भुनाया।

आख़िर दूकानदार ने यह कहते हुए कि 'वाह साहब, अच्छी चपत लगी। मुनाफ़ा तो कुछ मिला नहीं, पाई गाँठ से देनी पड़ी।' पूरे साढ़े बारह आने पैसे दे दिये। मोहन खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था। जब चला तब पहले तो उसने अपने उस नये अँगोछे को कन्धे पर रख लिया। फिर चाचा से कहने लगा—दूकानदार इस तरह बात करता है जैसे इस अँगोछे के बेचने में उसे नुक़सान ही हुआ हो।

चाचा—भला नुकसान उठाने के लिए कहीं कोई दूकान करता है। यह तो सब कहने की बातें हैं।

अभी मोहन के चाचा पैसे जेब में डाल ही रहे थे कि एक पैसा चमक उठा। मोहन ने कहा—देखें, जान पड़ता है, नया पैसा है। चाचा ने

पैसा दे दिया। तब मोहन ने पूछा—क्यों चाचा, इस पैसे पर किसकी तस्वीर बनी है ?

चाचा—यह तस्वीर हिन्दोस्तान के नये बादशाह छठे जार्ज की है। बादशाह का कारखाना ही इन पैसों को बनाता है। रेल, पुल, सड़क आदि का सारा इंतज़ाम भी सरकार ही करती है। इंतज़ाम करने में जो ख़र्च होता है वह सरकार जनता से कर (टैक्स) के रूप में वसूल करती है।

चाचा ने पूछा—अच्छा मोहन, बताओ तो अब तक इतने लोगों को काम करते देखकर तुम क्या समझे ? क्या तुम बता सकते हो कि वे क्यों काम करते हैं ?

मोहन—आप ही ने तो बताया कि सब कोई सुख प्राप्त करने के लिए काम करते हैं। दूकानदार कमा-कमाकर जो जमा करेगा, उससे वह और उसके लड़के ख़ूब खेलेंगे, कूदेंगे और मौज उड़ावेंगे। पर चाचा, मेरी समझ में यह नहीं आया कि उन साधू-महात्माओं को आँख मूँदकर बैठे रहने से क्या सुख मिलता है। वह जो आग के ऊपर उलटे भूल रहे थे, उनका तो हाल ठीक है। इस तरह कुछ देर तकलीफ़ उठाने के बाद उनके पास पैसे इकट्ठे हो जायँगे और तब वे उतरकर मज़े से उन पैसों का भोजन ख़रीद लेंगे। पर आँख-मूँदकर ध्यान लगानेवाले साधुओं के आगे तो कोई पैसे भी नहीं डाल रहा था।

चाचा—यह तो ठीक है। लेकिन सुख केवल पैसों से ही नहीं मिलता। बिना पैसा ख़र्च किये भी आनन्द आ सकता है। जैसे तुम जब हँस-हँस कर अपने दोस्त मुन्नू से बातें करते हो, तो तुम्हें खुशी होती है। या जैसे तुम्हारी माँ रोज़ यहाँ गंगा जी में स्नान करती हैं। ख़र्च तो वे एक पैसा भी नहीं करतीं, पर इससे क्या ! इसी तरह उन साधू-महात्माओं को आँख मूँदकर भगवान का ध्यान करने से कुछ सुख का अनुभव अवश्य होता होगा। जब तक तुम्हें भविष्य में सुख मिलने की आशा न होगी तब तक तुम कोई दुःख उठाने के लिये तैयार न होगे। इसीलिए कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति का हर एक प्रयत्न सुख-प्राप्ति के लिए ही होता है।

मोहन—तब सुख-प्राप्ति के दो तरीक़े हुए। एक तो पैसों द्वारा और दूसरा बिना पैसों द्वारा।

चाचा – ठीक, पर पैसे स्वयं तुम्हें सुख नहीं देते। पैसों द्वारा तुम केवल उन वस्तुओं को ख़रीदते हो, जो तुम्हें सुख पहुँचाती हैं। अतः सुख के लिए हम अपने प्रयत्नों द्वारा या तो उन वस्तुओं को प्राप्त करते हैं जो ख़रीदी जा सकती हैं अर्थात् जो विनिमय साध्य हैं और धन या संपत्ति कहलाती हैं, या ऐसा कार्य करते हैं जिनसे हमें सुख प्राप्त होता है।

मोहन—तब फिर साधुओं का आँख मूँदकर ध्यान लगाना, माँ का गंगा नहाना, भगवान की पूजा करना आदि ऐसे कार्य हैं जिनसे ऐसी कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती जो विनिमय-साध्य हो, परन्तु उनसे सुख की प्राप्ति अवश्य होती है।

चाचा—हाँ।

घाट-किनारे पहुँच जाने के कारण मोहन व उसके चाचा नहाने के लिए उपयुक्त जगह ढूंढ़ने लगे। एक घाटिया के पास अपने कपड़े उतारकर रख दिये और दोनों ने त्रिवेणी में स्नान किया। स्नान-ध्यान करने के पश्चात् दोनों ने चन्दन लगाया। चाचा ने घाटिया को दो पैसे दिये। फिर जब ये लोग लौट पड़े तो कुछ दूर आगे बढ़कर मोहन बोल उठा—

यह भी पैसा कमाने की रीति है। बैठे-बैठे ज़रा-सा चन्दन दे दिया। इनकी चौकी पर कपड़ा रख दिया। बस, कई पैसे मिल गये। क्यों चाचा, पंडा जी तो इस तरह दिन भर में कई रुपये पैदा कर लेते होंगे।

अरे चाचा! यह देखो यह भिखमंगा आ पहुँचा। यह तो बिलकुल मुफ़्ख़ोर है।

जब दोनों (चाचा भतीजे) कुछ दूर चले आये, तब चाचा ने कहा -

अच्छा मोहन, तुमने सुबह से तरह-तरह के काम देखे और यह समझा कि हम सब अपने सुख के लिए विनिमय-साध्य वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं या ऐसे कार्य करते हैं, जिनसे सुख प्राप्त होता है। अब मैं तुम्हें उस शास्त्र का नाम बताता हूं जिसमें विनिमय-साध्य वस्तुओं का विवेचन किया जाता है।

मोहन—तब उन सब कार्यों का विवेचन किस शास्त्र में होता है जिनके द्वारा विनिमय-साध्य वस्तुएं तो प्राप्त नहीं होतीं, परन्तु सुख का अनुभव होता है।

चाचा—उनका विवेचन अधिकतर धर्म के अन्तर्गत होता है। धर्म के नाम पर ही पुण्य लूटने के लिए तुम्हारी मां गंगा-स्नान करती हैं। ईश्वर की आराधना करने के लिए लोग साधू-सन्यासी का जीवन व्यतीत करते हैं।

मोहन—अच्छा, तो विनिमय-साध्य वस्तुओं का विवेचन किसमें किया जाता है ?

चाचा—अर्थशास्त्र में। अर्थ के मतलब होते हैं धन या विनिमय-साध्य वस्तुएं और शास्त्र माने विवेचन। अर्थशास्त्र का मतलब हुआ वह शास्त्र जिसमें धन या विनिमय-साध्य-वस्तुओं का विवेचन किया जाय।

मोहन—पर चाचा, विवेचन का क्या मतलब है ? यही न, जैसे मोटर का विवेचन होगा कि वह चार पहियों पर तेल के द्वारा चलती है। इसकी लम्बाई कई गज़ होती है। लारी बड़ी ऊँची होती है। इसमें बहुत से आदमी बैठ सकते हैं।

चाचा—नहीं नहीं, अर्थशास्त्र में ऐसा विवेचन नहीं होता। इसके अन्तर्गत वस्तुओं का शास्त्रीय विवेचन किया जाता है। इसमें मोटर की लम्बाई-चौड़ाई नहीं बतायी जायगी। वरन् कहेंगे कि मोटर की उत्पत्ति में कितने हज़ार खर्च होते हैं। मोटर द्वारा आदमी कम समय में एक जगह से दूसरी जगह जा सकता है। तुम्हारे गाँव की उपज मोटर द्वारा बड़ी जल्दी से मंडी में पहुँचाई जा सकती है। मोटर की वजह से इक्के और बैल-गाड़ियां बेकार हो जाती हैं। हो सकता है कि उनके हाँकनेवाले भूखों मरने लगें।

मोहन—तभी तो चाचा देखो, जब हम आ रहे थे तो इक्केवाला माघ मेले में हमें लाने के लिए दस पैसे मांग रहा था और लारीवाला दो आने। लारी में ज़रूर कम ख़र्च पड़ता होगा।

इतने में एक ओर शोर-गुल सुनकर मोहन उस ओर देखने लगा। बहुत से मज़दूर एक हलवाई से झगड़ रहे थे। मोहन के चाचा तनिक रुक गये। एक मज़दूर उनसे कहने लगा—

देखें साहब, बँधवा से लाद लादकर तख्त लाये। कमर टूट गई और अब देते हैं दो-दो पैसा। आप तो करू तेल जलाय-जलाय कोठी खड़ी कर लिहिन और हम लोगन का पूरी मजूरी देत काँखत हैं। दुइ-दुइ आना का काम किया, तौन चारो-चार पैसा नहीं दिया जात। (हलवाई से): अरे लाला! कुछ तो हम गरीबन का ख्याल रक्खा करो, अपने पेट में भरे से कुछ न होई।

मोहन के चाचा ने हलवाई से कहा कि दे दीजिये साहब, इन्हें कुछ और दे दीजिए। सचमुच यहां से बांध काफ़ी दूर है। यह कहकर वे आगे बढ़ गये। आगे चलकर उन्होंने मोहन से कहा—

सुनो मोहन, अर्थशास्त्र में जिन बातों पर विचार किया जाता है उनमें हमारा दृष्टिकोण सामाजिक तथा सार्वभौमिक रहता है। अर्थशास्त्र का विद्वान् ऐसी-ऐसी बातों पर ही विचार करता है कि जिससे देश, समाज और समस्त संसार—समूचे विश्व—का कल्याण हो।

मोहन—तब तो अर्थशास्त्र में ऐसी बातों पर भी विचार होता होगा जिससे देश की गरीबी दूर हो जाय और भारतवासी सुखी हों।

चाचा—हां, तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। अर्थशास्त्र में ऐसी बातों पर भी विचार होता है। अर्थशास्त्र में कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र सभी का ध्यान रखा जाता है। परन्तु यदि किसी समय कुटुम्ब और समाज में विरोध हो तो अर्थशास्त्री समाज की भलाई को मुख्य स्थान देगा। समाज और राष्ट्र के हित-विरोध में राष्ट्र के हित को महत्व दिया जाता तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दानों में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रक्खा जाता है।

मोहन—ठीक, अब मैं समझ गया कि सार्वभौमिक दृष्टिकोण से आपका क्या मतलब है। तो आप कहना चाहते हैं कि अर्थशास्त्र में व्यक्तियों के उन प्रयत्नों के संबंध में विवेचन होता है जो विनिमय-साध्य वस्तुओं को प्राप्त और उपभोग करने के लिए होते हैं और विवेचन का दृष्टिकोण सामाजिक और सार्वभौमिक होता है।

चाचा—हां, यही बात है।

मोहन—पर यह तो बताइए कि अर्थशास्त्र का अध्ययन किस तरह किया जाता है। मेरा मतलब……।

चाचा—तुम्हारा मतलब शायद अर्थशास्त्र के विभागों से है। सुनो, तुमने कृषि-प्रदर्शिनी में तरह-तरह की खेती करने की मशीनें देखी थीं। वे सब अनाज की उत्पत्ति में मदद करती हैं। अर्थशास्त्र के एक विभाग में वस्तुओं की उत्पत्ति पर विचार किया जाता है। इसके अन्तर्गत हलवाई का जलेबियाँ बनाना, मज़दूरों का दूकान तैयार करना आदि, सभी कार्य, आ जाते हैं। अर्थशास्त्र के उपभोग विभाग में मनुष्य के खान-पान, रहन-सहन, आदि बातों पर विचार किया जाता है। तुमने जलेबियाँ खाई थीं। नहा-कर जब हम लौट रहे थे तो तुमने देखा था कि हलवाई की दूकान पर बैठे हुए कई लोग कचौड़ी और पूरी खा रहे थे। यह सब उपभोग के कार्य हैं। इन कार्यों का ही विवेचन उपभोग-विभाग में किया जाता है।

पर जलेबी खाने के पहले पैसे देकर लोगों ने उन्हें मोल लिया होगा। मैंने उस कपड़ेवाले की दूकान से भाव-ताव करके साढ़े तीन आने में अँगोछा मोल लिया था। और देखो, दोनों ओर दूकानों पर माघ मेला में यात्री तरह-तरह की वस्तुएँ मोल ले रहे हैं। अर्थात् अपने रुपये-पैसों का भिन्न-भिन्न वस्तुओं से विनिमय कर रहे हैं। अतः अर्थशास्त्र का तीसरा विभाग विनिमय के नाम से पुकारा जाता है।

मोहन—मज़दूर भी तो अपनी मेहनत का विनिमय मज़दूरी से करता है।

चाचा—हाँ, है तो वह भी एक प्रकार का विनिमय ही। परन्तु मज़दूरी पर विचार करना वितरण-विभाग का काम है।

इक्कों का अड्डा पास आजाने के कारण मोहन के चाचा ने शहर जाने के लिए एक इक्का किया। फिर इक्के पर से दाएँ हाथ के खेत मोहन को दिखाते हुए उन्होंने कहा—

देखो मोहन, ये हरे-भरे खेत हैं। इनको जोतने-बोनेवाला लगान देता है। गाँव में यह लगान ज़मींदार को दिया जाता है। लगान भी वितरण का एक अंग है। और तुम्हें याद है कि दूकानदार ने कहा था कि मुनाफ़े की कौड़ी नहीं आई। वह मुनाफ़ा इसीलिए माँगता था कि वह मथुरा जैसी

जगह से उस अँगोछे को ख़रीदकर लाया था। इसके अलावा दूकान के प्रबन्ध में उसके जो पैसे ख़र्च होते हैं वे भी तो निकलने चाहिए। इस मुनाफ़े और प्रबन्ध के व्यय पर भी वितरण में ही विचार किया जाता है।

इसी समय सड़क खाली होने की वजह से पीछेवाला इक्का मोहन के इक्के की बराबरी करने के इरादे से आगे बढ़ आया। दोनों इक्के साथ-साथ दौड़ने लगे। दूसरे इक्के में बैठे एक सज्जन से मोहन के चाचा ने 'जैराम' कहा। तब उस सज्जन ने मोहन के चाचा से पूछा—कहिए, फिर आपके मित्र ने कहाँ से कर्ज़ लिया?

चाचा—बाबू कैलाशचन्द्र जी के यहाँ से दिला दिया था। उन्होंने आठ आने सैकड़ा सूद तै किया है।

तेज़ होने के कारण दूसरा इक्का मोहन के इक्के से आगे निकल गया। तब चाचा ने कहा—तुम्हें मालूम नहीं है कि जब कोई क़र्ज लेता है तो क़र्ज पर महाजन हर महीने जो रक़म लेने का निश्चय करता है उसे सूद कहते हैं। उस दिन एक साहब ने कुछ रुपये उधार लिये हैं और यह तय किया है कि सौ रुपये पीछे आठ आने महीना सूद लिया जायगा। अतः सूद पूंजी के ऊपर लिया जाता है। यह भी वितरण में आता है।

मोहन—तो वितरण में लगान, मज़दूरी, सूद, मुनाफ़ा सभी पर विचार किया जाता है?

चाचा—हाँ, वितरण के अलावा अर्थशास्त्र का एक और विभाग है जिसे राजस्व के नाम से पुकारते हैं। इसमें बताया जाता है कि सरकार किस प्रकार देश का ख़र्च चलाती और किस तरह अपनी आमदनी प्राप्त करती है। राजस्व को लेकर इस प्रकार अर्थशास्त्र के पाँच विभाग हो जाते हैं। अर्थात् उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय, वितरण और राजस्व।

शहर पहुँचकर इक्का रुक गया। उसके पैसे चुकाकर चाचा-भतीजे घर चले। रास्ते में चाचा ने कहा—देखो, आज मैंने तुम्हें बातों-ही-बातों में अर्थशास्त्र के बारे में इतना बता दिया। अब यदि तुम चाहोगे तो किसी अन्य मौक़े पर तुम्हें अर्थ या धन का मतलब तथा अर्थशास्त्र के विभागों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझाऊँगा।

दूसरा अध्याय
अर्थ या धन क्या है ?

घर में माघ-मेले की बात हो रही थी। बात करनेवाले थे मोहन, उसकी माँ और चाची। चाची का कहना था कि इस बार माघ-मेला अच्छा नहीं है। मोहन कहता था—वाह चाची, इतना बड़ा मेला लगा हुआ है। नुमायश, तमाशा, कपड़े और खिलौने की दूकानें, साधू-महात्मा सभी तो हैं। और क्या चाहिए ?

मोहन की मां चुप थी; क्योंकि वह कई साल बाद इस बार माघ नहाने आयी थी। चाची मोहन को समझाती हुई बोली—तू पारसाल तो आया नहीं था। नहीं तो तू भी कहता कि इस बार मेला आठ आने भर भी नहीं है।

इतने में मोहन के चाचा घर में आये। मोहन को चाची के उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ था। उसने अपने चाचा से उस बात की पुष्टि कराने की सोची। पर बात-ही-बात में उसे अर्थशास्त्र की याद आ गयी। तब उसने कहा—चाचा जी, उस दिन आपने अर्थशास्त्र के बारे में कुछ और बताने को कहा था।

चाचा—हाँ, हाँ। अच्छा बताओ उस दिन तुम 'अर्थ' के बारे में क्या समझे थे।

मोहन—अर्थ के मतलब आपने शायद धन के बताये थे। तब तो घर, गाड़ी, घोड़ा, सोना, चाँदी आदि सबकी गणना धन के अन्तर्गत की जा सकती है।

चाचा—ठीक, हम लोग आमतौर पर धन से यही समझते हैं। जब हम

दो मनुष्यों की अमीरी का पता लगाना चाहते हैं तो इसी प्रकार की वस्तुओं की तुलना करके फ़ैसला करते हैं। यह तुलना रुपयों के ज़रिए होती है और अन्त में हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य लखपती या करोड़पति है। पर क्या तुम बता सकते हो कि इन वस्तुओं की गणना धन या सम्पत्ति में क्यों करते हैं?

मोहन—शायद आपका मतलब यह है कि चूँकि हम इन वस्तुओं को अपने पास रखते हैं, इसलिए आख़िरकार इनकी गिनती सम्पत्ति में होती है।

चाचा—ऐसा कहा तो जा सकता है। पर दर-असल सम्पत्ति के दो मुख्य गुण माने गये हैं। प्रथम यह कि सम्पत्ति द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है। द्वितीय सम्पत्ति कहलानेवाली वस्तु विनिमय-साध्य होती है, अर्थात् उसके बदले में अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं।

मोहन—तब तो ईश्वरीय देन की वस्तुएँ—जैसे हवा, पानी, लोहा, कोयला आदि-सम्पत्ति नहीं कही जा सकतीं। और चाचा जी आपने कहा कि सम्पत्ति आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती है। पर आवश्यकता-पूर्त्ति करनेवाली वस्तुओं को हम उपयोगी तथा सुखदायी भी कहते हैं। मेरा मतलब यह है कि सुख-दायी वस्तु उसी पदार्थ को कहते हैं जो हमारी आवश्यकता की पूर्त्ति करता है। चूँकि मित्रता, प्रेम, अच्छा स्वास्थ्य आदि भी सुखदायी होते हैं। इस-लिए ये भी सम्पत्ति हैं।

चाचा—तुम्हारा यह समझना ठीक नहीं है। पर इस बात को पूरी तौर से समझाने के लिए मैं तुम्हें पहले वस्तुओं के बारे में ज्ञान कराऊँगा। बात यह है कि अर्थशास्त्री आवश्यकता-पूर्त्ति करने के साधन को वस्तु के नाम से कहता है। इन वस्तुओं का कई प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ हम वस्तुओं को भौतिक तथा अभौतिक इन दो समूहों में शामिल कर सकते हैं। भौतिक वस्तुएँ वे हैं जिनको हम देख सकते हैं, छू सकते हैं या जिनको तौलने पर वज़न निकलता है—जैसे पानी, मिट्टी, मेज़, कपड़ा, गाय, बैल, रुपया-पैसा इत्यादि। अभौतिक वस्तुएँ जिनको हम देख नहीं [illegible]

नहीं होता। जैसे—स्वास्थ्य, प्रेम, ईमानदारी, किसी दूकान की प्रसिद्धि, पंडों की यजमानी इत्यादि।

हम वस्तुओं को बाह्य तथा आन्तरिक समूहों में भी बाँट सकते हैं। बाह्य वस्तुओं में उन पदार्थों की गणना की जाती है जो मनुष्य के भीतर नहीं हैं। उनका सम्बन्ध मनुष्य की भीतरी बातों से नहीं रहता। अतः खनिज-पदार्थ, वायु, प्रकाश, नदी, नाले, खेत, कारखाने, रेल, तार, भोजन, वस्त्र पेटेन्ट दवाइयाँ, कापीराइट, डाक्टर, पुलिस आदि की सेवाएं, दूकानों तथा कारखानों की 'प्रसिद्धि'—ये सब बाह्य वस्तुएँ कही जायँगी।

मोहन—और आन्तरिक वस्तुएँ वे हैं जिनका मनुष्य की भीतरी बातों से सम्बन्ध है।

चाचा—हाँ, स्वास्थ्य, कला, ज्ञान, दया, आनन्द प्राप्त करने की शक्ति, किसी पेशे में प्रवीणता; इन सबको हम आन्तरिक वस्तु कहते हैं। अच्छा मोहन, तुमने वस्तुओं का दो प्रकार का वर्गीकरण जान लिया। एक तो भौतिक और अभौतिक, दूसरा बाह्य और आन्तरिक। अब इन दोनों को मिलाकर हम चार भागों में बाँट सकते हैं। क्या तुम बता सकते हो कि ये चार विभाग कौन-कौन से हैं ?

मोहन—ठीक तो है। पहले वस्तुओं को भौतिक व अभौतिक समूह में बांटा। फिर प्रत्येक को बाह्य और आन्तरिक समूह में बांट दिया। इस तरह चार विभाग हो गये।

चाचा—पर क्या तुम भौतिक-आन्तरिक वस्तु का उदाहरण दे सकते हो ?

मोहन—हां-हां, जैसे प्रसिद्धि।

चाचा—ग़लत। प्रसिद्धि तो अभौतिक-बाह्य वस्तु है। किसी दूकान की प्रसिद्धि से तुम्हारा मतलब दूकान के उस 'नाम' से रहता है जिसके कारण उस के मालिकों के न रहने पर भी तुम उसी दूकान से माल ख़रीदते हो। इस प्रसिद्धि को मनुष्य स्वयं उत्पन्न करता है। इसको तुम छू नहीं सकते और न इसका कुछ वज़न ही हो सकता है। इसलिए यह अभौतिक है। फिर इसका सम्बन्ध मनुष्य की भीतरी बातों से तो रहता नहीं, वरन् यह तो

मोहन—क्या धन हमेशा मेहनत से ही प्राप्त होता है ?

चाचा—हां, बिना श्रम के धन प्राप्त नहीं हो सकता। किसी वस्तु का विनिमय-साध्य होने के लिए यह आवश्यक है कि उसको प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति ने श्रम अवश्य किया हो। हां, यह हो सकता है कि जिस मनुष्य के अधिकार में वह वस्तु हो, उसने स्वयं उसे प्राप्त करने के लिए श्रम न किया हो।

मोहन—क्यों चाचा, माघ-मेला जिस जगह लगा था वह जगह सरकारी धन या सम्पत्ति कही जाती है न ?

चाचा—हां, वह जगह सरकारी कही जाती है। दर-असल धन या सम्पत्ति को हम वैयक्तिक, सामाजिक व राष्ट्रीय भागों में भी बाँट सकते हैं।

वैयक्तिक सम्पत्ति में आनेवाली वस्तुएं बाह्य होती हैं। कोई भी आदमी अपने धन का हिसाब लगाते समय आन्तरिक वस्तुओं को, जैसे—स्वास्थ्य, हुनर, आदि को, नहीं गिनता। और यह ठीक भी है। केवल बाह्य वस्तुएं ही वैय-क्तिक सम्पति में आ सकती हैं।

मोहन—तब हुनर की गिनती कहाँ की जायगी ?

चाचा—इसकी गणना सामाजिक सम्पत्ति में की जायगी। तमाम वैयक्तिक संपत्ति भी सामाजिक सम्पत्ति के अंतर्गत आ जाती है। इसके अलावा नाना प्रकार के ऐसे मकान बाग-बग़ीचे जो किसी ख़ास व्यक्ति के अधिकार में नहीं हैं, सामाजिक सम्पत्ति में आ सकते हैं।

पर सामाजिक सम्पत्ति इतना महत्व नहीं रखती, जितना राष्ट्रीय सम्पत्ति। तुम देखते हो कि सरकार ने एक शहर से दूसरे शहर में जाने के लिए सड़कें बनवा दी हैं। जगह-जगह नदियों पर पुल बने हुए हैं। इन सब के बनाने में करोड़ों रुपये ख़र्च हो गये हैं। इन्हें तुम तो सम्पत्ति मानते हो, पर कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि यह मेरी सम्पत्ति है। केवल सरकार या राष्ट्र ही उसे अपनी बता सकता है। इसी प्रकार सार्वजनिक स्कूल, अस्पताल, अजा-यबघर, डाक, तार, रेल, नदी, नहर आदि सभी राष्ट्रीय सम्पत्ति कहलाते हैं।

मोहन—कोई मनुष्य अपनी सम्पत्ति का ब्योरा तो आसानी से बना लेता है, पर राष्ट्र की सम्पत्ति का ब्योरा बनाना बड़ा कठिन होता होगा।

में दूसरी वस्तु नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिए संसार में भौतिक-आन्तरिक विनिमय-साध्य और अभौतिक-आन्तरिक-विनिमय-साध्य वस्तुएं हो ही नहीं सकतीं। ऊपर बताये हुए वर्गीकरण में केवल दो भाग ही ऐसे रह जाते हैं जो विनिमय-साध्य हैं और जिनका विचार हमको करना चाहिये। अब मोहन, ज़रा यह बतलाओ कि वे दो वर्ग कौन से हैं ?

मोहन—मेरी समझ में वे वर्ग हैं भौतिक-बाह्य-विनिमय-साध्य तथा अभौतिक-बाह्य-विनिमय-साध्य।

चाचा—अच्छा, अब ज़रा अभौतिक-बाह्य विनिमय-साध्य वस्तुओं के उदाहरण दो।

मोहन—दूकान की प्रसिद्धि, सजगार्ता, कारीगरी।

चाचा—दो उदाहरण तो तुमने ठीक दिये। परन्तु कारीगरी का उदाहरण ग़लत दिया। कारीगरी तो बदले में दी ही नहीं जा सकती। हाँ, उस की सहायता से जो काम किया जाता है उसके बदले में पैसा अवश्य मिलता है। इसलिए सेवा विनिमय-साध्य वस्तु है न कि कारीगरी। दूसरी बात यह है कि कारीगरी अभौतिक अवश्य है; परन्तु वह आन्तरिक है, बाह्य नहीं। अब भौतिक-बाह्य-अविनिमय-साध्य वस्तुओं के उदाहरण दो।

मोहन—हवा, पानी, बरसात, नदी इत्यादि। ये वस्तुएँ प्रायः ऐसी हैं जो हमको प्रकृति से प्रचुर परिमाण में प्राप्त होती हैं, इसलिए ये उपयोगी होने पर भी विनिमय-साध्य नहीं हैं।

चाचा—तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। परन्तु कभी-कभी ये अविनिमय-साध्य वस्तुएं भी विशेष दशाओं में विनिमय-साध्य हो जाती हैं। साधारणतः हवा और पानी इतनी अपरिमित मात्रा में पाये जाते हैं कि उनका विनिमय नहीं होता। पर रेगिस्तानों में पानी बिकता है। इसी प्रकार कोयले आदि की खानों में हवा परिमित परिमाण में रहती है। और तब इसको प्राप्त करने के लिए रुपया ख़र्च करना पड़ता है। उस दशा में वह विनिमय-साध्य होती है। विनिमय-साध्य वस्तुओं को ही, चाहे वे भौतिक हों या अभौतिक, हम धन या अर्थ कहते हैं। इसलिए इस विशेष दशा में हवा और पानी भी धन माना जा सकता है।

अच्छे प्रबन्ध, उत्तम माल के कारण, अन्य मनुष्यों की सहायता का फल है। अतः यह बाह्य कहलाएगी।

मोहन—तब प्रसिद्धि अभौतिक-बाह्य वस्तु है। पर भौतिक-आन्तरिक वस्तु का उदाहरण क्या होगा ?

चाचा—तुम मनुष्य के शरीर या मस्तिष्क को शायद भौतिक आन्तरिक वस्तु कह सकते हो। अन्यथा सभी भौतिक वस्तुएं बाह्य होती हैं।

मोहन—क्यों चाचा, इन विभागों के अलावा भी और किसी रीति से वस्तुओं का विभाजन किया जाता है।

चाचा—एक और वर्गीकरण है जिसे जानना आवश्यक है। वस्तुओं को विनिमय-साध्य और अविनिमय-साध्य करके भी बांटा जा सकता है। वे वस्तुएँ विनिमय-साध्य कही जाती हैं जो दूसरे को दी जा सकती हैं। नदी, नाले, सड़क, रेल, भोजन, वस्त्र, पेटेन्ट दवाइयाँ, कम्पनी के हिस्से, नौकरों तथा श्रमजीवियों की सेवाएँ सभी विनिमय-साध्य हैं। अर्थात् सभी दूसरों को दी जा सकती हैं। पर माघ-मेले में तुम्हें जो आनन्द आया था वह अविनिमय-साध्य था। उसे तुम किसी दूसरे को नहीं दे सकते।

मोहन—तब किसी मनुष्य का स्वास्थ्य, किसी दूकान की प्रसिद्धि, किसी स्थान की जलवायु—ये भी अविनिमय-साध्य होंगी।

चाचा—मनुष्य का स्वास्थ्य और जलवायु तो विनिमय-साध्य नहीं हैं; परन्तु दूकान की प्रसिद्धि विनिमय-साध्य है। उसे दूकानदार किसी दूसरे आदमी को बेच सकता है। अब बताओ, वस्तुएँ कितने विभागों में बँट सकती हैं।

मोहन—चार विभाग तो आपने अभी-अभी बताये ही हैं। एक तो भौतिक-बाह्य, दूसरा भौतिक-आन्तरिक, तीसरा अभौतिक-बाह्य और चौथा अभौतिक आन्तरिक। हर एक को विनिमय-साध्य व अविनिमय-साध्य भागों में बांट दिया तो आठ भाग हो गये।

चाचा—ठीक है, परन्तु तुमको इन वर्गीकरण में एक बात का ध्यान रखना चाहिये। जो वस्तु आन्तरिक है वह चाहे भौतिक हो, चाहे अभौतिक, वह विनिमय-साध्य नहीं हो सकती। आन्तरिक होने के कारण उसके बदले

में दूसरी वस्तु नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिए संसार में भौतिक-आन्तरिक विनिमय-साध्य और अभौतिक-आन्तरिक-विनिमय-साध्य वस्तुएं हो ही नहीं सकतीं। ऊपर बताये हुए वर्गीकरण में केवल दो भाग ही ऐसे रह जाते हैं जो विनिमय-साध्य हैं और जिनका विचार हमको करना चाहिये। अब मोहन, ज़रा यह बतलाओ कि ये दो वर्ग कौन से हैं ?

मोहन—मेरी समझ में ये वर्ग हैं भौतिक-बाह्य-विनिमय-साध्य तथा अभौतिक-बाह्य-विनिमय-साध्य।

चाचा—अच्छा, अब ज़रा अभौतिक-बाह्य विनिमय-साध्य वस्तुओं के उदाहरण दो।

मोहन—दूकान की प्रसिद्धि, बजगारी, कारीगरी।

चाचा—दो उदाहरण तो तुमने ठीक दिये। परन्तु कारीगरी का उदाहरण ग़लत दिया। कारीगरी तो बदले में दी ही नहीं जा सकती। हाँ, उस की सहायता से जो काम किया जाता है उसके बदले में पैसा अवश्य मिलता है। इसलिए सेवा विनिमय-साध्य वस्तु है न कि कारीगरी। दूसरी बात यह है कि कारीगरी अभौतिक अवश्य है; परन्तु वह आन्तरिक है, बाह्य नहीं। अब भौतिक-बाह्य-अविनिमय-साध्य वस्तुओं के उदाहरण दो।

मोहन—हवा, पानी, बरसात, नदी इत्यादि। ये वस्तुएँ प्रायः ऐसी हैं जो हमको प्रकृति से प्रचुर परिमाण में प्राप्त होतीं हैं, इसलिए ये उपयोगी होने पर भी विनिमय-साध्य नहीं है।

चाचा—तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। परन्तु कभी-कभी ये अविनिमय-साध्य वस्तुएं भी विशेष दशाओं में विनिमय-साध्य हो जाती हैं। साधारणतः हवा और पानी इतनी अपरिमित मात्रा में पाये जाते हैं कि उनका विनिमय नहीं होता। पर रेगिस्तानों में पानी बिकता है। इसी प्रकार कोयले आदि की खानों में हवा परिमित परिमाण में रहती है। और तब इसको प्राप्त करने के लिए रुपया ख़र्च करना पड़ता है। उस दशा में वह विनिमय-साध्य होती है। विनिमय-साध्य वस्तुओं को ही, चाहे वे भौतिक हों या अभौतिक, हम धन या अर्थ कहते हैं। इसलिए इस विशेष दशा में हवा और पानी भी धन माना जा सकता है।

मोहन—क्या धन हमेशा मेहनत से ही प्राप्त होता है ?

चाचा—हां, बिना श्रम के धन प्राप्त नहीं हो सकता। किसी वस्तु का विनिमय-साध्य होने के लिए यह आवश्यक है कि उसको प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति ने श्रम अवश्य किया हो। हां, यह हो सकता है कि जिस मनुष्य के अधिकार में वह वस्तु हो, उसने स्वयं उसे प्राप्त करने के लिए श्रम न किया हो।

मोहन—क्यों चाचा, माघ-मेला जिस जगह लगा था वह जगह सरकारी धन या सम्पत्ति कही जाती है न ?

चाचा—हां, वह जगह सरकारी कही जाती है। दर-असल धन या सम्पत्ति को हम वैयक्तिक, सामाजिक व राष्ट्रीय भागों में भी बाँट सकते हैं।

वैयक्तिक सम्पत्ति में आनेवाली वस्तुएं बाह्य होती हैं। कोई भी आदमी अपने धन का हिसाब लगाते समय आन्तरिक वस्तुओं को, जैसे—स्वास्थ्य, हुनर, आदि को, नहीं गिनता। और यह ठीक भी है। केवल बाह्य वस्तुएं ही वैयक्तिक सम्पत्ति में आ सकती हैं।

मोहन—तब हुनर की गिनती कहां की जायगी ?

चाचा—इसकी गणना सामाजिक सम्पत्ति में की जायगी। तमाम वैयक्तिक संपत्ति भी सामाजिक सम्पत्ति के अंतर्गत आ जाती है। इसके अलावा नाना प्रकार के ऐसे मकान बाग-बगीचे जो किसी खास व्यक्ति के अधिकार में नहीं हैं, सामाजिक सम्पत्ति में आ सकते हैं।

पर सामाजिक सम्पत्ति इतना महत्व नहीं रखती, जितना राष्ट्रीय सम्पत्ति। तुम देखते हो कि सरकार ने एक शहर से दूसरे शहर में जाने के लिए सड़कें बनवा दी हैं। जगह-जगह नदियों पर पुल बने हुए हैं। इन सब के बनाने में करोड़ों रुपये खर्च हो गये हैं। इन्हें तुम तो सम्पत्ति मानते हो, पर कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि यह मेरी सम्पत्ति है। केवल सरकार या राष्ट्र ही इसे अपनी कह सकता है। इसी प्रकार सार्वजनिक स्कूल, अस्पताल, अजायबघर, डाक, तार, रेल, नदी, नहर आदि सभी राष्ट्रीय सम्पत्ति कहलाते हैं।

मोहन—कोई मनुष्य अपनी सम्पत्ति का ब्योरा तो आसानी से बना लेता है, पर राष्ट्र की सम्पत्ति का ब्योरा बनाना बड़ा कठिन होता होगा।

चाचा—हां, मान लो, तुम्हें अपने भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति निकालना है। ऐसी दशा में पहले तुम वैयक्तिक तथा सामाजिक सम्पत्ति की गणना करोगे। उसके बाद भारत-सरकार की सम्पत्ति की, प्रान्तीय सरकारों की, डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्डों की। यहाँ तक कि ग्राम-पंचायतों की सम्पत्ति की भी गणना करनी होगी। प्रान्तीय सरकार की सम्पत्ति में सड़कें और नदियों के पुल आदि आ जायँगे, इनमें प्रान्तीय सरकार की इमारतों की गणना आदि भी हो जायगी। म्युनिसिपैलटियों की सम्पत्ति में उनके लैम्प, नाले, पार्क, आदि की गिनती हो जायगी। लोकल व डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूल तथा दवाख़ाने आदि भी नहीं छूटेंगे। ग्राम-पंचायतों के कुएं, तालाब आदि के अलावा अन्य संस्थाओं—जैसे औषधालय, मन्दिर, मसजिद, सर्वसाधारण के स्कूल आदि की सम्पत्ति भी गिनी जायगी।

मोहन—सब शामिल-ही-शामिल करना है या कुछ निकालना भी ?

चाचा—नहीं, इसमें से वह रक़म घटा देनी पड़ेगी जो, भारतवर्ष में, अन्य देशों की लगी हुई है। अर्थात् जो दूसरों को देनी है।

मोहन—दूसरे देशों की सम्पत्ति यहाँ कैसे आयी ?

चाचा—दूसरे देश के बड़े-बड़े पूँजीपतियों ने आकर अपने धन से यहाँ कारबार फैला रखा है। फिर विदेशियों ने तुम्हारे यहाँ चलनेवाली कम्पनियों के हिस्से ख़रीद रखे हैं। इसी प्रकार दूसरे देशों की सम्पत्ति यहाँ आ गयी है।

मोहन—तब यहाँ की भी सम्पत्ति दूसरे देशों में लगी होगी। उसे भी जोड़ना पड़ेगा।

चाचा—और क्या।

मोहन—पर इसी प्रकार क्या अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति नहीं हो सकती ? मेरी समझ में तो समुद्र तथा समुद्री पदार्थ ऐसी वस्तुएं हैं जिन पर कोई राष्ट्र अपना अधिकार नहीं बतला सकता। इन्हें यदि अन्तर्राष्ट्रीय कहा जाय तो क्या बुराई है ?

चाचा—बुराई तो कोई नहीं है, पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति में क्या चीज़ नहीं आ जायगी ? इस पृथ्वी तथा इसके सब विनिमय-साध्य पदार्थों की गणना

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति में करनी पड़ेगी। अच्छा, अब यह तो बताओ कि सम्पत्ति के बारे में तुम क्या जान गये ?

मोहन— सम्पत्ति में वे वस्तुएं गिनी जाती हैं जो मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती हैं और जो विनिमय-साध्य होती हैं। सम्पत्ति वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय—तीन प्रकार की होती है। वैयक्तिक सम्पत्ति में आन्तरिक पदार्थों की गिनती नहीं की जाती है।

चाचा— ठीक है। तुम यह तो समझ गये कि धन या सम्पत्ति किसे कहते हैं। अब मैं तुम्हें अर्थशास्त्र के भागों का पारस्परिक सम्बन्ध फिर कभी बतलाऊँगा।

तब मोहन कहने लगा—लेकिन मैं कहाँ था और कहाँ आ पहुँचा। मूल बात तो रह ही गयी। चाची का कहना है कि इस बार माघ-मेला अच्छा नहीं है। पर मैं तो कोई खास कमी नहीं पाता। क्या पारसाल इससे भी बड़ा मेला लगा था ?

चाचा ने कहा—उसका कहना ठीक है। पारसाल का मेला कुम्भ का था। उसका माहात्म्य साधारण मेलों से बहुत अधिक है। इसीलिए वह बारह वर्ष में पड़ता है। एक बार जो लोग यहाँ मिल जाते हैं, वे प्रायः बात करते हुए कहा करते हैं कि बड़े भाग्य होंगे, अगर हम लोग, अगले कुम्भ के मेले में भी, इसी तरह यहाँ इकट्ठे होकर स्नान करने का पुण्य लूटेंगे।

तब मोहन मन-ही-मन सोचने लगा—वे लोग ठीक ही कहते हैं। बारह वर्षों में दुनियाँ कितनी बदल जाती होगी !
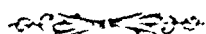
तीसरा अध्याय

अर्थशास्त्र के विभाग और उनका पारस्परिक सम्बन्ध

"चाची, भूख लगी है। अभी तक तुमने खाना नहीं तैयार किया।" घर में घुसते ही मोहन ने अपनी चाची से कहा।

"भूख लगी है? भोजन करेगा? अभी ले" कहकर चाची ने तेज़ी से बटलोई चूल्हे पर रक्खी। इसी समय मोहन के चाचा ने भी प्रवेश किया। मोहन का मुख, चौके की हालत तथा समय ने तुरन्त बता दिया कि इस समय लड़के को भूख सता रही है। कुछ सोचकर वे बोले—क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी भूख की तृप्ति के लिए किसी किसान ने खेती की होगी?

मोहन—मेरी भूख के लिए किसान ने खेती की होगी? क्यों? किसान खेती करता है; क्योंकि उसे अपना व अपने परिवार का पालन-पोषण करना पड़ता है।

चाचा—पर वह सारी उपज स्वयं नहीं रख लेता। उसमें से कुछ भाग तो उसे कुम्हार, धोबी, मज़दूर आदि को दे देना पड़ता है, जिन्होंने उसे तरह-तरह से मदद की थी। शेष उपज से थोड़ा-सा घर के ख़र्च के लिए रख लिया जाता है। बाक़ी भाग को व्यापारी के हाथ बेच देते हैं।

मोहन—बेचें न तो ज़मींदार का लगान चुकाने के लिए रुपया कहाँ से आये।

चाचा—महाजन का सूद भी तो देना रहता है। फिर उसे पास के शहर से या पास में लगनेवाले मेले से कपड़ा वग़ैरह ख़रीदना रहता है।

मोहन—पर किसान अपनी उत्पत्ति करता है अपने उपभोग के लिये ही।

दूसरी बात है कि वह उपज का कुछ हिस्सा वितरण कर देता है और कुछ बेंच देता है, ताकि वह कुछ अन्य आवश्यक वस्तुएं भी ख़रीद सके और न तथा सूद आदि दे सके।

चाचा—और सुनो, अर्थशास्त्र के ऐसे ही मामूली पाँच भाग किये हैं।

मोहन—कौन से ?

चाचा—उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व।

मोहन ने एक बार स्वयं भी पाँचो भागों के नाम दोहराये। फिर बोला कि और तो सब मेरी समझ में आते हैं; पर राजस्व क्या बला है यह नहीं समझ सका।

चाचा—अभी बताता हूं। पर पहले मैं यह तो जान लूँ कि बाक़ी चार तुम क्या समझे। अच्छा बोलो, उपभोग कब होता है ?

मोहन—जब हम कोई वस्तु खाते या ख़र्च करते हैं तब उस वस्तु का भोग करते हैं। देखिए, चूल्हे में लकड़ी जल रही है। उसका उपभोग हो रहा है। और मैं अभी खाना खाऊँगा।

चाचा—तुम्हारा मतलब यह है कि किसी प्रकार किसी वस्तु के रूप में बदल दो या कोई वस्तु नष्ट हो, तो उसे उपभोग कहेंगे।

मोहन—मैं तो यही समझता हूं।

चाचा—तब तुम आजकल के कुछ [illegible] से कम नहीं होगे। चाहे चाची दूध को [illegible] पिला दे और चाहे उसे चूल्हे में [illegible], तुम्हारे विचारों को मान लेने से दोनों कार्य उपभोग ही कहे जायँगे।

मोहन—और क्या, दोनों दशाओं में दूध ख़र्च हो जायगा। फिर उससे [illegible] नहीं उठा सकते। [illegible] कि वह चूल्हे के पेट में [illegible]। (चाची से) ओ चाची! [illegible], न तो बहुत धीरे-धीरे [illegible]।

[illegible]

[illegible] उपभोग के लिए, एक [illegible] उपभोग [illegible] वस्तु से किसी व्यक्ति की

तृप्ति या संतुष्टि प्राप्त होनी चाहिए। जब तुम पूरी खाते हो, तब तुम्हारी भूख मिटती है और तुम्हें तृप्ति होती है। पर उसे आग में जला देने से तो ऐसा नहीं होता।

अब तक चाची ने अग्नि के लिए टिकिया तैयार कर ली थी। वह उसके टुकड़े करके अग्नि में डाल रही थी। उसी समय उसने पुकारा—चलो मोहन।

मोहन ने ज्यों ही उसे अग्नि में पूरी के टुकड़े डालते देखा, त्यों ही उसने चाचा से कहा--

देखिये, देखिये। अब इस तरह पूरी जलाने से चाची को सन्तोष होता है कि नहीं? अगर नहीं होता है तो उसे वह चूल्हे में क्यों जला रही है?

चाचा—वह तो पूजा कर रही है। और फिर मैं तो तुम्हें बता रहा हूँ कि अर्थशास्त्री उपभोग का क्या अर्थ लगाते हैं। उनके अनुसार तुम्हारी टिकिया का व चूल्हे की लकड़ी का जलना ये सब उपभोग के नाम से नहीं पुकारे जा सकते।

कारखानों में इतना कोयला-पानी खर्च होता है। मशीनें धीरे-धीरे घिस जाती हैं। तुम इसको भी उपभोग कह दोगे। पर अर्थशास्त्र में इसे उपभोग नहीं कहते। इससे वस्तुएं तैयार होती हैं। उनसे अंत में मनुष्यों की तृप्ति अवश्य होगी। पर कोयले के जलने और मशीनों के घिसने से किसी व्यक्ति को तुरन्त सन्तुष्टि नहीं होती। यह तो उत्पत्ति के कार्य हैं।

मोहन—अच्छा चाचा जी, मैं ही ग़लत होऊँगा। अब मुझे यह बतलाइये कि उपभोग-विभाग में किन बातों पर विचार किया जाता है। यही न कि हम कैसे खाते-पीते हैं?

चाचा—हाँ, यह बताया जाता है कि किस प्रकार अथवा क्यों, मनुष्य किसी पदार्थ की कोई मात्रा खाता है? उसके विभिन्न पदार्थों के उपभोग से उसे व उसके देश को हानि पहुँचती है या लाभ? जैसे तुम जानते हो कि तुम्हारे गाँव में ताड़ी अधिक पी जाती है। इससे पीनेवाले का स्वास्थ्य तो ख़राब होता ही है, पर देश को भी तो हानि पहुँचती है।

इसके साथ ही इस बात पर भी विचार किया जाता है कि पारिवारिक आय-व्यय कैसे होता है और कैसे होना चाहिए, और यह कि किस प्रकार

हम अपने रहन-सहन का दर्जा ऊँचा कर सकते हैं—कहाँ तक इसे ऊँचा-नीचा होना चाहिए, इत्यादि।

इतने में चौके से चाची फिर बोलीं—अभी तो भूख सता रही थी। अब वह भाग गई क्या ?

मोहन—आया चाची। राजस्व के बारे में और जान लूँ।

चाचा—जाओ, खाना खाओ, फिर तुम मुझसे यह बताओ कि उत्पत्ति विनिमय व वितरण से तुम क्या समझते हो। तब मैं तुम्हें राजस्व के बारे में बताऊँगा।

खाना खाकर मोहन ने चाचा को जा घेरा।

मोहन—बताऊँ चाचा, उत्पत्ति के क्या मतलब होते हैं ?

चाचा—हाँ, बताओ।

मोहन—किसी वस्तु को उगाने, बनाने, तैयार करने या अधिक उपयोगी करने को ही उत्पत्ति कहते हैं।

चाचा—पर क्या सचमुच तुम किसी वस्तु को उत्पन्न करते हो ? प्रत्येक वस्तु तो स्वयं ही हाज़िर रहती है। माघ-मेले में हलवाई के पास आटा, घी, कड़ाही, बेलन, लकड़ी सब तो थी। उसने बनाई तो कोई चीज़ नहीं। उसने कचौड़ी तैयार करने के लिए इनमें से कुछ की सहायता ली और कुछ को ख़र्च किया। बस, कचौड़ियाँ तैयार हो गईं। भला आज तक क्या किसी ने सर्वथा नया पदार्थ बनाया है ? न तो पदार्थ ही बनाया जा सकता है और न किसी पदार्थ का नाश ही किया जा सकता है। चूल्हे में जो लकड़ी जलती है क्या उसका नाश होता है ?

मोहन—क्यों नहीं, केवल यह बात है कि उसके जल जाने पर थोड़ी सी राख रह जाती है। नाश नहीं होता तो क्या होता है ? कहाँ पसेरी-भर की लकड़ी और [illegible], तो [illegible] पाव-भर होती। आपही बताइये कि बाकी [illegible] कहाँ चला जाता है ?

चाचा—[illegible]

[illegible]

[illegible]

मोहन बाहर गया। थोड़ी देर में वह हाथ में एक छोटा-सा कोट लेकर अन्दर आया। इस कोट को चाची ने मोहन के डेढ़ साल के भाई के लिए बनवाया था। कोट को देखकर मोहन के चाचा कहने लगे—देखो हम कहते हैं कि इस कोट को दर्ज़ी ने बनाया। पर दर्ज़ी ने कोई नयी चीज़ नहीं पैदा की। उसे जो कपड़ा दिया गया था उसी को काँट-छाँट कर, इधर-उधर जोड़कर उसने उसे कोट का रूप दे दिया। इसी प्रकार जिस मशीन में यह कपड़ा बुना गया था वहाँ भी सूत पहले से ही तैयार था। सूत रुई से काता गया रुई कपास को ओटने से मिली।

मोहन—पर कपास तो किसान ने पैदा की। यह तो नयी चीज़ बनी।

चाचा—नहीं नहीं। किसान ने भी बिनौले, खाद, पानी का उपयोग किया और वायु, उसके श्रम आदि की सहायता से बिनौलों ने कपास का रूप धारण किया।

मोहन—तब फिर कोई व्यक्ति उत्पत्ति नहीं कर सकता। फिर अर्थशास्त्र में उत्पत्ति के अध्ययन की क्या आवश्यकता है?

चाचा—अर्थशास्त्र में उत्पत्ति का यह मतलब तो नहीं लगाया जाता। वहाँ उत्पत्ति की परिभाषा कुछ और ही है। मैंने इस कोट के बारे में बताया कि प्रत्येक व्यक्ति ने कोई वस्तु उठाई और उसके रूप को बदल दिया। उनके उन कामों के कारण धीरे-धीरे कपास और काम की होती गयी। यहाँ तक कि अब इस कोट को तुम्हारा भाई पहन सकता है। यदि इसकी जगह इतनी ही कपास रख दी जाय तो वह तुम्हारे भाई तथा दर्ज़ी किसी के काम की वस्तु न होगी। कहने का मतलब यह कि प्रत्येक व्यक्ति ने कपास को क्रमशः अधिक उपयोगी बनाया। किसान ने बिनौलों को, कपास ओटनेवाले ने कपास को, कातनेवाली मशीन ने रुई को, बुनाई ने सूत को और दर्ज़ी ने कपड़े को अधिक उपयोगिता दे दी। आर्थिक दृष्टि से कपास, रुई, सूत, तथा कपड़े का मूल्य बढ़ता गया। यही उपयोगिता या मूल्य-वृद्धि अर्थशास्त्र में 'धनोत्पत्ति' के नाम से पुकारी जाती है।

मोहन—समझ गया। पर यह तो बताइए कि यह उपयोगिता-वृद्धि कैसे और किन लोगों की मदद से की जाती है।

चाचा—यह तो मैं फिर तुम्हें कभी बताऊँगा। हां, यह समझने में कोई हर्ज़ नहीं है कि उत्पत्ति में पांच साधनों से सहायता लेनी पड़ती है—भूमि, श्रम, पूँजी, व्यवस्था और साहस। मोटे तौर पर इस कोट के तैयार करने में किसान को भूमि का उपयोग करना पड़ा होगा। उसने तथा अन्य सभी लोगों ने परिश्रम भी किया था। कोट के तैयार करने और ख़ासकर मिल में कपड़े तैयार करने के लिए मिल-मालिक को पूँजी लगानी पड़ी होगी। फिर पढ़े-लिखे मैनेजरों ने मिल की व्यवस्था की होगी। और मिल-मालिक, ओटनेवाला व किसान सभी ने साहस से काम लिया होगा। किसान ने सोचा होगा कि कपास पैदा होने व ओट लिए जाने पर मिल-मालिक उसे मोल लेगा। मान लो, मिल-मालिक उसकी कपास मोल न लेता। तब किसान का सारा श्रम बेकार जाता न? अतः किसान ने साहस किया। मिलवाले ने भी साहस करके यह सोचा कि बाज़ार में कपड़ा अवश्य बिक जायगा।

मोहन—तब क्या भूमि के अन्तर्गत खेत ही लिए जाते हैं?

चाचा—नहीं, भूमि में यह विचार किया जाता है कि देश की प्राकृतिक शक्ति कितनी है। जलवायु, वर्षा, पहाड़, जंगल, नदी-नाले और खान, सभी भूमि हैं। और अर्थशास्त्री इस बात का विवेचन करता है कि ये उत्पत्ति के काम में कहाँ तक लाये जा सकते अथवा लाये जा रहे हैं।

इसी प्रकार श्रम के सम्बन्ध में देश की जन-संख्या, उसके काम करने की शक्ति अर्थात् कार्यक्षमता, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कुशलता के ऊपर देश की धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक आदि स्थितियों का क्या प्रभाव पड़ता है, इन सभी बातों पर विचार किया जाता है। पूँजी में रुपया-पैसा मशीन, औज़ार, मिल की इमारत, [illegible] सभी शामिल रहते हैं और अर्थशास्त्री बताता है कि किस प्रकार पूँजी की वृद्धि की जाय।

मोहन—व्यवस्था तो काफ़ी व्यापक शब्द है। व्यवस्था में मैनेजर यह [illegible] कि किस प्रकार काम किया जाय। मशीन से काम लें या [illegible]।

चाचा—[illegible], अर्थशास्त्र बताता है कि किस प्रकार भूमि, श्रम व पूँजी

की कार्य-क्षमता बढ़ाई जा सकती है। अच्छा अब तुम बताओ कि विनिमय से तुम क्या समझते थे?

मोहन—चीज़ों की ख़रीद-फ़रोख्त को ही विनिमय कहा जाता है। बहुत होता होगा, विनिमय में इस बात पर विचार किया जाता होगा कि लोग किस प्रकार ख़रीद-फ़रोख्त करते हैं अथवा वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार से होता है।

चाचा—तुम्हारा सोचना बहुत कुछ ठीक है। पर विनिमय के असली माने हैं किसी वस्तु को देकर दूसरी वस्तु ले लेना। पहले ज़माने में रुपया-पैसा कम था। तब लोग ऐसा ही करते थे।

मोहन—ऐसा विनिमय तो अब भी मेरे गाँव में होता है। धोबी को अनाज देकर कपड़े धुलाते हैं। किसान अक्सर गेहूँ-चना देकर बढ़ई से हल बनवा लेते हैं। मज़दूरों को भी अधिकतर अनाज के रूप में ही मज़दूरी दी जाती है।

चाचा—पर ऐसे विनिमय में सुभीता नहीं होता। मान लो, तुम्हें अपना बैल निकालकर बकरियाँ मोल लेनी हैं। अब यह तभी हो सकता है कि कोई बकरी बेचनेवाला बैल को लेने को तैयार हो। इसीलिए आजकल रुपया-पैसा चल गया है। रुपये-पैसे को अर्थशास्त्र में मुद्रा कहते हैं। मुद्रा सरकार द्वारा बनाई जाती है। बैंक मुद्रा का कारोबार करती हैं। मुद्रा के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री यह विचार करता है कि यह कैसी और कितनी होनी चाहिए; किसी देश की मुद्रा का विदेश की मुद्राओं से किस प्रकार अदल बदल होना चाहिये; काग़ज़ी नोट चलाने चाहिए या नहीं और यह कि उनके चलाने में क्या-क्या होशियारी रखनी चाहिए। साथ-ही-साथ विनिमय में यह भी बताया जाता है कि किस तरह किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्त्ति पर निर्भर रहता है। विनिमय में ही देशी व विदेशी व्यापारों पर भी यह विचार किया जाता है कि किन वस्तुओं का कितना व्यापार होता है, उसमें क्या-क्या बाधाएँ आ सकती हैं, उनको किस प्रकार दूर किया जाय। ये सभी बातें व्यापार में आ जाती हैं। अच्छा, अब बचा वितरण। बताओ इसमें क्या होता है?

मोहन—इसे आपही बताइए। मैं इसे भी ठीक नहीं समझता।

चाचा—तुमने तो केवल राजस्व के बारे में मुझसे कहा था। बहुत नहीं

कुछ तो वितरण के बारे में बताओ।

मोहन—मेरी समझ में जिस प्रकार किसान अपनी उपज का बहुत-सा भाग ज़मींदार, महाजन, धोबी, तथा मज़दूर आदि को दे देता है उसी के सम्बन्ध में कुछ विचार करना वितरण का अध्ययन करना कहलाता होगा।

चाचा—ठीक तो है। मैंने तुम्हें बताया है कि उत्पत्ति-कार्य में पाँच साधनों का उपयोग किया जाता है।

मोहन—जी हाँ, भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था और साहस।

चाचा—तो इन पांचों के मालिकों को अपने काम के लिए कुछ मिलना चाहिए। भूमि के मालिक को जो हिस्सा मिलता है उसे लगान कहते हैं। मज़दूर मज़दूरी लेता है, पूंजीपतियों को सूद मिलता है और व्यवस्थापक को प्रबन्ध की तनख़्वाह। साहस का प्रतिफल मुनाफ़ा कहलाता है।

मोहन—तब खेती करनेवाला किसान मज़दूरी पाता है।

चाचा—किसान को मज़दूरी, व्यवस्था की तनख़्वाह, साहस का प्रतिफल मुनाफ़ा सभी कुछ मिलता है। बात यह है कि यह ज़रूरी नहीं है कि एक व्यक्ति को एक ही साधन का प्रतिफल मिले। हो सकता है कि वह कई साधनों का मालिक हो। गाँव का बढ़ई अपने ही औज़ारों से लकड़ी छील व काटकर जो वस्तुएँ बनाता है उनमें वही श्रम, व्यवस्था, पूंजी व साहस का मालिक है। लगान मज़दूरी, सूद तथा मुनाफ़ा सब उसी को मिल जाता है।

मोहन—तब क्या यह नहीं हो सकता कि एक व्यक्ति को एक साधन का पूरा प्रतिफल न मिले ?

चाचा—हाँ-हाँ, हो सकता है कि पूरा प्रतिफल कई व्यक्तियों को मिले। देखो न, मिलों में एक मज़दूर तो काम करता नहीं। बहुत से मज़दूरों को मिलाकर श्रम का प्रतिफल मिलता है।

मोहन—जो मिलों में [illegible] होकर मिलता है उनमें [illegible] [illegible] बँट जाती है।

चाचा—[illegible] तो कुछ मिलों में [illegible] हो जाय। [illegible] है। [illegible]

है। इन नई मशीनों का दाम कहां से आवे? मान लो, तुम कोई मशीन किसी पूँजीपति से माँग ले आये। तुम पूँजीपति को इसके बदले सूद दोगे। पर इसके यह मतलब नहीं कि तुम मशीन को तोड़-फोड़ सकते हो। यदि तुम ऐसा करोगे तो पूंजीपति तुम से मशीन का दाम भी वसूल करेगा। इसी तरह मिल की मशीनों व इमारतों में साल-दर-साल घिसावट व मरम्मत के कारण जो हानि होती है वह बिक्री द्वारा आई रक़म में से ही निकाली जाती है। इसके बाद जो रक़म बच जाती है उसका पाँचों साधनों में बटवारा कर दिया जाता है।

मोहन—समझ गया, वितरण में यह विचार किया जाता होगा कि इन साधनों में से प्रत्येक को कितना मिले। कहीं किसी साधन के मालिक को अधिक भाग तो नहीं मिल रहा है।

चाचा—ठीक। साथ ही यह भी ख़्याल रखना पड़ता है कि देश के अन्दर धन का विषम-वितरण न होने पावे, वरना जिन्हें कम हिस्सा मिलेगा उनकी हालत बिगड़ने का डर रहेगा। हो सकता है कि वे झगड़ा-फ़साद आरम्भ कर दें। इससे देश को हानि ही पहुँचेगी।

अच्छा, अब मैं तुम्हें राजस्व के बारे में बताता हूँ। अब तक मैंने तुम्हें उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय, वितरण आदि के सम्बन्ध में बताया है। पर यह सब कार्य तभी चल सकते हैं जब देश में शान्ति हो। यह काम सरकार द्वारा ही किया जा सकता है। पर सरकार को अपना काम चलाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। इसे जनता से ही लिया जाता है।

मोहन—पर द्रव्य तो सरकार जितना चाहे उतना बना सकती है। जनता से लेने की क्या ज़रूरत?

चाचा—द्रव्य बनाने में भी ख़र्च पड़ता है। द्रव्य कौन बनावे? भारत-सरकार का काम अधिकतर भारतीय ही तो करते हैं। इन काम करने वालों को क्या पड़ी है कि वे खानों को खोद-खोदकर धातु निकालें और उससे मुद्रा की ढलाई करें। फिर सरकार से सभी को अपने-अपने कामों में सहायता मिलती है। अतएव सभी को सरकारी काम में कुछ-न-कुछ हिस्सा बँटाना चाहिए। हिस्सा बँटाने का सबसे सरल ढंग यही है कि प्रजा से

टैक्स के रूप में आयका कुछ भाग ले लिया जाय। सरकार के आय और ख़र्च का विवेचन राजस्व के अन्तर्गत किया जाता है। अर्थशास्त्री यह विचार करते हैं कि केन्द्रीय या सूबे की सरकारों अथवा म्युनिसिपैलिटी या डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड वग़ैरह किस-किस तरह के टैक्सो द्वारा आय प्राप्त करते हैं तथा वह आय कैसे ख़र्च की जाती है। यह भी विचार किया जाता है कि इनसे जनता की भलाई होती है या नहीं और होती है तो कितनी।

पर यह तो बताओ मोहन, क्या तुम इन पांचों भागों को एक दूसरे से स्वतन्त्र समझते हो?

मोहन—स्वतन्त्र तो नहीं समझता। जैसे उपभोग के लिए ही उत्पत्ति की जाती है। उपभोग में आसानी हो, इसीलिए लोग वस्तुओं की ख़रीद-फ़रोख्त करते हैं। विनिमय के कारण ही मुद्रा के माध्यम का लाभ उठाकर वितरण भली भाँति हो जाता है। नहीं तो बड़ी मुश्किल पड़े। यदि कहीं किसी खान से कोयला निकाला जाता हो तो साधनों के प्रत्येक मालिक को मुद्रा के अभाव में कोयला ही मिले। और यदि सरकार न हो तो ये सब काम बन्द हो जाँय। अतः राजस्व विभाग अनिवार्य है।

चाचा—शाबाश! मोहन तुम बड़े होशियार लड़के हो। पर तुमने यह नहीं बताया कि राजस्व भी उत्पत्ति आदि कार्यों पर निर्भर है या नहीं।

मोहन—क्यों नहीं, यदि उत्पत्ति न हो तो सरकार क्या लेगी। इसी प्रकार मुद्रा के अभाव में वितरण के भागी अगर कोयला पायेंगे तो सरकार को टैक्स में कोयला ही दे देंगे। इससे सरकार के कार्य में बड़ी बाधा पड़ जायगी।

चाचा—इसी तरह तुम कह सकते हो कि उत्पत्ति नहीं तो वितरण या विनिमय और वितरण के अभाव में उपभोग में भी बड़ी अड़चन पड़े। इसी तरह पांचों विभागों में पारस्परिक सम्बन्ध बताया जा सकता है।

मोहन—जी, हाँ।

चाचा—आज मैंने तुम्हें अर्थशास्त्र के विभागों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान करा दिया। अब किसी दिन मैं तुम्हें अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से सम्बन्ध या उसके महत्त्व के बारे में कुछ बातें बताऊँगा।
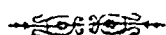
चौथा अध्याय

अर्थशास्त्र का महत्व

"चलो भाई, कौन-कौन पैसा लेगा ?" मोहन के चाचा पूरा कह भी नहीं पाये थे कि श्याम, सोहन तथा ललिता तीनों उनकी ओर दौड़ पड़े।

"पहले हम, पहले हम" श्याम दौड़ता हुआ चिल्लाया।

"नहीं चाचा, पहले हमको" सोहन बोला। ललिता भी बोल उठी।

"बाबू, मेरी गुड़िया भूखी है। हमें पहले पैसा दो।"

"नहीं, पहले सोहन को पैसा देना चाहिए, वह इतनी दूर से माघ नहाने आया है"—कहते हुए मोहन के चाचा ने सोहन को एक पैसा दिया। इसके बाद अपने दोनों बच्चों को भी एक-एक पैसा दिया। इतने में ललिता का पैसा गिर पड़ा। उसे सोहन ने दौड़कर उठा लिया।

"एँ, हमारा पैसा, हमारा पैसा।"

"तुम्हारा कहाँ से आया ? हमने तो ज़मीन में पड़ा पाया।" सोहन ने इतराकर जवाब दिया।

"हाँ, अभी बाबू ने मुझे दिया था।" कहकर ललिता सोहन से पैसा छीनने लगी। जब सफल न हुई तो रोने लगी। तब मोहन के चाचा ने कहा—रोती क्यों है ? मिल जाता है पैसा। सोहन तो हँसी कर रहा है। दे दो बेटा इसका पैसा। यह हमेशा ही रोती है। अभी घर को सिर पर उठा लेगी।

"लो अपना पैसा" कहते हुए सोहन ने पैसे को ज़मीन पर फेंक दिया और फिर "रोनी है, रोनी है" कहकर हँसता-कूदता घर के बाहर निकल गया।

जाते-जाते उसने अपने भाई मोहन की आवाज़ सुनी। वह कह रहा था—क्यों सोहन? तुम दिन पर दिन ऊधमी होते जाते हो।

मोहन ने सीढ़ी से उतरते हुए यह कहा था।

इसपर उसके चाचा बोले—सभी बच्चे ऐसे होते हैं। तू भी जब छोटा था तो ऐसा ही करता था। यह सब पैसे की माया है। पैसे को लड़के भी पहचानते हैं। पैसे के लिए सब मरते हैं। ज़रा बाज़ार में जाकर चार पैसे हवा में लुटा दो। 'फिर देखो कितने लोग उसे लूटने के लिए दौड़ पड़ते हैं। धक्कम-धक्का, मारपीट, गाली-गलौज सब हो जायगा।

मोहन—जी हाँ, धन न हो तो सब संकट मिट जाय। धन के लिए ही बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ होती हैं। देखिये न, दारा, सिकन्दर, शकों और तुर्कों ने हज़ारों मील चलकर भारत पर चढ़ाई की, तो धन के लिए। महमूद ने अट्ठारह बार आक्रमण किये तो धन के लिए, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में योरोप में संग्राम हुए तो धन के लिए। इंगलैंड और जर्मनी में जो आजकल खटपट है वह भी धन के लिए। भारत को अंग्रेज़ों ने दबा रक्खा है तो धन के लिए। पिता-पुत्र, राजा-मंत्री, बन्धु और सम्बन्धी एक दूसरे से लड़ते, झगड़ते, मिलते और अलग होते हैं तो धन के लिए। सचमुच यदि धन न हो तो दुनियाँ से दुख, लड़ाई तथा पराधीनता सब दूर हो जाय।

चाचा—पर धन तो तभी दूर होगा जिस दिन प्रलय होगी। धन इतनी हानि नहीं पहुँचाता जितनी धन पाने की लालसा। धन या अर्थ का महत्व सब लोग समझते हैं। देखो न, बच्चे भी पैसे के लिए दौड़ पड़े और आपस में लड़ने लगे।

मोहन—ठीक, यदि लोग पैसे की इच्छा दूर कर दें तो सुख और शान्ति स्थापित हो जाय।

चाचा—नहीं, यह भी कहना ठीक नहीं। धन की इच्छा करना बुरा नहीं है। अर्थ की आवश्यकता सब को रखनी चाहिए और रखते ही हैं। पर वे उसके शास्त्र को नहीं जानते। अर्थ का महत्व सब पहचानते हैं, पर अर्थ-शास्त्र का महत्व बहुत कम लोग जानते हैं। महत्व से अनभिज्ञ होने के कारण वे उसका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते। और अर्थशास्त्र के ज्ञान

विना देश धनवान नहीं हो सकता।

मोहन—मैंने सुना है, थोड़े वर्षों से ही अर्थशास्त्र का जन्म हुआ है। उसके पहले लोगों को पैसा कहाँ से मिलता था?

चाचा—क्या कहा? थोड़े वर्षों से ही अर्थशास्त्र का जन्म हुआ है? यह तुम्हें कैसे मालूम? अभी कुछ दिनों से तो मैंने तुम्हें इसके बारे में मामूली बातें बताई हैं। यह तो मैंने अभी तुम्हें बताया ही नहीं कि अर्थशास्त्र की विद्या कितनी पुरानी है।

मोहन—क्या बहुत पुरानी है?

चाचा—हाँ, बहुत पुरानी। तुमने इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य्य और चाणक्य का नाम पढ़ा है न?

मोहन—हाँ-हाँ, चाणक्य ने जटा खोलकर नन्द राजाओं को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी। फिर उसने सबको मारकर चन्द्रगुप्त को राजा बनाया था।

चाचा—ठीक, पर अर्थशास्त्र उससे भी पुराना है। पहले यह धार्मिक ग्रन्थों का एक अंग रहता था। अपने यहाँ जो चार उपवेद हैं उनमें से अर्थवेद में अर्थ-सम्बन्धी बातों का ही विचार किया जाता है। भारत में प्राचीन आर्य इस शास्त्र की यह परिभाषा देते हैं कि भूमि, धन आदि के विषय में ज्ञान करानेवाला शास्त्र अर्थ-शास्त्र है। विष्णु-पुराण में सर्वशिक्षित समाज के लिए जिन अठारह विद्याओं का नाम दिया गया है उनमें अर्थशास्त्र भी है।

मोहन—पर यह तो बताइये कि चाणक्य ने क्या किया?

चाचा—चाणक्य दरअसल नीतिशास्त्री था। पर उसके नीतिशास्त्र में अर्थशास्त्र भी सम्मिलित था। चाणक्य का असली नाम कौटिल्य था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्रसिद्ध है। उसमें उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा राजस्व सभी बातों का विवेचन किया गया है। साथ ही वह ग्रन्थ राजनीति से भी भरा हुआ है।

मोहन—क्या चाणक्य ही ऐसा हुआ है जिसने नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र को एक साथ रखा है?

चाचा—नहीं, शुक्र-नीति में भी अर्थशास्त्र की बातों की व्याख्या है।

मोहन—तब तो सचमुच अर्थशास्त्र बड़ा पुराना शास्त्र है। मैं तो समझता था कि यह केवल सौ दो सौ वर्ष पुराना है।

चाचा—तभी तो मैं कहता हूँ कि प्राचीन समय में अर्थशास्त्र का महत्व सब को मालूम था। पर आज दिन तो हम अर्थशास्त्र का महत्व समझते नहीं। केवल अर्थ का महत्व जानते हैं। और जब शास्त्र का ज्ञान न होगा तो अर्थ कैसे प्राप्त हो सकता है? इस शास्त्र के ज्ञान का अभाव ही भारतवासियों की ग़रीबी का एक प्रधान कारण है।

मोहन—अच्छा बताइए तो अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने से ब्राह्मणों का क्या लाभ होगा?

चाचा—वाह! आजकल के ब्राह्मण यही तो भूल गये हैं। वे तो अब पैसे के पुजारी हो गये हैं। पहले के ब्राह्मण अपने कर्तव्य को ख़ूब समझते थे। उनके जीवन-निर्वाह के लिए यह अनिवार्य था कि उनके यजमान समृद्धि-शाली तथा सुखी बने रहें। अतः यह आवश्यक था कि वे उन्हें पूजन-कार्य के अलावा उपदेश देते रहें कि किस प्रकार का रहन-सहन शास्त्रोचित है, फ़िज़ूलख़र्ची से क्या-क्या हानि होती है...।

मोहन—उस दिन जो पंडितजी सत्यनारायण की कथा कहने आये थे वे अवश्य आठ-दस आने पैसे बाँध ले गये होंगे।

चाचा—यही तो। अब पंडित अर्थ के महत्व के पीछे दौड़ते हैं। तुमने तो स्वयं देखा था कि किस प्रकार मिनट-मिनट पर दक्षिणा शब्द कहा जाता था। इसी प्रकार जब कहीं दर्शन करने को जाओ और वहाँ पैसा न चढ़ाओ तो वहाँ पर उपस्थित पंडे या ब्राह्मण (मँगते) को अक्सर यह कहते सुनोगे कि भगवान को पैसा-धेला चढ़ाते ही नहीं। दर्शन करने चले हैं। ऐसे दर्शन से भला भगवान प्रसन्न हो सकते हैं!

मोहन—पर चाचा, वे क्या करें? आजकल देखिए न, कितने लोग बेकार घूमते रहते हैं! पेट भरने के लिए किसी प्रकार पैसा कमाने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब लोग यों सीधे तौर पर पैसा नहीं देते, तो धोखा देकर ही उनसे पैसा वसूल किया जाय। मरता क्या न करता!

चाचा—यह तो ठीक है कि आजकल बेकारों की संख्या बढ़ रही है।

पर यह भी सच है कि लोग यह भूल गये हैं कि किस प्रकार रुपया प्राप्त करना या ख़र्च करना चाहिए। जब से हरामख़ोरी तथा विलासिता की बू हमारे अन्दर घुसी, तभी से हमारी हालत शोचनीय होने लगी। यहाँ तक कि अब लोग बेकार घूमते हैं और लूट-मार, धोखा-धड़ी आदि किसी भी बुरे कर्म को करने में नहीं चूकते। ब्राह्मण-समुदाय भी इस बुराई से परे नहीं है। मठाधीश, पंडे आदि जो फ़िज़ूलख़र्ची करते हैं या जिस निम्न प्रकार के रहन-सहन को अपनाते हैं उसे देखते हुए इनकी वर्तमान हालत ठीक ही है।

मोहन—फ़िज़ूलख़र्ची से क्या आपका यह मतलब है कि एक पैसे के माल के दो पैसे देते हैं?

चाचा—केवल यही नहीं। बेमतलब तथा हानिकारक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने के लिए जो ख़र्च किया जाता है उसे भी फ़िज़ूलख़र्च ही कहना चाहिए। मितव्ययिता का आदर्श यह है कि दरअसल अच्छी तथा सुख देनेवाली आवश्यकताओं की पूर्त्ति में आर्थिक दृष्टि से रुपया-पैसा व्यय किया जाय। क्षुधा-शान्ति के लिए ज़बरदस्ती प्रतिदिन पूरी-कचौड़ी और मिठाई खाना भी ठीक नहीं। मैं इसे फ़िज़ूलख़र्ची ही कहूँगा, क्योंकि इससे शरीर को उतना आराम व सुख नहीं मिलता, जितना अन्य वस्तुओं—जैसे फल, दूध आदि—के सेवन से मिल सकता है। फिर यदि मिठाई बाज़ार में आठ आने सेर बिकती हो और कोई उसे दस-बारह आने सेर लाये तो यह दूसरी फ़िज़ूलख़र्ची हुई।

मोहन—अच्छा, मैं समझता हूँ कि राजस्व को छोड़कर अर्थशास्त्र का अन्य कोई भाग सरकार के मतलब का नहीं है; क्योंकि सरकार को तो केवल टैक्स उगाहने के समय अर्थशास्त्र के राजस्व-भाग के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

चाचा—नहीं, नहीं। प्रथम तो तुम यह भूलते हो कि राजस्व में रहता क्या है। मैंने तुम्हें बताया था कि इस भाग के अन्तर्गत यह भी विचार किया जाता है कि टैक्सों द्वारा सरकार की जो आय होती है उसे ख़र्च किस प्रकार किया जाय। दूसरे यह कि इस प्रकार एक विभाग का अन्य विभागों से सम्बन्ध क्या है।

मोहन—अर्थशास्त्र के अन्तर्गत राज्य-सम्बन्धी कौन सी बातें आ जाती हैं ?

चाचा—देखो, देश में सरकार क्यों स्थापित की जाती है ? इसीलिए कि देश में सुख तथा शान्ति विराजमान रहे। सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह इस प्रकार प्रबन्ध करे, जिसमें देश की प्रजा उत्तरोत्तर उन्नति करती चली जाय। देश की उन्नति के लिए बहुत सी बातों का ध्यान रखना पड़ता है। ज़रा क़ाग़ज पर लिखो तो। मैं तुम्हें कुछ बातें लिखाए देता हूँ।

मोहन ने क़ाग़ज पर नीचे लिखीं बातें लिखीं:—

१—राज्य को व्यापार में किस प्रकार का हस्तक्षेप करना चाहिए और कैसे।

२—विदेशी व्यापार में संरक्षण-नीति (देशी उद्योग-धन्धों को सहायता देने की नीति) का कब उपयोग होना चाहिए तथा उसका प्रयोग करते समय किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

३—सरकार को कब स्वयं एकाधिकार द्वारा पदार्थों की उत्पत्ति करनी चाहिए।

४—विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए किस प्रकार के उपाय किये जाने चाहिए।

५—प्रजा के रहन-सहन का दर्जा ऊपर उठाने के लिए राज्य किस प्रकार राजस्व द्वारा सफल प्रयत्न कर सकता है।

६—मुद्रा-ढलाई तथा नोट जारी करने आदि का काम किस ढंग से किया जाय।

७—देश के व्यापार में बैंकों से बहुत सहायता पहुँचती है। इन बैंकों की सुव्यवस्था के लिए किस प्रकार के नियम बनाये जायँ।

८—खेतों की हालत सुधारने, खेती के ढंग में उन्नति करने तथा लगान आदि समस्याओं को हल करने के हेतु क्या किया जाय।

इस प्रकार मैं तुम्हें लिखाता चला जाऊं तो न मालूम कितने पृष्ठ भर जायँ। इन सब समस्याओं को हल करने के लिए अर्थशास्त्र के पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता है। यदि न्यायाधीश तथा नियम बनानेवाले सरकारी कर्मचारी अर्थशास्त्र के विद्यार्थी न हों तो उनके सब यत्न निष्फल हो जावें। आजकल

उनका बहुत सा समय आर्थिक विषयों पर विचार करने में ही बीतता है।

मोहन—इसी प्रकार व्यापारियों के लिए शायद आप कहेंगे कि वे किस प्रकार व्यापार करें यह बात अर्थशास्त्र से ही मालूम होती है।

चाचा—व्यापार के क्षेत्र में बहुत सी बातें हैं। यहाँ पर उत्पत्ति-विभाग तो पूर्ण रूप से ध्यान में रखना चाहिए। बड़ी तथा छोटी मात्रा की उत्पत्ति के क्या हानि तथा लाभ हैं, उत्पत्ति करते समय किस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए, मिलों में काम करनेवाले मज़दूरों की कार्य-क्षमता किस प्रकार बढ़ाई जाय, एकाधिकार में किस प्रकार पदार्थों का मूल्य निश्चित होता है, ये सब बातें व्यापारी के लिए महान् महत्त्वपूर्ण हैं। मज़दूरों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए उनके रहन-सहन के ढंग पर विचार करना पड़ता है। वे किस प्रकार अपनी मज़दूरी को व्यय करते हैं, किस प्रकार के घरों में रहते हैं, कैसा भोजन करते हैं तथा इन बातों में क्या परिवर्तन किये जाने चाहिए, इन सब बातों का ज्ञान आवश्यक है। और इसी हेतु अर्थशास्त्र का अध्ययन करना पड़ता है।

मोहन—पर आपने व्यापारियों के लाभ के बारे में कुछ नहीं बताया।

चाचा—हाँ, अर्थशास्त्र बताता है कि किस प्रकार व्यापार-वृद्धि की जा सकती है। और जब व्यापार में वृद्धि होगी, तब अवश्य लाभ अधिक होने की सम्भावना रहेगी। फिर जितने ही भले प्रकार तथा कम ख़र्च से अधिक-से-अधिक उत्पत्ति की जायगी उतना ही लाभ भी अधिक होगा। पर इसके यह मतलब नहीं कि मज़दूरों की मज़दूरी कम कर दी जाय। यदि ऐसा किया जायगा तो उनकी कार्य-क्षमता कम हो जायगी। फल-स्वरूप काम कम तथा निम्न दर्जे का होगा।

व्यापार-वृद्धि के लिए यह भी सोचना पड़ता है कि सरकार से कितनी मदद मिलती या मिल सकती है तथा सरकार को किस प्रकार के टैक्स लगाने चाहिए। यदि कोई कम्पनी बहुत अधिक मुनाफ़ा उठा रही है तो उस मुनाफ़े का देश की प्रजा को भी हिस्सा मिलना चाहिए; क्योंकि उसी की वजह से उस कम्पनी को इतना अधिक मुनाफ़ा होता है। ऐसी हालत में सरकार इस अधिक मुनाफ़े पर टैक्स लगा सकती है। व्यापारियों को मुद्रा-नीति

तथा बैंक, देशाटन के साधन आदि की सुविधाओं पर भी ध्यान देना पड़ता है। इस हेतु मुद्रा, बैंक, व्यापार के साधनों के सम्बन्ध में भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

मोहन—लेकिन······!

चाचा – तुम शायद पूछना चाहते हो कि शूद्र और मज़दूरों को अर्थशास्त्र के अध्ययन से क्या मतलब? पर यह तो अब तुम्हें स्वयं ही मालूम हो गया होगा कि यदि वे अपनी कार्यक्षमता बढ़ा सकें तो वे मालिक से अधिक मज़दूरी माँग सकते हैं। और जब उनकी आय बढ़ जायगी तो वे ऊँचे दर्जे का रहन-सहन अपना सकेंगे। पर आजकल के मज़दूर तो हड़ताल के फेर में अधिक रहते हैं। हड़तालों का मुख्य कारण, मिलनेवाली मज़दूरी से असन्तोष ही होता है। पर जब तक मज़दूरों को अर्थशास्त्र का ज्ञान न होगा तब तक वे कैसे कह सकते हैं कि उन्हें कितनी मज़दूरी मिलनी चाहिए। उन्हें हड़ताल के हानि-लाभ का ज्ञान अर्थशास्त्र से ही हो सकता है। उच्च रहन-सहन के लिए भी यह जानना ज़रूरी है कि मज़दूरी को किस प्रकार ख़र्च किया जाय।

मोहन—हाँ, मैं अब समझ गया कि अर्थशास्त्र का ज्ञान हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू में अनिवार्य्य है। सचमुच सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करना, समय पर उचित भोजन, वस्त्र तथा विश्राम प्राप्त करना, रहने के लिए मकान आदि की व्यवस्था करना, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के यथेष्ट साधन होना—ये सब बातें हमारी आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर हैं। यदि पैसा नहीं है तो हम शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकते। पुस्तक, कापी, पेन्सिल, फ़ीस सभी में तो पैसा लगता है। अगर हम बीमार हो जायँ तो दवा करने के लिए वैद्य, हकीम, डाक्टर पैसा माँगते हैं। निर्धनी होने के कारण हम गँवार बने रहते हैं। हमारा स्वास्थ्य गिरा रहता है। अतः पेट भरने के लिए हम उचित आय नहीं पैदा कर सकते। तभी हम बेईमानी तथा बुरे कर्मों पर उतारू हो जाते हैं। इन बुराइयों के कारण हमी हैं। और वह यह है कि हमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान नहीं है। ज्ञान हो और यदि हम उसके द्वारा निश्चित नियमों का पालन करें तो कोई शक्ति हमें,

हमारे समाज तथा देश को धनवान तथा सुखी बनने से नहीं रोक सकती।

चाचा—ठीक, अब तुम अर्थशास्त्र के महत्त्व को भली प्रकार समझ गए।

मोहन—पर चाचा, आपने जो अर्थशास्त्र के धर्म, नीति आदि के संबंध में बताया वह अभी स्पष्ट नहीं है।

चाचा—यह मैंने तुम्हें अभी कहाँ बताया है। मैंने तो धर्म और नीति की चर्चा अर्थशास्त्र की प्राचीनता के सम्बन्ध में की थी। वह भी इस दृष्टि से कि तुम्हें मालूम पड़ जाय कि अर्थशास्त्र हज़ारों वर्ष पहले भी महत्त्व रखता था और उस महत्त्व का तब के निवासियों को ज्ञान था। अर्थशास्त्र का धर्म-नीति अथवा अन्य विद्याओं से क्या सम्बन्ध है यह तो फिर कभी बताऊँगा। अब तो मेरे दफ़्तर जाने का समय हो रहा है।

पाँचवाँ अध्याय

अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से सम्बन्ध

"मोहन, क्या हो रहा है ?"

"कुछ नहीं चाचा जी, अभी मुँह धोकर आ रहा हूँ।" मोहन ने ऊपर से जवाब दिया।

चाचा हाथ में घूमने की छड़ी लिये नीचे खड़े थे। बोले—मुँह धो चुके ? अच्छा, आओ तुम्हें घुमा लावें।

"बहुत अच्छा चाचा।"

कुछ मिनटों के बाद चाचा भतीजे एल्फ्रेड पार्क की ओर जा रहे थे। इधर-उधर की बातें हो रहीं थीं। इतने में मोहन के चाचा ने पूछा—क्यों मोहन, तुम चल रहे हो। तुम्हारा घूमना अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आयेगा या नहीं।

मोहन—जी हाँ, अवश्य। हमारी इच्छा घूमने की है। उसी को पूरा करने के लिए घूम रहे हैं। पर मैं घूमने की ग़रज़ से थोड़े ही आया हूँ।

चाचा—तब।

मोहन—मैंने सोचा था कि शायद आपसे मैं घूमते-घूमते अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से जो सम्बन्ध है उसके बारे में पूरा हाल जान सकूँ।

चाचा—अच्छा, देखो तुम्हें याद है न कि अर्थशास्त्र क्या है तथा वह किस समूह के मनुष्यों के यत्नों का विचार करता है ?

मोहन—जी हाँ, बख़ूबी। आपने माघमेलेवाले दिन बताया था कि इसमें मनुष्यों की आवश्यकताओं तथा उनको पूरा करने हेतु किये जानेवाले प्रयत्नों पर विचार किया जाता है। वह भी इस दृष्टि से कि किस प्रकार कम

से कम ख़र्च के साथ आवश्यकताएं पूरी हो जायँ। आपने यह भी बताया था कि इस शास्त्र के नियम समाज में रहनेवाले मनुष्यों का विचार करके ही बनाये जाते हैं। पर वे अधिकतर साधू और संन्यासियों पर भी लागू हैं।

चाचा—ठीक, इसी कारण अर्थशास्त्र सामाजिक विद्या कहलाता है। पर समाज में रहनेवाले मनुष्यों के बारे में अन्य विद्याएं भी हैं। और चूँकि ये सब विद्याएँ मनुष्यों के बारे में कुछ-न-कुछ विचार करती हैं अतएव इनमें पारस्परिक सम्बन्ध होना अनिवार्य्य-सा मालूम पड़ता है।

मोहन—अन्य सामाजिक विद्याएं कौन-कौन हैं?

चाचा—जैसे समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति, क़ानून तथा धर्म।

मोहन—जी हाँ, उस दिन अर्थशास्त्र का महत्त्व बताते समय आपने कहा था कि पहले अर्थशास्त्र धर्म का एक अंग था।

चाचा—हाँ, धर्म का मुख्य ध्येय होता है—"कल्याण प्राप्ति" और अर्थशास्त्र का भी यही ध्येय माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म में धन को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता जितना अर्थशास्त्र में। धर्म में ईश्वरा-राधन, सद्भाव, सच्चरित्रता पर ज़ोर डाला जाता है। पर यदि देखा जाय तो अर्थशास्त्र में भी इन पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। ख़ासकर जब इस बात का विचार किया जाता है कि आय का किस प्रकार ख़र्च किया जाय, कैसे पदार्थों का उपभोग करना चाहिए। व्यय करते समय 'सादा जीवन, उच्च विचार' का आदर्श अपने सम्मुख रखा जाय तब धार्मिक दृष्टि-कोण ही रखना पड़ता है। वस्तुओं की उत्पत्ति करते और उनको बेचते समय भी यदि व्यक्ति धर्म का ध्यान रखें तो संसार में सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाय। परन्तु संसार के अधिकांश व्यक्ति धन प्राप्त करने की चिन्ता में धर्म को बिलकुल भूल जाते हैं। वे इस बात का विचार नहीं करते कि उनके कार्यों से दूसरों को, समाज को या देश को क्या हानि-लाभ हो रहा है। जब एक महाजन किसी ग़रीब व्यक्ति से अत्य-धिक सूद-लेकर उसका ख़ून चूसता है या एक ज़मींदार अपने किसी किसान से अत्यधिक लगान वसूलकर उसे बरबाद करता है या एक पूँजीपति ग़रीब मज़दूर को कठिन परिश्रम करने पर इतनी मज़दूरी नहीं देता जिससे उसको

रूखा-सूखा भरपेट भोजन मिल सके तो ये सब देश और समाज को बहुत हानि पहुँचाते हैं। ये सब कार्य धर्म के अनुसार नहीं है और अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी ये उचित नहीं हैं। इसी प्रकार जब एक दूकानदार घी या किसी खाद्यपदार्थ में कोई अशुद्ध चीज़ मिला कर बेचता है, तब वह यह नहीं विचार करता कि उस खाद्य पदार्थ के उपयोग से ख़रीदारों के स्वास्थ्य पर कैसा बुरा असर पड़ेगा। उसका यह कार्य धर्म के अनुसार नहीं है। अधिकांश दूकानदार तो यह समझते हैं कि व्यापार-व्यवसाय में धर्म का कोई स्थान ही नहीं है। यह उनकी भारी भूल है। अधर्म से प्राप्त किया धन प्रायः बुरे कामों में ही नष्ट होता है और वह मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। उससे सुख और शान्ति नहीं मिल सकती। हिंदू धर्मशास्त्र की यह स्पष्ट आज्ञा है कि जिस कार्य में धर्म और अर्थ का विरोध हो, जिस कार्य के करने में धन तो प्राप्त होता हो, परन्तु वह धर्म के अनुसार न हो, जिस कार्य से व्यक्ति का तो लाभ होता हो, परन्तु समाज या देश की हानि होती हो तो उसे कदापि न करना चाहिए। अर्थशास्त्र के अनुसार भी उपर्युक्त नियम का प्रत्येक व्यक्ति के लिए पालन करना आवश्यक है। संसार के सभ्य कहे जाने वाले अधिकांश देश इस नियम का पालन न करने से धनवान होने पर भी सुखी नहीं है और दिन-रात अशान्ति का अनुभव करते हैं। मोहन, अब तुम धर्म और अर्थ का सम्बन्ध अच्छी तरह समझ गये होगे। बिना अर्थ को धर्म के आधीन किये सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

मोहन—चाचा, आप कहते हैं कि धर्म का पालन करने से सुख और शान्ति मिलती है। परन्तु मैंने तो पढ़ा है कि भूतकाल में धर्म के नाम पर सैकड़ों लड़ाइयाँ हुई हैं और उनमें लाखों व्यक्तियों का बलिदान हुआ है। आजकल भी भारत में धर्म के नाम पर हिंदू-मुसलमानों में कई जगह झगड़े हो जाते हैं।

चाचा—तुम धर्म का मतलब अच्छी तरह से नहीं समझ पाये हो। धर्म से मेरा मतलब कट्टरपंथियों के संकुचित नियमों से नहीं है।

धर्म संस्कृत शब्द है। उसका अर्थ धारण करना अथवा पालन करना है। जिस कार्य से व्यक्ति, समाज, देश और विश्व का कल्याण हो, वही कार्य धार्मिक समझा जाता है। जिस कार्य से व्यक्तिगत लाभ के साथ-ही-साथ देश

और समाज का कल्याण हो वह कार्य धर्म के अनुसार ही समझना चाहिए। किन्तु जिस कार्य से व्यक्तिगत लाभ हो, परन्तु देश और समाज का अहित हो वह कदापि धर्म के अनुसार नहीं हो सकता। धर्म के नाम पर लोग जो आपस में झगड़ते हैं उससे समाज और देश को हानि पहुँचती है। इसलिए उनके ये कार्य धर्म के अनुसार नहीं हो सकते। अब मैं तुमको अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध बतलाता हूँ।

मोहन—नीतिशास्त्र किसे कहते हैं?

चाचा—नीतिशास्त्र में अच्छे और बुरे पर विचार किया जाता है। अर्थात् कौन-सा कार्य अच्छा है कौन-सा बुरा है, आदमी को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।

मोहन—पर अर्थशास्त्र को इससे क्या मतलब। वहाँ पर तो इसी बात का विवेचन किया जाता है कि किस वस्तु की उत्पत्ति किस प्रकार की जाय, उसका मूल्य किस प्रकार आँका जाता है तथा सरकार किस प्रकार टैक्स वसूल करे, इत्यादि।

चाचा—ठहरो। उत्पत्ति की ही बात ले लो। उत्पत्ति-कार्य के लिए मज़दूरों की आवश्यकता होती है।

मोहन—जी हाँ, मज़दूर, पूँजी, भूमि सभी की।

चाचा—मज़दूरों को मज़दूरी चाहिए; पूँजीपति को सूद। भूमि का मालिक लगान माँगेगा। प्रश्न उठता है कि प्रत्येक को क्या दिया जाय। क्या मज़दूरों को केवल इतनी मज़दूरी मिले कि वे किसी तरह ज़िन्दा बने रहें और निर्जीव पुतलों की भाँति काम करते जाँय? पहले लोगों का यही ख़्याल था। परन्तु जैसे-जैसे नीति की सहायता से विचार किया गया वैसे-वैसे यह प्रकट होता गया कि मज़दूरी काम के मुताबिक देना चाहिए। यह न होना चाहिए कि दिन भर में मज़दूर बेचारा एक रुपये का काम कर डाले पर उसे दी जाय वही चवन्नी। इसी प्रकार वस्तुओं के मूल्य के बारे में कहा जा सकता है। आजकल युद्ध का ज़माना है। इसके यह मतलब नहीं कि दूकानदार दुगुने-तिगुने दाम पर वस्तुएँ बेचकर अनुचित मुनाफ़ा उठायें। इन प्रश्नों का उत्तर देने में नीति का ही प्रयोग किया जाता है। नैतिक दृष्टि से विचार करने की

रूखा-सूखा भरपेट भोजन मिल सके तो ये सब देश और समाज को बहुत हानि पहुँचाते हैं। ये सब कार्य धर्म के अनुसार नहीं है और अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी ये उचित नहीं हैं। इसी प्रकार जब एक दूकानदार घी या किसी खाद्यपदार्थ में कोई अशुद्ध चीज़ मिला कर बेचता है, तब वह यह नहीं विचार करता कि उस खाद्य पदार्थ के उपयोग से ख़रीदारों के स्वास्थ्य पर कैसा बुरा असर पड़ेगा। उसका यह कार्य धर्म के अनुसार नहीं है अधिकांश दूकानदार तो यह समझते हैं कि व्यापार-व्यवसाय में धर्म का को स्थान ही नहीं है। यह उनकी भारी भूल है। अधर्म से प्राप्त किया धन प्रायः बु कामों में ही नष्ट होता है और वह मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है उससे सुख और शान्ति नहीं मिल सकती। हिंदू धर्मशास्त्र की यह स्प आज्ञा है कि जिस कार्य में धर्म और अर्थ का विरोध हो, जिस कार्य के क में धन तो प्राप्त होता हो, परन्तु वह धर्म के अनुसार न हो, जिस कार्य व्यक्ति का तो लाभ होता हो, परन्तु समाज या देश की हानि होती हो उसे कदापि न करना चाहिए। अर्थशास्त्र के अनुसार भी उपर्युक्त नियम प्रत्येक व्यक्ति के लिए पालन करना आवश्यक है। संसार के सभ्य कहे वाले अधिकांश देश इस नियम का पालन न करने से धनवान होने सुखी नहीं है और दिन-रात अशान्ति का अनुभव करते हैं। मोहन तुम धर्म और अर्थ का सम्बन्ध अच्छी तरह समझ गये होगे। बिं को धर्म के आधीन किये सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

मोहन—चाचा, आप कहते हैं कि धर्म का पालन करने से सुख और मिलती है। परन्तु मैंने तो पढ़ा है कि भूतकाल में धर्म के नाम पर लड़ाइयाँ हुई हैं और उनमें लाखों व्यक्तियों का बलिदान हुआ है। भी भारत में धर्म के नाम पर हिंदू-मुसलमानों में कई जगह झगड़े हो उ

चाचा—तुम धर्म का मतलब अच्छी तरह से नहीं समझ पाये हो से मेरा मतलब कट्टरपंथियों के संकुचित नियमों से नहीं है।

धर्म संस्कृत शब्द है। उसका अर्थ धारण करना अथवा पालन है। जिस कार्य से व्यक्ति, समाज, देश और विश्व का कल्याण हो, धार्मिक समझा जाता है। जिस कार्य से व्यक्तिगत लाभ के साथ-ही-

व्यापार की उन्नति के लिए पूर्ण सहायता नहीं देती। फिर विदेशी व्यापार में भी अपनी मुद्रानीति द्वारा वह इंगलैंड में बने माल को भारत में सस्ता होने में मदद देती है।

मोहन—मुद्रानीति को मैंने नहीं समझा।

चाचा—अभी तुम इस बात को नहीं समझोगे। जब मैं तुम्हें इसी तरह किसी दिन राजस्व के बारे में भली प्रकार बताऊँगा तब इसे भी समझाऊँगा। अभी तो यही समझ लो कि सरकार अपनी अर्थ-सम्बन्धी नीति द्वारा देशी व विदेशी व्यापार के रूप को बदल सकती है। हाँ, तो इस तरह के परिवर्तनों के कारण उत्पत्ति तथा व्यवस्था में रद्दोबदल हो जाता है। धन के वितरण पर भी काफ़ी प्रभाव पड़ता है। इसके कारण मनुष्यों की आर्थिक स्थिति बदल जाती है, जिसका प्रभाव सरकारी प्रबन्ध तथा राज्य के ढँग पर बहुत कुछ पड़ता है।

मोहन—यह बात तो मेरी समझ में नहीं आई।

चाचा—देखो, अगर सरकार के कारण देश में कुछ लोग पूँजीपति हो गये और बाक़ी ग़रीब; तो सरकारी प्रबन्ध पूँजीपतियों के हाथ में चला जाता है। पूँजी के बल पर उनका बोलबाला हो जाता है। पर यदि ग़रीबों में प्रतिहिंसा तथा स्वयं भी अमीर बनने की आग लग गई तो फिर पूँजीपति-प्रणाली का नाश होकर प्रजातन्त्र या समाजवादी सरकार की नींव पड़ सकती है।

मोहन—समझ गया, इस प्रकार अर्थशास्त्र तथा राजनीति दोनों एक-दूसरे की मदद करते हैं। राजनीति के कारण हमारी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हो सकता है और अर्थशास्त्र की वजह से राज्य-प्रबन्ध में रद्दोबदल हो सकता है।

चाचा—इसी प्रकार क़ानून को ले लो। तुम जानते होंगे कि सरकार क़ानून इसीलिए बनाती है जिससे देश सुखी हो। यह तो होता ही है। इसके अलावा सरकार देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए उसकी उन्नति के कतिपय नियम बनाती है। देखो यू० पी० तथा अन्य सरकारें जो लगान-सम्बन्धी नये क़ानून बना रही हैं वह इसलिए कि किसानों पर होनेवाले ज़ोरो-ज़ुल्म में कमी हो जाय, जिसमें वे अपने खेतों को एक चक में कर सकें

प्रवृत्ति तो आजकल बढ़ती ही जा रही है।

मोहन—क्या सरकारी टैक्सों का भी नीति से सम्बन्ध है ?

चाचा—क्यों नहीं ? यदि सरकार टैक्सों की आय से सब को शराब पिलाना शुरू कर दे तो क्या तुम नहीं कहोगे कि यह काम बुरा है ? हाँ, यदि इसकी जगह दूध पिलाया जाय तो अवश्य सब लोग सरकार की तारीफ़ करेंगे।

एक बात और। किसी देश की आर्थिक स्थिति तथा वहाँ के नैतिक जीवन में भी सम्बन्ध रहता है। यदि किसी देश में धन की काफ़ी उत्पत्ति होती है तथा धन के वितरण में असमानता नहीं है, तो अवश्य ही वहाँ के निवासी सन्तुष्ट होंगे तथा वे उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करते होंगे। पर यदि कहीं पर भारत की भाँति ग़रीबी का राज्य हो, धन का विषम वितरण हो तथा उत्पत्ति-कार्य कम हो, तो अवश्य ही देशवासी बहुत असन्तुष्ट तथा कष्ट-पीड़ित होंगे। फलतः उनका जीवन आदर्शमय नहीं हो सकता। अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए वे लोग लूटमार करने, झूठ बोलने तथा धोखा देने से बाज़ न आयेंगे।

मोहन—सचमुच हमारे हिन्दोस्तान में यही तो हो रहा है।

चाचा—हाँ, जिस प्रकार अर्थशास्त्र का उद्देश्य समाज का हित करना है उसी प्रकार नीतिशास्त्र का भी। तब फिर दोनों में कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य रहेगा। दोनों एक दूसरे से सर्वथा पृथक नहीं किये जा सकते। इसी प्रकार राजनीति को ले लो। ये दोनों एक दूसरे के लिए अनिवार्य्य प्रतीत होते हैं।

मोहन—राजनीति में तो राज्य के प्रबन्ध की बातें बतायी जाती हैं न ?

चाचा—हाँ, राजनीति में राज्य के प्रबन्ध के नियमों का विवेचन किया जाता है। पर सरकार के प्रत्येक कार्य में रुपये-पैसे की आवश्यकता होती है। यह धन किस प्रकार एकत्र तथा व्यय किया जाय इसका विचार अर्थशास्त्री ही करते हैं। सरकारी नीति के द्वारा देशी व विदेशी व्यापार की हालत सुधर या बिगड़ सकती है।

मोहन—क्यों चाचा, यह कहाँ तक ठीक है कि हमारी सरकार के कारण हमारे देशी व्यापार में उन्नति नहीं हो पाती ?

चाचा—बात यह है कि विदेशी होने के कारण स्वभावतः सरकार को ब्रिटिश लोगों की उन्नति की अधिक चिन्ता लगी रहती है। अतः वह देश में

व्यापार की उन्नति के लिए पूर्ण सहायता नहीं देती। फिर विदेशी व्यापार में भी अपनी मुद्रानीति द्वारा वह इंगलैंड में बने माल को भारत में सस्ता होने में मदद देती है।

मोहन—मुद्रानीति को मैंने नहीं समझा।

चाचा—अभी तुम इस बात को नहीं समझोगे। जब मैं तुम्हें इसी तरह किसी दिन राजत्व के बारे में भली प्रकार बताऊँगा तब इसे भी समझाऊँगा। अभी तो यही समझ लो कि सरकार अपनी अर्थ-सम्बन्धी नीति द्वारा देशी व विदेशी व्यापार के रूप को बदल सकती है। हाँ, तो इस तरह के परिवर्तनों के कारण उत्पत्ति तथा व्यवस्था में रद्दोबदल हो जाता है। धन के वितरण पर भी काफ़ी प्रभाव पड़ता है। इसके कारण मनुष्यों की आर्थिक स्थिति बदल जाती है, जिसका प्रभाव सरकारी प्रबन्ध तथा राज्य के ढँग पर बहुत कुछ पड़ता है।

मोहन—यह बात तो मेरी समझ में नहीं आई।

चाचा—देखो, अगर सरकार के कारण देश में कुछ लोग पूँजीपति हो गये और बाक़ी ग़रीब; तो सरकारी प्रबन्ध पूँजीपतियों के हाथ में चला जाता है। पूँजी के बल पर उनका बोलबाला हो जाता है। पर यदि ग़रीबों में प्रतिहिंसा तथा स्वयं भी अमीर बनने की आग लग गई तो फिर पूँजीपति-प्रणाली का नाश होकर प्रजातन्त्र या समाजवादी सरकार की नींव पड़ सकती है।

मोहन—समझ गया, इस प्रकार अर्थशास्त्र तथा राजनीति दोनों एक दूसरे की मदद करते हैं। राजनीति के कारण हमारी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हो सकता है और अर्थशास्त्र की वजह से राज्य-प्रबन्ध में रद्दोबदल हो सकता है।

चाचा—इसी प्रकार क़ानून को ले लो। तुम जानते होगे कि सरकार क़ानून इसीलिए बनाती है जिससे देश सुखी हो। यह तो होता ही है। इसके अलावा सरकार देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए उसकी उन्नति के कतिपय नियम बनाती है। देखो यू० पी० तथा अन्य सरकारें जो लगान-सम्बन्धी नये क़ानून बना रही हैं वह इसलिए कि किसानों पर होनेवाले ज़ोरो-ज़ुल्म में कमी हो जाय, जिसमें वे अपने खेतों को एक चक में कर सकें

जिसमें उन्हें अधिक टैक्स न देना पड़े। माना कि इससे ज़मींदारों को काफ़ी हानि होती दिखाई पड़ती है पर यह हानि क्षणिक है। आज ज़मींदार को किसान से लगान वसूल करने में बहुत कठिनता होती है। यदि किसानों की हालत सुधर जायगी तो इन्हीं ज़मींदारों को आसानी से लगान मिल जायगा।

इसी प्रकार व्यापार तथा अन्य उद्योग-धन्धों के लिए क़ानून बनाये जाते हैं। कारख़ानों के क़ानून, मिल-हड़तालों के क़ानून, निम्नतम मज़दूरी का क़ानून, इन सब के बनाने में आर्थिक अवस्था का प्रभाव पड़ता है। और ऐसे क़ानूनों के कारण देश में अधिक उन्नति हो सकती है।

मोहन—और अवनति भी?

चाचा—क्यों नहीं। यदि कल देश की बागडोर स्वार्थान्ध पुरुषों के हाथ में चली जाय, तो शायद वे अपनी भलाई के लिए ऐसे क़ानून बनायें जिनसे देश को हानि पहुँचे और उनको लाभ हो—चाहे वह रुपये में हो और चाहे आन्तरिक सन्तोष के रूप में। पर ऐसा कम होता है। अधिकतर आर्थिक स्थिति का ही प्रभाव क़ानूनों पर पड़ता है। जैसे-जैसे देश की आर्थिक स्थिति बदलती है वैसे-ही-वैसे पुराने क़ानूनों में उलट फेर तथा नये-नये क़ानूनों का निर्माण किया जाता है। वर्तमान युद्ध के कारण सरकार को अधिक रुपये की आवश्यकता हुई तो उसने 'अधिक मुनाफ़ा' पर टैक्स लगाने की सोच ली।

मोहन—अर्थशास्त्र का इतिहास तथा भूगोल से भी क्या कुछ सम्बन्ध है?

चाचा—हां, हां! इतिहास से आम तौर पर पुरानी घटनाओं, पुराने राज्य-प्रबन्ध आदि के बारे में मालूम पड़ता है। उससे हमें वर्तमान शासन-प्रणाली आदि के बारे में पूर्ण ज्ञान होता है। इसी प्रकार आर्थिक घटनाओं का इतिहास होता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

इतिहास के कारण हमको मालूम हो जाता है कि भूतकाल में किसी आपत्ति विशेष के आने पर उस समय सरकार ने क्या-क्या आर्थिक उपाय किये थे। जो उपाय उस समय किये गये थे, उन्हीं का उपयोग यदि उसी तरह की आपत्ति आने पर अब भी किया जाय तो आसानी से आपत्ति दूर हो सकती है।

इतिहास के कारण व्यापार की पुरानी दशा, उस समय की सरकार की

व्यापारिक नीति आदि के बारे में पूरा-पूरा पता चल जाता है। इससे भूतकाल में हुई गलतियाँ मालूम हो जाती हैं। फिर हम वैसी ग़लती फिर कभी न करेंगे। उदाहरणार्थ यदि इक्कीसवीं शताब्दी के लोग यह जान जायँ कि ब्रिटिश माल पर कम चुंगी लगाने के कारण भारत के उद्योग-धन्धे सफल नहीं हो सके थे, तो वे कदापि ब्रिटिश माल के साथ आजकल की सी रियायत नहीं करेंगे।

मोहन—ठीक है। प्राचीन आर्थिक इतिहास के कारण तीन लाभ होते हैं। प्रथम, पुराने ज़माने में जब कोई आपत्ति आयी तो उसे दूर करने के उपाय अब भी उस तरह की आपत्ति के आ पड़ने पर काम आ सकते हैं। द्वितीय, इतिहास का ज्ञान होने के कारण घटनाओं के आधार पर हम पुरानी आर्थिक नीतियों की आलोचना करके उससे लाभ उठा सकते हैं। तीसरे, आजकल हमारे सामने जो समस्याएँ उपस्थित हैं वे अधिकतर भूतकाल में ही उठ खड़ी हुई थीं। उनको भली प्रकार समझने के लिए यह ज़रूरी है कि हमें उसका आर्थिक इतिहास मालूम हो।

चाचा—रहा भूगोल। सो मैंने तुम्हें बताया है कि उत्पत्ति के पांच साधन होते हैं जिनमें भूमि मुख्य है। उत्पत्ति के इन साधनों में देश की जल-वायु, भू-गर्भ स्थित धन, जंगल, पहाड़, नदी सभी शामिल किये जाते हैं। और तुम जानते ही हो कि उन्हें नक़शे में ढूँढ़-ढूँढ़कर समझना चाहिए। बिना इन बातों को जाने हम मनुष्यों की आवश्यकता-पूर्ति के हेतु भली प्रकार की जाने वाली उत्पत्ति का पूर्ण रूप से विवेचन नहीं कर सकते।

मोहन—यह तो स्पष्ट नहीं हुआ।

चाचा—देखो, व्यापार-वृद्धि के लिए नदियों, समुद्रों तथा उनके किनारे स्थित शहरों तथा बन्दरगाहों का ज्ञान होना आवश्यक है। देश की औद्योगिक उन्नति तभी हो सकती है जब या तो विदेशी राज्यों से आनेवाली वस्तुएं कम हो जायँ अथवा देश के भू-गर्भ में छिपे कच्चे माल का पूरा हाल मालूम होवे। इसी तरह जंगलों से मिलनेवाले पदार्थों का वितरण तथा उनकी मात्रा का जानना आवश्यक होता है। इस प्रकार कम-से-कम उत्पत्ति-कार्य में भूगोल महत्व-पूर्ण स्थान रखता है।

मोहन—चाचा जी, सामाजिक विद्याएँ बताते समय आपने समाज-शास्त्र का नाम लिया था। इसके विद्यार्थी तो शायद बोतलों की दवाइयों को एक में मिलाकर कुछ जाँच-पड़ताल किया करते हैं।

चाचा—वाह जनाब! यही आप जानते हैं! वह तो रसायन-शास्त्र कहलाता है। समाजशास्त्र में तो यह बतलाया जाता है कि मनुष्य आपस में कैसा बर्ताव करते हैं, कैसी संस्थाओं का निर्माण किया जाता है तथा किस प्रकार का सामाजिक जीवन व्यतीत किया जाता है, इत्यादि। समाजशास्त्र एक मुख्य विज्ञान माना जाता है। अर्थशास्त्र, राजनीति, क़ानून ये सब सामाजिक विद्याएँ कहलाती हैं। इनमें से प्रत्येक समाजशास्त्र का एक अंग कहलाता है। मैं तुम्हें अर्थशास्त्र और नीति, राजनीति तथा क़ानून आदि के मध्य जो सम्बन्ध है उसके विषय में बता चुका हूँ। उसी से तुम समझ सकते हो कि अर्थशास्त्र का समाज-शास्त्र से क्या सम्बन्ध है।

मोहन—क्या रसायनशास्त्र और अर्थशास्त्र में कोई सम्बन्ध नहीं है?

चाचा—क्यों नहीं? अर्थशास्त्र का रसायनशास्त्र से भी सम्बन्ध है और भौतिकशास्त्र से भी। इन्हीं दोनों के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में भिन्न-भिन्न प्रकार की कलों तथा मशीनों के आविष्कार के कारण औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ। उसका आजकल के आर्थिक विकास पर क्या असर हुआ यह सब को विदित है। इसका सबसे बड़ा फल यह हुआ कि मिल-मज़दूरों का मालिकों से लड़ना तथा हड़ताल आदि उपायों का प्रयोग करना। आज दिन प्रत्येक देश के क़ानूनों में कारख़ाने के क़ानून एक ख़ास स्थान रखते हैं।

पर अर्थशास्त्र का गणित से अधिक सम्बन्ध है। गणित के बिना तो अर्थशास्त्री की गाड़ी धड़ से रुक जायगी।

मोहन—आपका मतलब यह है कि बिना गणित जाने कोई अर्थशास्त्र नहीं पढ़ सकता?

चाचा—नहीं सो बात नहीं। अर्थशास्त्र की मोटी-मोटी बातें तो ज़बानी बताई जा सकती हैं। मैं तुम्हें मोटी-ही-मोटी बातें तो बताता हूँ। आजकल के पश्चिमी अर्थशास्त्री दिन-पर-दिन अपनी गवेषणा में तथा विचार करते समय गणित का प्रयोग करते हैं। यद्यपि हम मनुष्य की आवश्यकताओं की

माँग, उत्पत्ति आदि को ठीक-ठीक नहीं समझा सकते तथापि तालिका, रेखा-चित्रों के प्रयोग द्वारा वे सब बातें आसानी से समझ में आ जाती हैं।

मोहन—तो अर्थशास्त्र का गणित से भी अधिक सम्बन्ध है। तब तो शायद इस अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्या से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध दिखाया जा सकता है।

चाचा—हाँ, मैंने तो तुम्हें केवल कुछ खास-खास विद्याओं के सम्बन्ध में ज्ञान कराया है। अब मैं अर्थशास्त्र के प्रथम भाग उपभोग पर विस्तार से विचार करना आरम्भ करूँगा और किसी दिन तुमको आर्थिक इच्छाओं के सम्बन्ध में बताऊँगा।

छठवाँ अध्याय

आर्थिक इच्छाएँ

आज भी जब मोहन स्नान करके घर लौटने लगा, तो पहले की भाँति वह दूकानों की सजावट देख रहा था। एक दूकान पर, अनेक प्रकार के रंगीन चित्र टँगे देखकर, वह यकायक खड़ा हो गया। माँ और चाचा आगे-आगे चल रहे थे। इस कारण उन्हें बोध न हो सका कि मोहन पीछे छूट गया है। परन्तु दो-तीन दूकान आगे बढ़कर उसके चाचा ने जब अनुभव किया कि मोहन साथ में नहीं है, तो वे लौट पड़े। मोहन की माँ भी पीछे हो लीं। लौटकर उन्होंने देखा कि मोहन खड़ा हुआ चित्र देख रहा है।

वे बोले—चलो मोहन, नहीं तो मुझे दफ़्तर जाने को देर हो जायगी।

मोहन ने कहा—चाचा, यह चित्र मुझे बहुत पसन्द है। ऐसा जान पड़ता है, मानो मेरा ही मटर का खेत हो। देखो न, पानी भरा है और सारस की जोड़ी खड़ी है।

चाचा—हाँ, चित्र अच्छा है। लेकिन अभी तुम विद्यार्थी हो। तुमको अभी तुरन्त ऐसी वस्तुओं को ख़रीदने की आवश्यकता नहीं है। आओ, चलो।

मोहन चाचा के साथ हो लिया। सब लोग घर की ओर लौट रहे थे। चाचा ने देखा, चित्रों की दूकान से लौटकर मोहन कुछ उदास हो रहा है। अतएव उन्होंने कहा—देखो मोहन, मैं जानता हूँ कि वह चित्र न ख़रीद सकने के कारण तुम्हारे मन को चोट पहुँची है। परन्तु तुमको यह भी तो जानना चाहिए कि अभी तुम्हें उस चित्र की आवश्यकता नहीं है।

मोहन यह बात स्वीकार नहीं करना चाहता कि उसे उस चित्र की आवश्यकता नहीं है। वह चित्र उसे बहुत पसन्द है। वह उसको लेकर जब घर जाता और अपने साथियों को दिखलाता तो उसे कितनी प्रसन्नता होती! रमेश तो उसे देखकर उछल पड़ता और सम्भवतः यह भी कह बैठता कि इसे मुझे दे दो और जितना दाम चाहो, ले लो। अस्तु। उसने कहा—चाचा जी, अगर मैं ऐसा जानता कि यहाँ आने पर मेरे जमा किये हुए सब रुपये खर्च हो जायँगे और फिर भी पूरे न पड़ेंगे, तो मैं बाबू जी से कुछ और अधिक रुपये लेकर चलता। मुझे यह चित्र बहुत अधिक पसन्द आया। मैं कैसे मान लूँ कि मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है?

चाचा बोले—तुम ग़लत सोच रहे हो मोहन। रुपये मैं तुम्हें अभी दे सकता हूँ। जितने चाहो, घर पर चलकर मुझसे ले लो। लेकिन तुम्हारा अगर यह विचार हो कि बाबू जी से कुछ और अधिक रुपये ले आने अथवा अब मुझसे ही इच्छानुसार रुपये ले लेने पर तुम्हारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जायगी, तो यह तुम्हारा भ्रम है। बाज़ार या मेले में अच्छी तरह घूमकर देखो, इसी तरह दर्जनों चीज़ें अभी और निकल आयेंगी, जिन्हें तुम ख़रीदना चाहोगे। उन चीज़ों को देख-देखकर तुम सोचने लगोगे कि तुम्हें उनको ख़रीदने की आवश्यकता है। लेकिन अर्थशास्त्र की दृष्टि से तो हम इसे आवश्यकता नहीं कह सकेंगे।

मोहन बोला—क्यों नहीं कह सकेंगे?

चाचा ने कहा—अर्थशास्त्र की दृष्टि में आवश्यकता मनुष्य की उस इच्छा का नाम है, जिसकी पूर्ति के लिए उसके पास साधन हो तथा वह परिश्रम करने को तैयार हो। यों तो इच्छाओं की सीमा नहीं है। किसी व्यक्ति की सारी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हो सकतीं, चाहे वह कितना ही बड़ा धनी-मानी क्यों न हो। हाँ, किसी भी व्यक्ति की कोई एक इच्छा की पूर्ति हो सकती है। जीवन-भर मनुष्य के आगे इच्छाओं का ऐसा तार बँधा रहता है कि कभी टूटने का नाम नहीं लेता। जहाँ एक इच्छा पूर्ण हुई कि झट दूसरी, उसके स्थान पर, आकर सामने खड़ी हो जाती है।

मोहन—तब तो मनुष्य के आगे इच्छाओं का यह नित्य बढ़ता हुआ रूप,

कहना चाहिए कि, कोई अच्छी बात नहीं है।

चाचा—इच्छाओं का बढ़ना तो स्वाभाविक है और इच्छाओं के बढ़ने से आवश्यकताओं में वृद्धि भी होती है। यह वृद्धि कुछ सीमा तक उचित ही है। सच पूछो तो आवश्यकताओं की वृद्धि से ही वर्तमान सभ्यता का इतना विकास हो पाया है। नयी आवश्यकताओं की पूर्ति ने उन्हें जब कुछ काल के पश्चात् पुराना बना दिया, तब नयी-नयी आवश्यकताएँ उनके स्थान पर आती गयीं। नयी आवश्यकताओं ने ही तो आविष्कारों को जन्म दिया है। नयी आवश्यकताओं की वृद्धि से ही मनुष्य ने उद्योग करना सीखा है। ज्यों-ज्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों वह उनकी तृप्ति के लिए अधिक-से-अधिक उद्योग करता है। आगे चलकर फिर उद्योग से भी नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न होने लगती हैं। आविष्कारों ने भी नयी-नयी वस्तुओं का प्रसार करके आवश्यकताओं की बहुत वृद्धि की है। और सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ अब तो मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ़ गयी हैं कि उनकी संख्या अपरिमित हो गयी है।

मोहन—लेकिन चाचा, अब भी मैं यह नहीं समझ सका कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से आप यह किस तरह कहते हैं कि मुझे उस चित्र की आवश्यकता नहीं है।

चाचा—मैंने अभी तुमको यह बतलाया है कि घूमने पर बाज़ार या मेले में ऐसी बहुत सी चीज़ें निकलेंगी, जिन्हें तुम लेना चाहोगे। केवल उनको देखकर ही तुम्हें ऐसा प्रतीत होगा कि मुझे उनकी आवश्यकता है। यद्यपि उससे पहले तुम्हें उसकी आवश्यकता का गुमान भी नहीं था। इसलिए वे वस्तुएँ तुम्हारी आवश्यकता नहीं हो सकतीं। उस चित्र को ख़रीदे बिना अभी तुम्हारा कौन-सा काम रुका जा रहा है?

मोहन—पर अभी आपने बतलाया है कि नयी-नयी वस्तुओं के आविष्कारों ने सभ्यता की वृद्धि में बहुत सहायता पहुँचाई है। और इस प्रकार नयी वस्तुओं को पसन्द करने पर भी अगर सब लोग यही सोचने लगें कि उनको ख़रीदे बिना भी हमारा काम चल जायगा, तो उन वस्तुओं का प्रचार कैसे हो सकता है? इस विचार के अनुसार चलने पर तो सभ्यता की वृद्धि में एक

रुकावट ही पड़ेगी।

चाचा—हाँ, यह बात तुमने ठीक कही। पर इच्छाएँ भी अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ तो उनमें से ऐसी हैं, जिनकी पूर्ति धन से हो ही नहीं सकती, जैसे प्रेम, स्वास्थ्य। जिनकी पूर्ति धन से हो सकती है उनको हम आर्थिक इच्छाएँ कहते हैं, उनमें से भी कुछ ऐसी हैं जिनका पूरी तरह से पूर्ति कभी नहीं हो सकती जैसे धन, अधिकार और बड़प्पन की इच्छाएँ। तुम्हारी यह इच्छा बड़प्पन की कोटि में आती है। तुम इस चित्र को ले जाकर अपने साथियों को दिखलाओगे। वे इसको देखकर प्रसन्न होंगे और यह अनुभव करेंगे कि मोहन बड़े आदमी का लड़का है और वह इतना समर्थ है कि ऐसे चित्र अपने पढ़ने के कमरे में रख सकता है। इस चित्र के द्वारा एक ओर वे तुम्हारे बड़प्पन का अनुभव करेंगे और दूसरी ओर इससे यह भी विदित होगा कि उनकी अपेक्षा तुम्हारे पिता धनी-मानी भी अधिक हैं। धन प्राप्त करने की इच्छा ऊपर से एक जान पड़ती है। पर उससे प्राप्त होने वाली अनेक वस्तुओं की इच्छा उसमें छिपी हुई है। बड़प्पन को प्राप्त करने में भी धन ही विशेष रूप से सहायक होता है। इसीलिए इस प्रकार की इच्छाएँ मिश्रित कहलाती हैं। मनुष्य को पहले इस प्रकार की इच्छाओं पर नियंत्रण रखना ही पड़ता है। विद्यार्थियों के लिए तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता है।

मोहन—लेकिन रमेश जब अपने बाबू के साथ कलकत्ता गया था, तो उन्होंने उसके लिए मोटर-साइकिल ख़रीद दी थी। और मैं जानता हूँ, उसके बिना भी उसका काम चलता ही था, उसके घर में ताँगा है ही। उस ताँगे पर ही वह प्रायः स्कूल जाता भी था।

चाचा—अर्थशास्त्र की दृष्टि से तो मैं इसे अपव्यय ही कहूँगा। जिस रुपये से उसके लिए मोटर-साइकिल ख़रीदी गयी थी, उसी रुपये से खादी तैयार कराने का एक छोटा-सा कारख़ाना खोला जा सकता था। कितने आदमियों का पेट उससे पलता! रमेश को स्कूल पहुँचने के लिए समय की ऐसी कमी तो रहती नहीं है, जो मोटरसाइकिल के बिना उसका काम न चलता। उसके शौक़ के लिए ही मोटर साइकिल उसके बाबू ने ख़रीदी है। लेकिन तुमने

यह नहीं सोचा कि रमेश के बाबू कितने बड़े धनवान् हैं। लड़का भी उनका वही अकेला है। उसका शौक़ उनके लिए एक तरह का सुख है। आज अभी तुमको चित्र अच्छा लगा है। शाम को अगर तुम मेरे साथ रायसाहब के यहाँ चलोगे, तो वहाँ रेडियो में गाना, बातचीत और समाचार सुनकर तुम्हारी इच्छा हो सकती है कि रेडियो ख़रीदा जाय। पर अभी हम लोग उस स्थिति को कहाँ पहुँच सके हैं कि अपनी इच्छाओं को इतना बढ़ा सकें।

मोहन अब चुप हो गया। घूमते हुए अब वे लोग बाँध पर आ गये थे। सामने और इधर-उधर अनेक लोग आ-जा रहे थे जिनमें एक महाशय सिगरेट पी रहे थे। तब मोहन के चाचा ने कहा—कुछ इच्छाएँ पहले बहुत छोटी होती हैं; पर धीरे-धीरे वही आवश्यकता का रूप धारण कर लेती हैं। देखो वह आदमी जो अभी सिगरेट पी रहा था, उसने पैकेट से सिगरेट निकाली थी। इसका मतलब यह है कि वह सिगरेट पीनेवाला आदमी है। कहीं अगर उसको सिगरेट नहीं मिलेगी, तो उसे तक़लीफ़-सी जान पड़ेगी। अब उसके लिए वह एक आवश्यकता बन गयी है। परन्तु कभी उसके लिए यही सिगरेट बिल्कुल अनावश्यक भी रही होगी। एक-दो बार पिलाकर किसी ने उसे सिगरेट पीने का शौक़ डाल दिया होगा। इसी तरह लोग पहले ज़रा-सी शराब पीते हैं; पर फिर वही शराब उसके लिए आवश्यकता के रूप में व्यसन बन जाती है। सुन्दर वस्तुओं के संग्रह का भी एक व्यसन होता है। आज तुमको एक चित्र पसन्द आया है। कल दूसरी दूकान पर दूसरा चित्र इससे भी अधिक पसन्द आ सकता है। इस तरह एक इच्छा दूसरी इच्छा को जन्म देती है। कुछ इच्छाएँ एक दूसरे की पूरक होती हैं जैसे ताँगे के लिए घोड़े की आवश्यकता और मोटर के लिए ड्राइवर की। कुछ आवश्यकताओं में प्रतियोगिता होती है जैसे धूम्रपान के लिए सिगरेट, बीड़ी, सिगार, हुक्का, पाइप आदि। इस प्रकार की एक चीज़ दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेती है। इसलिए ऐसी चीज़ों में प्रतियोगिता चलती है। चित्र भी अनेक प्रकार के होते हैं। तुमने जो चित्र देखा था, वह काग़ज़ पर था। परन्तु जो चित्र कपड़े पर बनाये जाते हैं, वे अधिक टिकाऊ होते हैं। उन्हें तैल-चित्र कहते हैं। दीवालों पर भी चित्र बनाये जाते हैं। यह कला का क्षेत्र है। जितना ही इसका चाव

बढ़ेगा, उतना ही अधिक व्यय भी बढ़ेगा, जिस व्यक्ति को ऐसी चीज़ों के संग्रह करने का व्यसन हो जायगा, उसका व्यय-भार वहन करना साधारण श्रेणी के गृहस्थ के लिए अत्यन्त कठिन हो जायगा।

अब ये लोग घर पहुँच गये थे। चाचा बोले—आवश्यकताओं के घटने-बढ़ने पर ही समाज में रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा उठता और नीचे गिरता है। रहन-सहन का दर्जा बढ़ना आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है। परंतु यदि साथ-ही-साथ मनुष्य की आमदनी भी उतनी नहीं बढ़ती तो बढ़े हुए रहन-सहन के दर्जे को बनाए रखने में उसको बड़ी कठिनता होती है और फिर धन प्राप्त करने के लिए उसे ऐसे नाजायज़ या धर्म-विरुद्ध साधनों का सहारा लेना पड़ता है जिनसे देश और समाज की हानि होती है। इससे स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि आर्थिक आवश्यकताओं का नियंत्रण कुछ दशाओं में बहुत ज़रूरी है। इसके संबंध में मैं तुमको फिर कभी बतलाऊँगा। आज तो अब दफ़्र जाने को देरी हो रही है।

सातवाँ अध्याय
उपभोग और सन्तोष

उस दिन मोहन के चाचा बिहारी ने उसे बतलाया था कि आर्थिक आवश्यकताओं को बहुत बढ़ने देना ठीक नहीं है। नित्य बढ़ती हुई अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति जीवन में सम्भव नहीं है। इस बात को तो मोहन ने समझ लिया था। पर उसे अब भी यह शिकायत बनी ही हुई थी कि अगर एक चित्र वे मुझे ख़रीद ही देते, तो ऐसी कोई विशेष हानि न हो जाती।

कई दिन बीत चुके थे। माघ-मेले का मुख्य पर्व जो अमावस का दिन माना जाता है, वह भी बीत चुका था। अब मोहन की माँ सोच रही थी कि घर लौट चलना चाहिए। अतएव उन्होंने बिहारी से कहा कि अब मैं आज ही उन्नाव वापस जाना चाहती हूँ।

बिहारी ने जवाब दिया—अच्छी बात है। तब फिर आज हम लोग लौटते समय कुछ चीज़ें ख़रीदेंगे। बोलो, तुमको कौन-सी चीज़ की ज़रूरत है?

मोहन की मां ने कहा—मुझे तो पत्थर की कटोरियाँ और पीतल का पानदान लेना है।

बिहारी ने पूछा—और तुमको मोहन?

मोहन ने गम्भीर होकर जवाब दिया—मुझे किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं है।

बिहारी अब समझ गया कि मोहन को जो उस दिन वह चित्र उसने नहीं

ले दिया, इसीलिए वह ऐसा रूखा उत्तर दे रहा है। भीतर से वह सम्भवतः असन्तुष्ट है। अतएव उसने कहा—

मनुष्य का चरम उद्देश्य सुख और संतोष प्राप्त करना है। सुख की वृद्धि से संतोष मिलता है। पर सुख की वृद्धि तभी सम्भव है, जब आवश्यकताओं की पूर्ति के सभी साधन सुलभ हों। मनुष्य की यह प्रकृति है कि वह ऐसे अवसरों से सदा बचता रहता है, जिससे उसे दुःख पहुँचे। तभी दुःख होने की परिस्थितियों को वह शक्तिभर उत्पन्न नहीं होने देता। वह बराबर उन्हें टालता रहता है। और जहाँ उसकी स्थिति उसके वश के बाहर हो जाती है वहाँ वह दुःख कम करने के लिए उद्योग करता है। पर संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसे दुःख कभी पहुँचा न हो। प्रायः देखा गया है कि जब किसी व्यक्ति की किसी आवश्यकता की पूर्ति तत्काल नहीं होती, तो वह दुःखी हो उठता है। उस समय निराश होकर वह जो चाहे सो कह और सोच सकता है। पर कोई व्यक्ति यह कभी नहीं कह सकता कि अब मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। जीवन रहते आवश्यकताएँ कभी मिट नहीं सकतीं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्योग करते रहने का नाम ही जीवन है। इसके सिवा एक बात और है। और वह यह कि अगर किसी व्यक्ति की कोई एक आवश्यकता ऐसी है जिसकी पूर्ति तत्काल हो सकती है, तो उससे यह कभी नहीं समझा जा सकता कि उसकी तृप्ति हो गयी। कुछ न कुछ अन्य आवश्यकताएँ उसकी ऐसी अवश्य बनी रहेंगी, जिनकी पूर्ति का अभाव उसी क्षण भड़क उठेगा, जिस समय उसकी एक आवश्यकता की पूर्ति हुई है। इसके सिवा मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह सदा एक ही प्रकार के सुख से तृप्त नहीं रहता। प्रत्येक क्षण पैदा होने और जगनेवाली आवश्यकताओं की तत्काल पूर्ति तो सम्भव नहीं है। इसलिए असन्तोष तो उसका सदा बना ही रहता है।

इसी समय मोहन बोल उठा—जब असन्तोष मनुष्य का कभी मिट नहीं सकता, तो किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करना भी व्यर्थ है। तब तो सब से अच्छा यह है कि मनुष्य संसार से विरक्त होकर साधू-सन्यासी जैसा जीवन व्यतीत करने लगे।

बिहारी तो जानता ही था कि मोहन अब ऐसी ही बात कहेगा। अतएव उसने उत्तर दिया—साधू संन्यासी हो जाने पर भी मनुष्य के मन का असंतोष तो कहीं चला न जायगा। किसी-न-किसी अंश में वह बना तब भी रहेगा। बल्कि सम्भव है, कालान्तर में वह अधिक वेग के साथ भड़क भी उठे। इसके सिवा संसार के कल्याण, विश्व की उन्नति और सभ्यता के विकास में उससे सहायता क्या मिलेगी?

मोहन चुप हो गया था तब बिहारी ने पुनः कहा—सुनो, अर्थशास्त्र में इसके लिए एक विधान है। वह कहता है कि आर्थिक आवश्यकताओं को मर्यादित करके चलने में मनुष्य का कल्याण अधिक सम्भव है। असन्तोष कोई बुरी चीज़ नहीं है। मनुष्य में अगर असन्तोष है, तो उसका अर्थ यह हुआ कि अपनी वर्तमान अवस्था में पड़े-पड़े सड़ना उसे स्वीकार नहीं है। वह अपनी अवस्था सुधारना चाहता है। और स्थिति को शनैः शनैः सुधारते रहने की सतत चेष्टा ही उन्नति का मूल मन्त्र है। पर असन्तोष रहने का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य असन्तोष को दूर करने का यत्न तो न करे, वरन् रात-दिन हाय-हाय करता रहे, अपना दुख हर आदमी के सामने रोता रहे और इस प्रकार अपने जीवन को भार बना डाले, उसे चाहिये कि जहाँ तक सम्भव हो, वह अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को मर्यादित करे। आर्थिक आवश्यकताओं को मर्यादित कर लेने पर अपने आप मनुष्य का असंतोष बहुत अंशों में दूर हो जाता है।

मोहन कहने लगा—लेकिन आर्थिक आवश्यकताओं को मर्यादित करने का कोई उपाय भी तो होना चाहिए।

बिहारी बोल उठा—बेशक। आर्थिक आवश्यकताओं को मर्यादित करने का सबसे अधिक सुगम मार्ग है मनोनिग्रह। अर्थात् अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना। जब मनुष्य अपने आपको तृष्णा और वासना की धारा में बेलगाम छोड़ देता है, तभी तो असन्तोष भड़कता है।

मोहन तब पूछने लगा—अच्छा तो, इस बात का निश्चय कैसे होगा कि मनुष्य का असंतोष कहाँ उचित है और कहाँ अनुचित?

बिहारी ने कहा—यह तो बिल्कुल सीधी सी बात है। मान लो, कोई एक

ग़रीब किसान है। उसका परिवार भी इतना बड़ा है कि वह अत्यधिक परिश्रम करने पर भी इतना अनाज नहीं पैदा कर पाता, जिससे उसका भरण-पोषण हो सके। अब वही किसान अगर किसी दिन किसी अमीर को मोटर में सैर करता हुआ देखकर यह इच्छा करे कि ऐसी ही मोटर मुझे भी मिल जाय, तो उसकी यह तृष्णा प्रमाद ही समझी जायगी। ऐसी स्थिति में उसे सोचना चाहिए कि मोटर पाने की इच्छा करना उसके लिए उचित नहीं है। कारण, यह ऐसी इच्छा है, जिसकी पूर्ति उसकी स्थिति, मर्यादा और सामर्थ्य से बाहर है। उसके लिए उन्हीं वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करना उचित और कल्याणकारक है, जो उसकी मर्यादा के सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार सोचकर अपनी आकांक्षा को संयत करने में उसे जिस सुख और संतोष की प्राप्ति होगी, वह दूसरी तरह सम्भव हो नहीं सकती।

मोहन को अब मौक़ा मिल गया था। वह सोच रहा था कि मेरी इच्छा तो ऐसी कुछ अधिक ऊँची थी नहीं। फिर इन्होंने उसका विरोध क्यों किया? उधर बिहारी अपनी बात पूरी कर ही रहा था कि उसे ख़्याल आ गया कि नयी अमर्यादित इच्छाओं का दमन ही मनोनिग्रह नहीं है, वरन् बुरी और असामयिक, व्यर्थ और हानिकारक इच्छाओं का दमन भी मनोनिग्रह है। तब उसने कहा—उस दिन मैंने बतलाया कि कुछ इच्छाएँ ऐसी होती हैं जो पहले अकेली जान पड़ती हैं, पर उनके पीछे अनेक इच्छाओं का ताँता बँधा रहता है। फ़ैशन, शृंगार और बड़प्पन प्रदर्शित करनेवाली वस्तुएँ ऐसी ही होती हैं। आवश्यकता न रहने पर भी वे प्यारी लगती हैं। उपयोगी न होने पर भी ऐसा जान पड़ता है, जैसे उनकी आवश्यकता है। शांति और संतोष प्राप्त करने के लिए ऐसी असामयिक और व्यर्थ की इच्छाओं का भी दमन करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए।

मोहन की माँ की तबीयत ऊब रही थी। वह बोली—अब बहस ही करते रहोगे, या चलोगे?

बिहारी बोला—हाँ, चलो।

सब लोग मकान से निकलकर सड़क पर आ गये थे। बिहारी ने देखा, रामप्रसाद जा रहे हैं। तब मोहन की ओर देखकर उन्होंने कहा—देखो

मोहन, जो खद्दर के कपड़े पहने और गांधी टोपी दिये हुए, नयी उमर का आदमी जा रहा है, जानते हो, कौन है ?

मोहन ने कहा—मैं क्या जानूँ ?

तब विहारी ने चलते-चलते बतलाया—ये हमारे नगर के एक प्रतिष्ठित रईस के पुत्र हैं। देखो, कैसी शादी पोशाक है ! सच पूछो तो यही हमारा आदर्श होना चाहिए। सादा जीवन और उच्च विचार। हमारे पूर्वज इसी आदर्श के अनुयायी थे। वे अपनी आवश्यकताओं को सदा अपने बश में रखते थे। तभी वे सच्चा सुख-संतोष लाभ करके जीवन को सफल बनाने में कृतकार्य्य होते थे। आज जो अशान्ति, असंतोष, संघर्ष और अनैक्य की लहर विश्व भर में देख पड़ती है, उसका मुख्य कारण यह है कि हमने अपनी आर्थिक इच्छाओं पर नियंत्रण रखना छोड़ दिया है। हम यह भूल रहे हैं कि आर्थिक आवश्यकताओं का नियमन ही जीवन में सच्चे सुख-संतोष की वृद्धि कर सकता है। जो बेचारे ग़रीब हैं वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न होने के कारण दुःख और अशांति का अनुभव करते हैं। परंतु धनवान मनुष्य भी, अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण न कर सकने के कारण सुख और शांति का अनुभव नहीं कर पाते। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, विना मनोनिग्रह के, विना मन को वश में किये शांति और सन्तोप नहीं प्राप्त हो सकता। मन को वश में करना आसान काम नहीं है। परंतु अभ्यास और सत्संग से वह सुलभ हो जाता है। अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करना मन को वश में करने का प्रधान साधन है। विना आर्थिक इच्छाओं पर नियंत्रण किये सादा जीवन व्यतीत करना संभव नहीं है। सादा जीवन व्यतीत करने से धन की हाय-हाय मिट जायगी और वे सब प्रयत्न बंद हो जायँगे जिन के कारण दूसरों को, देश या समाज को हानि पहुँचती है। यह सच है कि इच्छाएँ अपरिमित हैं और सब इच्छाओं की पूर्ति असंभव है। परन्तु आर्थिक इच्छाओं की कमी कर देने पर ऐसी इच्छाओं को प्रोत्साहन मिलेगा जिनके द्वारा देश और समाज का कल्याण हो। यह तभी हो सकेगा जब सादे जीवन के साथ उच्च विचार हों। उस व्यक्ति के विचार

उच्च हो सकते हैं जो अपने प्रत्येक कार्य में दूसरों की भलाई का ध्यान रखता है। यदि संसार के अधिकांश व्यक्ति सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने लगें, तो धन प्राप्त करने के लिए जो बेईमानियाँ संसार में सर्वत्र दिखाई देती हैं वे बन्द हो जायँ, संसार में संतोष और शांति का साम्राज्य स्थापित हो जाय और ग़रीब तथा अमीर सभी को ऐसा सुख प्राप्त हो, जिसके लिए वे आजकल तरस रहे हैं। आजकल मज़दूरों और मालिकों, किसान और ज़मीदारों, काले और गोरों इत्यादि में जो झगड़े चल रहे हैं वे भी बन्द हो जायँ। युद्ध की भी कोई आवश्यकता न रह जाय और जो प्रयत्न आजकल दूसरों को हानि पहुँचाने और नीचा दिखाने के लिए किये जाते हैं वे दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए किये जाने लगें। सादा जीवन और उच्च-विचार के आदर्श के अनुसार चलने पर विलासिता की वस्तुओं और मादक द्रव्यों का प्रचार भी बन्द हो जायगा और करोड़ों रुपये जो आजकल इन वस्तुओं के लिए व्यर्थ में फूँक दिये जाते हैं वे अच्छे कामों में लगाये जाने लगेंगे, जिससे देश और समाज का कल्याण होगा।

मोहन बोला—मैं आपकी बातों को अच्छी तरह से समझ गया हूँ। मैं अब सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करूँगा।

इस प्रकार बात करते सब लोग माघ-मेला में पहुँचे और आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदकर घर वापस आ गये। मोहन अपनी माता के साथ अपने घर उन्नाव चला गया।

आठवाँ अध्याय

सीमांत-उपयोगिता-ह्रास नियम

—०-०-०—
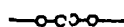
आज श्यामलाल के यहाँ दावत है। उसने कुछ ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया है। मोहन के चाचा विहारी को भी निमंत्रण मिला है। वे अपने एक रिश्तेदार राजाराम के साथ ठीक समय पर श्यामलाल के मकान पर पहुँच गये। सात बजे सायंकाल दावत आरंभ हुई। श्यामलाल ने परोसने का ऐसा अच्छा प्रबंध किया था कि सबको अपनी इच्छानुसार खूब बढ़िया माल खाने को मिला। उस दावत में एक चौबेजी भी भोजन कर रहे थे। श्यामलाल ने चौबेजी के सामने एक लड्डू और परोस दिया। उसके विशेष आग्रह करने पर चौबेजी ने उस लड्डू को खा लिया। अब चौबेजी इतना खा चुके थे कि उनको अधिक लड्डू खाने की बिलकुल इच्छा नहीं थी। इतने में श्यामलाल ने कहा—चौबेजी, यदि आप एक लड्डू लें, तो मैं आपको एक आना पैसा देने को तैयार हूँ। चौबेजी ने एक लड्डू माँगा और उसे शीघ्र पेट के हवाले किया। तब दूसरे लड्डू के लिए श्यामलाल ने दो आना देना स्वीकार किया और चौबेजी उसे भी खा गये। अब तीसरे लड्डू के लिए श्यामलाल जब चार आना देने को तैयार हुआ तो चौबेजी ने कहा—अब मैं एक भी लड्डू नहीं लूँगा, चाहे आप उसके लिए एक रुपया देने को भी तैयार हो जायँ। मेरी तो लड्डुओं से तृप्ति पहले ही हो चुकी थी। यद्यपि उसकी उपयोगिता मुझे कुछ भी नहीं थी, आपके आग्रह करने पर मैंने एक लड्डू ले लिया था। उसके बाद लड्डू खाने से मुझे तकलीफ

मालूम होने लगी। परन्तु उसके बदले में आपने एक आना और दो आने का लालच दिया, इसलिए मैं दो लड्डू और खा गया। परन्तु अब तो उससे इतनी हानि होने की संभावना है कि मैं एक लड्डू एक रुपया के भी बदले खाने को तैयार नहीं हूं।

मोहन का चाचा बिहारी चौबेजी की ये सब बातें ध्यान से सुन रहा था। उसने अपने रिश्तेदार राजाराम से कहा - देखो राजाराम! चौबेजी जो बातें कह रहे हैं वे बड़े महत्व की हैं। उनकी बातों में अर्थशास्त्र का एक नियम छिपा हुआ है। जब हम आज भोजन करने बैठे, तो पहले लड्डू की उपयोगिता हम लोगों को सब से अधिक मालूम हुई। दूसरे लड्डू की उपयोगिता उससे कम। इस प्रकार लड्डुओं की उपयोगिता क्रमशः कम होती गई और जब हमारा पेट भर गया तब उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर होगई। चौबेजी का भी वही हाल हुआ। जब उनको लड्डू की उपयोगिता शून्य के बराबर होगई, तब श्यामलाल के विशेष आग्रह करने पर उसने, एक लड्डू खा लिया। परन्तु उसके बाद लड्डू से उसे हानि होने की संभावना मालूम हुई और जब तक उसे प्रथम लड्डू के लिए एक आना और दूसरे लड्डू के लिए दो आना न मिल गया, उसने उन्हें नहीं खाया। उसके बाद तीसरा लड्डू तो उसने चार आना देने पर भी नहीं खाया। इससे हमको यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि जब हम किसी वस्तु को ग्रहण करते हैं तो प्रथम वस्तु की उपयोगिता हमको सबसे अधिक मालूम होती है। उसके बाद क्रमशः उसकी उपयोगिता कम होने लगती है और उस वस्तु से उसी समय पूर्णरूप से तृप्ति हो जाने पर उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर हो जाती है। उसके बाद फिर अनुपयोगिता आरम्भ होती है। अर्थशास्त्र में इसको सीमांत-उपयोगिता-ह्रास नियम कहते हैं।

राजाराम—सीमांत-उपयोगिता किसे कहते हैं?

बिहारी—मैं उदाहरण देकर तुमको समझाता हूँ। आज हमने सात लड्डू खाये। सात लड्डुओं की सीमांत-उपयोगिता सातवें लड्डू की उपयोगिता के बराबर है। जब सात लड्डू खाकर हमारी तृप्ति होगई तो सातवें लड्डू की उपयोगिता शून्य के बराबर होगई। इसलिये हम कह सकते हैं कि सात

लड्डुओं की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर है। यदि हम पहले लड्डू की उपयोगिता बीस के बराबर मान लें, तो दूसरे लड्डू की उपयोगिता बीस से कम अर्थात् अठारह के बराबर होगी। पहले लड्डू की उपयोगिता २० और सीमान्त-उपयोगिता भी २० ही होगी। दूसरे लड्डू की उपयोगिता १८ और दोनों लड्डुओं की सीमान्त उपयोगिता १८ होगी, परन्तु दोनों लड्डुओं की कुल उपयोगिता २०+१८=३८ होगी। इसी प्रकार जैसे-जैसे हम लड्डुओं की *संख्या बढ़ाते जावेंगे, उनकी सीमान्त उपयोगिता क्रमशः कम होती जायगी* और कुल उपयोगिता बढ़ती जायगी। जब हम उतने लड्डू खा लेंगे जिनसे हमारी तृप्ति हो जायगी तो सीमांत-उपयोगिता शून्य हो जायगी और कुल उपयोगिता सबसे अधिक हो जायगी। उसके बाद सीमान्त-उपयोगिता अनुपयोगिता में परिणत हो जायगी और कुल उपयोगिता कम होने लगेगी। यह हाल लड्डूओं के खाने में ही नहीं होता, वरन् प्रत्येक वस्तु के उपयोग में ऐसा ही होता है। किसी भी वस्तु का परिमाण लीजिए, पहली वस्तु की उपयोगिता सब से अधिक होती है और उसके बाद सीमांत-उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है।

राजाराम—आपकी बातें आसानी से समझ में नहीं आ रही हैं। आप कहते हैं कि लड्डू की उपयोगिता शून्य के बराबर हो जाती है। इस समय तो मेरा पेट भरा हुआ है। यदि मैं लड्डू को अभी न खाकर कल खाऊँ, तो क्या उस समय भी उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर रहेगी।

बिहारी—कदापि नहीं। मैंने जो नियम बतलाया है वह एक समय के ही लिये है। समय के बदल जाने से उपयोगिता भी बदल जायगी। इस समय पेट भर जाने पर जो लड्डू तुम लोगे वह तुम्हारा आठवां लड्डू होगा। इसलिए उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर होगी। परन्तु वही लड्डू जब तुम कल खाने लगोगे उस समय तुम्हारा पहला लड्डू होगा और उससे तुमको उतनी ही उपयोगिता मिलेगी जितनी तुमको आज पहले लड्डू खाने से मिली थी। वस्तु की उपयोगिता मनुष्य की परिस्थिति पर निर्भर रहती है। प्यासे मनुष्य को पानी की

उपयोगिता बहुत अधिक मालूम होती है, परन्तु जब वही मनुष्य पानी पी लेता है तब उसको पानी की कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती। पर मैंने यह जो नियम तुमको बतलाया है वह किसी एक ही समय के लिए है। समय बदल जाने से उपयोगिता भी अवश्य बदल जाती है।

तब राजाराम ने कहा—लेकिन आपके इस नियम में मुझे कुछ भूल जान पड़ती है। क्योंकि अक्सर यह होता है कि अगर हम किसी दूकान पर जाकर एक मिठाई खाते हैं और वह हमको बहुत स्वादिष्ट जान पड़ती है, तो वही मिठाई उसी समय और खाने के लिए हम इतने अधीर हो जाते हैं कि पहले से अधिक दाम देकर भी हम उसे खाने को विवश हो जाते हैं।

बिहारी बोल उठा—तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। यह इस नियम का अपवाद है। तुमने अभी बतलाया है कि एक बार एक मिठाई अच्छी लगने पर वही और ज़्यादा खाने के लिए हम अधिक दाम तक देना स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु आख़िरकार सीमान्त-उपयोगिता की इस वृद्धि की भी एक सीमा होती है। मान लो कि वह मिठाई रसगुल्ला है और एक दूकान में तुमने केवल एक ले लिया। और उसी को और अधिक खाने की तुम्हारी इच्छा हुई। इससे यह संभव है कि दूसरे की उपयोगिता तुमको पहले से अधिक मालूम दे, परन्तु तीसरे की उपयोगिता, दूसरे से अवश्य कम मालूम होने लगेगी। इसी प्रकार अगर वही रसगुल्ला एक-एक करके सवेरे, दोपहर और शाम को खाया जायगा, तो उसकी सीमान्त-उपयोगिता में कोई अन्तर न आयेगा। बात यह है कि सीमान्त उपयोगिता का ह्रास नियम तो मनुष्य की स्वाभाविक रुचि, किसी एक विशेष समय और स्थिति के लिए लागू होता है।

राजाराम चुप हो गया था। वह सोच रहा था कि यह सीमान्त-उपयोगिता का ह्रास-नियम भी एक अजीब नियम है। हम लोग इसे यद्यपि इस रूप में नहीं जानते, तो भी इसकी बातें सभी सही जान पड़ती हैं।

बिहारी इसी समय कहने लगा—इसके सिवा अकसर देखा जाता है कि बड़प्पन और गौरव की वृद्धि के लिए जब हम किसी विशेष वस्तु को ख़रीदने पर तुल जाते हैं, तब भी सीमान्त-उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। मान लो

लड्डुओं की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर है। यदि हम पहले लड्डू की उपयोगिता बीस के बराबर मान लें, तो दूसरे लड्डू की उपयोगिता बीस से कम अर्थात् अठारह के बराबर होगी। पहले लड्डू की उपयोगिता २० और सीमान्त-उपयोगिता भी २० ही होगी। दूसरे लड्डू की उपयोगिता १८ और दोनों लड्डुओं की सीमान्त उपयोगिता १८ होगी, परन्तु दोनों लड्डुओं की कुल उपयोगिता २०+१८=३८ होगी। इसी प्रकार जैसे-जैसे हम लड्डुओं की संख्या बढ़ाते जावेंगे, उनकी सीमान्त उपयोगिता क्रमशः कम होती जायगी और कुल उपयोगिता बढ़ती जायगी। जब हम उतने लड्डू खा लेंगे जिनसे हमारी तृप्ति हो जायगी तो सीमांत-उपयोगिता शून्य हो जायगी और कुल उपयोगिता सबसे अधिक हो जायगी। उसके बाद सीमान्त-उपयोगिता अनुपयोगिता में परिणत हो जायगी और कुल उपयोगिता कम होने लगेगी। यह हाल लड्डूओं के खाने में ही नहीं होता, वरन् प्रत्येक वस्तु के उपयोग में ऐसा ही होता है। किसी भी वस्तु का परिमाण लीजिए, पहली वस्तु की उपयोगिता सब से अधिक होती है और उसके बाद सीमांत-उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है।

राजाराम—आपकी बातें आसानी से समझ में नहीं आ रही हैं। आप कहते हैं कि लड्डू की उपयोगिता शून्य के बराबर हो जाती है। इस समय तो मेरा पेट भरा हुआ है। यदि मैं लड्डू को अभी न खाकर कल खाऊँ, तो क्या उस समय भी उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर रहेगी।

बिहारी—कदापि नहीं। मैंने जो नियम बतलाया है वह एक समय के ही लिये है। समय के बदल जाने से उपयोगिता भी बदल जायगी। इस समय पेट भर जाने पर जो लड्डू तुम लोगे वह तुम्हारा आठवाँ लड्डू होगा। इसलिए उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर होगी। परन्तु वही लड्डू जब तुम कल खाने लगोगे उस समय तुम्हारा पहला लड्डू होगा और उससे तुमको उतनी ही उपयोगिता मिलेगी जितनी तुमको आज पहले लड्डू खाने से मिली थी। वस्तु की उपयोगिता मनुष्य की परिस्थिति पर निर्भर रहती है। प्यासे मनुष्य को पानी की

उपयोगिता बहुत अधिक मालूम होती है, परन्तु जब वही मनुष्य पानी पी लेता है तब उसको पानी की कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती। पर मैंने यह जो नियम तुमको बतलाया है वह किसी एक ही समय के लिए है। समय बदल जाने से उपयोगिता भी अवश्य बदल जाती है।

तब राजाराम ने कहा—लेकिन आपके इस नियम में मुझे कुछ भूल जान पड़ती है। क्योंकि अक्सर यह होता है कि अगर हम किसी दूकान पर जाकर एक मिठाई खाते हैं और वह हमको बहुत स्वादिष्ट जान पड़ती है, तो वही मिठाई उसी समय और खाने के लिए हम इतने अधीर हो जाते हैं कि पहले से अधिक दाम देकर भी हम उसे खाने को विवश हो जाते हैं।

बिहारी बोल उठा—तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। यह इस नियम का अपवाद है। तुमने अभी बतलाया है कि एक बार एक मिठाई अच्छी लगने पर वही और ज़्यादा खाने के लिए हम अधिक दाम तक देना स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु आखिरकार सीमान्त-उपयोगिता की इस वृद्धि की भी एक सीमा होती है। मान लो कि वह मिठाई रसगुल्ला है और एक दूकान में तुमने केवल एक ले लिया। और उसी को और अधिक खाने की तुम्हारी इच्छा हुई। इससे यह संभव है कि दूसरे की उपयोगिता तुमको पहले से अधिक मालूम दे, परन्तु तीसरे की उपयोगिता, दूसरे से अवश्य कम मालूम होने लगेगी। इसी प्रकार अगर वही रसगुल्ला एक-एक करके सबेरे, दोपहर और शाम को खाया जायगा, तो उसकी सीमान्त-उपयोगिता में कोई अन्तर न आयेगा। बात यह है कि सीमान्त उपयोगिता का ह्रास नियम तो मनुष्य की स्वाभाविक रुचि, किसी एक विशेष समय और स्थिति के लिए लागू होता है।

राजाराम चुप हो गया था। वह सोच रहा था कि यह सीमान्त-उपयोगिता का ह्रास-नियम भी एक अजीब नियम है। हम लोग इसे यद्यपि इस रूप में नहीं जानते, तो भी इसकी बातें सभी सही जान पड़ती हैं।

बिहारी इसी समय कहने लगा—इसके सिवा अक्सर देखा जाता है कि बड़प्पन और गौरव की वृद्धि के लिए जब हम किसी विशेष वस्तु को ख़रीदने पर तुल जाते हैं, तब भी सीमान्त-उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। मान लो

लड्डुओं की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर है। यदि हम पहले लड्डू की उपयोगिता बीस के बराबर मान लें, तो दूसरे लड्डू की उपयोगिता बीस से कम अर्थात् अठारह के बराबर होगी। पहले लड्डू की उपयोगिता २० और सीमान्त-उपयोगिता भी २० ही होगी। दूसरे लड्डू की उपयोगिता १८ और दोनों लड्डुओं की सीमान्त उपयोगिता १८ होगी, परन्तु दोनों लड्डुओं की कुल उपयोगिता २०+१८=३८ होगी। इसी प्रकार जैसे-जैसे हम लड्डुओं की संख्या बढ़ाते जावेंगे, उनकी सीमान्त उपयोगिता क्रमशः कम होती जायगी और कुल उपयोगिता बढ़ती जायगी। जब हम उतने लड्डू खा लेंगे जिनसे हमारी तृप्ति हो जायगी तो सीमांत-उपयोगिता शून्य हो जायगी और कुल उपयोगिता सबसे अधिक हो जायगी। उसके बाद सीमान्त-उपयोगिता अनुपयोगिता में परिणत हो जायगी और कुल उपयोगिता कम होने लगेगी। यह हाल लड्डुओं के खाने में ही नहीं होता, वरन् प्रत्येक वस्तु के उपयोग में ऐसा ही होता है। किसी भी वस्तु का परिमाण लीजिए, पहली वस्तु की उपयोगिता सब से अधिक होती है और उसके बाद सीमांत-उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है।

राजाराम—आपकी बातें आसानी से समझ में नहीं आ रही हैं। आप कहते हैं कि लड्डू की उपयोगिता शून्य के बराबर हो जाती है। इस समय तो मेरा पेट भरा हुआ है। यदि मैं लड्डू को अभी न खाकर कल खाऊँ, तो क्या उस समय भी उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर रहेगी।

बिहारी—कदापि नहीं। मैंने जो नियम बतलाया है वह एक समय के ही लिये है। समय के बदल जाने से उपयोगिता भी बदल जायगी। इस समय पेट भर जाने पर जो लड्डू तुम लोगे वह तुम्हारा आठवाँ लड्डू होगा। इसलिए उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर होगी। परन्तु वही लड्डू जब तुम कल खाने लगोगे उस समय तुम्हारा पहला लड्डू होगा और उससे तुमको उतनी ही उपयोगिता मिलेगी जितनी तुमको आज पहले लड्डू खाने से मिली थी। वस्तु की उपयोगिता मनुष्य की परिस्थिति पर निर्भर रहती है। प्यासे मनुष्य को पानी की

उपयोगिता बहुत अधिक मालूम होती है, परन्तु जब वही मनुष्य पानी पी लेता है तब उसको पानी की कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती। पर मैंने यह जो नियम तुमको बतलाया है वह किसी एक ही समय के लिए है। समय बदल जाने से उपयोगिता भी अवश्य बदल जाती है।

तब राजाराम ने कहा—लेकिन आपके इस नियम में मुझे कुछ भूल जान पड़ती है। क्योंकि अक्सर यह होता है कि अगर हम किसी दूकान पर जाकर एक मिठाई खाते हैं और वह हमको बहुत स्वादिष्ट जान पड़ती है, तो वही मिठाई उसी समय और खाने के लिए हम इतने अधीर हो जाते हैं कि पहले से अधिक दाम देकर भी हम उसे खाने को विवश हो जाते हैं।

बिहारी बोल उठा—तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। यह इस नियम का अपवाद है। तुमने अभी बतलाया है कि एक बार एक मिठाई अच्छी लगने पर वही और ज़्यादा खाने के लिए हम अधिक दाम तक देना स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु आख़िरकार सीमान्त-उपयोगिता की इस वृद्धि की भी एक सीमा होती है। मान लो कि वह मिठाई रसगुल्ला है और एक दूकान में तुमने केवल एक ले लिया। और उसी को और अधिक खाने की तुम्हारी इच्छा हुई। इससे यह संभव है कि दूसरे की उपयोगिता तुमको पहले से अधिक मालूम दे, परन्तु तीसरे की उपयोगिता, दूसरे से अवश्य कम मालूम होने लगेगी। इसी प्रकार अगर वही रसगुल्ला एक-एक करके सवेरे, दोपहर और शाम को खाया जायगा, तो उसकी सीमान्त-उपयोगिता में कोई अन्तर न आयेगा। बात यह है कि सीमान्त उपयोगिता का ह्रास नियम तो मनुष्य की स्वाभाविक रुचि, किसी एक विशेष समय और स्थिति के लिए लागू होता है।

राजाराम चुप हो गया था। वह सोच रहा था कि यह सीमान्त-उपयोगिता का ह्रास-नियम भी एक अजीब नियम है। हम लोग इसे यद्यपि इस रूप में नहीं जानते, तो भी इसकी बातें सभी सही जान पड़ती हैं।

बिहारी इसी समय कहने लगा—इसके सिवा अकसर देखा जाता है कि बड़प्पन और गौरव की वृद्धि के लिए जब हम किसी विशेष वस्तु को ख़रीदने पर तुल जाते हैं, तब भी सीमान्त-उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। मान लो

लड्डुओं की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर है। यदि हम पहले लड्डू की उपयोगिता बीस के बराबर मान लें, तो दूसरे लड्डू की उपयोगिता बीस से कम अर्थात् अठारह के बराबर होगी। पहले लड्डू की उपयोगिता २० और सीमान्त-उपयोगिता भी २० ही होगी। दूसरे लड्डू की उपयोगिता १८ और दोनों लड्डुओं की सीमान्त उपयोगिता १८ होगी, परन्तु दोनों लड्डुओं की कुल उपयोगिता २०+१८=३८ होगी। इसी प्रकार जैसे-जैसे हम लड्डुओं की संख्या बढ़ाते जावेंगे, उनकी सीमान्त उपयोगिता क्रमशः कम होती जायगी और कुल उपयोगिता बढ़ती जायगी। जब हम उतने लड्डू खा लेंगे जिनसे हमारी तृप्ति हो जायगी तो सीमांत-उपयोगिता शून्य हो जायगी और कुल उपयोगिता सबसे अधिक हो जायगी। उसके बाद सीमान्त-उपयोगिता अनुपयोगिता में परिणत हो जायगी और कुल उपयोगिता कम होने लगेगी। यह हाल लड्डूओं के खाने में ही नहीं होता, वरन् प्रत्येक वस्तु के उपयोग में ऐसा ही होता है। किसी भी वस्तु का परिमाण लीजिए, पहली वस्तु की उपयोगिता सब से अधिक होती है और उसके बाद सीमांत-उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है।

राजाराम—आपकी बातें आसानी से समझ में नहीं आ रही हैं। आप कहते हैं कि लड्डू की उपयोगिता शून्य के बराबर हो जाती है। इस समय तो मेरा पेट भरा हुआ है। यदि मैं लड्डू को अभी न खाकर कल खाऊँ, तो क्या उस समय भी उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर रहेगी।

बिहारी—कदापि नहीं। मैंने जो नियम बतलाया है वह एक समय के ही लिये है। समय के बदल जाने से उपयोगिता भी बदल जायगी। इस समय पेट भर जाने पर जो लड्डू तुम लोगे वह तुम्हारा आठवां लड्डू होगा। इसलिए उसकी उपयोगिता शून्य के बराबर होगी। परन्तु वही लड्डू जब तुम कल खाने लगोगे उस समय तुम्हारा पहला लड्डू होगा और उससे तुमको उतनी ही उपयोगिता मिलेगी जितनी तुमको आज पहले लड्डू खाने से मिली थी। वस्तु की उपयोगिता मनुष्य की परिस्थिति पर निर्भर रहती है। प्यासे मनुष्य को पानी की

उपयोगिता बहुत अधिक मालूम होती है, परन्तु जब वही मनुष्य पानी पी लेता है तब उसको पानी की कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती । पर मैंने यह जो नियम तुमको बतलाया है वह किसी एक ही समय के लिए है। समय बदल जाने से उपयोगिता भी अवश्य बदल जाती है ।

तब राजाराम ने कहा—लेकिन आपके इस नियम में मुझे कुछ भूल जान पड़ती है। क्योंकि अक्सर यह होता है कि अगर हम किसी दूकान पर जाकर एक मिठाई खाते हैं और वह हमको बहुत स्वादिष्ट जान पड़ती है, तो वही मिठाई उसी समय और खाने के लिए हम इतने अधीर हो जाते हैं कि पहले से अधिक दाम देकर भी हम उसे खाने को विवश हो जाते हैं।

बिहारी बोल उठा—तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। यह इस नियम का अपवाद है। तुमने अभी बतलाया है कि एक बार एक मिठाई अच्छी लगने पर वही और ज़्यादा खाने के लिए हम अधिक दाम तक देना स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु आखिरकार सीमान्त-उपयोगिता की इस वृद्धि की भी एक सीमा होती है। मान लो कि वह मिठाई रसगुल्ला है और एक दूकान में तुमने केवल एक ले लिया। और उसी को और अधिक खाने की तुम्हारी इच्छा हुई। इससे यह संभव है कि दूसरे की उपयोगिता तुमको पहले से अधिक मालूम दे, परन्तु तीसरे की उपयोगिता, दूसरे से अवश्य कम मालूम होने लगेगी। इसी प्रकार अगर वही रसगुल्ला एक-एक करके सवेरे, दोपहर और शाम को खाया जायगा, तो उसकी सीमान्त-उपयोगिता में कोई अन्तर न आयेगा। बात यह है कि सीमान्त उपयोगिता का ह्रास नियम तो मनुष्य की स्वाभाविक रुचि, किसी एक विशेष समय और स्थिति के लिए लागू होता है।

राजाराम चुप हो गया था। वह सोच रहा था कि यह सीमान्त-उपयोगिता का ह्रास-नियम भी एक अजीब नियम है। हम लोग इसे यद्यपि इस रूप में नहीं जानते, तो भी इसकी बातें सभी सही जान पड़ती हैं।

बिहारी इसी समय कहने लगा—इसके सिवा अकसर देखा जाता है कि बड़प्पन और गौरव की वृद्धि के लिए जब हम किसी विशेष वस्तु को ख़रीदने पर तुल जाते हैं, तब भी सीमान्त-उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। मान लो

हमारे ज़िले भर में एक-एक हाथी रखनेवाले पचीस ज़मीदार हैं। ऐसी दशा में अगर हमारे मन में कभी यह विचार पैदा होगा कि दो हाथी रखने पर हमारा बड़प्पन और गौरव बढ़ जायगा, तो दूसरे हाथी की उपयोगिता पहले से अधिक मानी जायगी।

कभी-कभी ऐसा होता है कि कुछ वस्तुएँ कठिनता से मिलनेवाली होती हैं। महात्त्वाकांक्षी होने के कारण हम उनको संग्रह करने में विशेष तृप्ति का अनुभव करते हैं। उस दशा में उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि तुम्हारे पास एक बड़ा हीरा है। अब अगर तुमको मालूम हो जाय कि ऐसा ही एक हीरा, लाला रामदास के पास है, तो तुम्हारी इच्छा यह होगी कि अगर हम उसे भी ख़रीद लें तो कितना अच्छा हो! ऐसी दशा में उसे ख़रीदने में अगर तुमको कुछ अधिक दाम भी देना पड़ेगा, तो तुम उसे ख़रीद लोगे। उस दूसरे हीरे को ख़रीदने में तुम्हें विशेष तृप्ति का अनुभव होगा।

राजाराम ने कहा—ये सब बातें तो मेरी समझ में आ गयीं; पर एक बात आपने नहीं बतलायी। और वह यह कि पैसे का मूल्य तो दुनिया में बराबर आँका जाता है; पर एक अमीर आदमी के लिए दस रुपया कोई चीज़ नहीं होती, और ग़रीब के लिए वही बहुत बड़ी चीज़ होती है। यहाँ तक कि संभव है, आवश्यकता के समय दस रुपये की क़ीमत उसके लिए एक ज़िन्दगी की तरह महत्त्व की हो।

बिहारी बोला—तुम ठीक कहते हो। बात यह है कि द्रव्य के विषय में में भी सीमान्त-उपयोगिता का ह्रास-नियम लागू होता है। ज्यों-ज्यों कोई व्यक्ति धनवान होता जाता है, त्यों-त्यों उसके द्रव्य की उपयोगिता कम होती जाती है। मान लो, कोई व्यक्ति ५०) महीना वेतन पाता है और उसके घर तीन सेर घी प्रति मास ख़र्च होता है। अब अगर उसका वेतन १००) माहवार हो जायगा, तो द्रव्य की सीमांत-उपयोगिता कम हो जायगी और वह पहले से अधिक परिमाण में घी प्रतिमास ख़रीदने लगेगा।

तुमने देखा होगा कि वेतन मिलने पर लोग अधिकांश रुपया पहले

हफ़्ते में ही ख़र्च कर डालते हैं। फिर धीरे-धीरे ख़र्च कम कर देते हैं। यहाँ तक कि महीने के अन्तिम सप्ताह में ख़ाली हाथ होकर बहुत ही अधिक मितव्ययी हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्यों-ज्यों रुपया कम होता जाता है, त्यों-त्यों शेष रुपयों की सीमांत-उपयोगिता बढ़ती जाती है। अंतिम रुपये की उपयोगिता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि लोग बहुत सोच-विचारकर ख़र्च करते हैं। परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि द्रव्य की सीमांत-उपयोगिता बहुत धीरे-धीरे घटती-बढ़ती है। वस्तुओं का परिमाण बढ़ने से उसकी सीमांत-उपयोगिता में कमी होती है। द्रव्य के बढ़ने से सीमांत-उपयोगिता में कमी तो अवश्य होती है, पर बहुत कम।

राजाराम ने कहा—मैं अब इस नियम को अच्छी तरह समझ गया हूँ। बहुत देर हो गई है। अब हम लोगों को घर चलना चाहिए।

श्यामलाल को धन्यवाद देकर सब लोग अपने-अपने घर चले गये।

नवाँ अध्याय

सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम

राजाराम ने सवेरे उठते ही बिहारी से कहा—जीजा जी, आज आपकी छुट्टी का दिन है और मुझे कुछ चीज़ें ख़रीदनी हैं। अगर साथ में आप भी चलें, तो अच्छा हो। तुम्हारे साथ रहने से एक तो मैं ठगाऊँगा नहीं, दूसरे बातचीत में रास्ता चलना भी नहीं खलेगा।

बिहारी बोला—अच्छी बात है। मैं भी चलूँगा।

दोनों बाज़ार जाने के लिए तैयार हो गये।

थोड़ी दूर जाते ही बिहारी ने पूछा—क्या-क्या ख़रीदना है तुमको? राजाराम ने कहा—क्या बतलाऊँ जीजा, चीज़ें तो बहुत सी ख़रीदनी हैं, पर उन सब के लिए रुपये पूरे होंगे, इसमें सन्देह है।

मुसकराते हुए बिहारी ने कहा—यह और अच्छी बात है।

राजाराम बोला—आप मज़ाक समझते हैं, लेकिन मैं सची बात कह रहा हूँ। स्थिति ही ऐसी हो रही है। किया क्या जाय?

बिहारी—मज़ाक नहीं, मैं बिल्कुल ठीक-ही-ठीक कह रहा हूँ। मैं और तुम ही अकेले नहीं, संसार में प्रत्येक मनुष्य सदा यही चाहता है कि जो कुछ भी द्रव्य वह ख़र्च करे, उससे उसको अधिक-से-अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। यह तै करना आसान नहीं है कि किस समय, कौन-कौन-सी वस्तुएँ किस परिमाण में ख़रीदी जायँ। जब कभी कई चीज़ें ख़रीदनी होती हैं, तब सदा यही समस्या सामने आ जाती है कि इन वस्तुओं में किसकी उपयोगिता सबसे अधिक है। प्रायः हमको अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता रहती है

और उनमें से कुछ वस्तुएँ तो विविध संख्या में लेनी पड़ती हैं। और सीमान्त-उपयोगिता-ह्रास-नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु को अधिक परिमाण में ख़रीदने से उसकी सीमान्त-उपयोगिता धीरे-धीरे कम होती जाती है। अतएव हमको यह निश्चय करने में प्रायः बहुत कठिनाई होती है कि इन अनेक वस्तुओं में से कौन-कौन-सी वस्तुएँ और कितनी-कितनी—किस-किस परिमाण में—ख़रीदी जायँ, ताकि हमें अपने द्रव्य से अधिक से-अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। अर्थशास्त्र में इस बात का विवेचन बहुत विस्तार से किया गया है। इसे सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम कहते हैं।

आश्चर्य्य से राजाराम ने कहा—अच्छा! तो अर्थशास्त्र में हमारे दैनिक जीवन की इन छोटी-छोटी समस्याओं पर विचार किया गया है।

बिहारी ने कहा—हाँ, दैनिक जीवन में जिस किसी बात का सम्बन्ध मनुष्य के श्रम, उपार्जन और उपभोग से है, फिर चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, अर्थशास्त्र में उसका विवेचन अपना एक निश्चित स्थान रखता है।

राजाराम ने पूछा—अच्छा तो आपने अभी वह जो एक नया नियम बतलाया उसका अभिप्राय क्या है?

बिहारी बोल उठा—उस सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम का अर्थ यह है कि प्रत्येक उपभोग करनेवाला व्यक्ति अपनी आय के द्रव्य का विभाजन, उपभोग की वस्तुओं पर, इस भाँति करे कि उसको प्रत्येक वस्तु पर ख़र्च किये गये अन्तिम रुपये से क़रीब-क़रीब बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। इस तरह उसको अधिक-से-अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। और ऐसा तभी हो सकता है जब प्रत्येक वस्तु पर ख़र्च होनेवाले अन्तिम सिक्के से समान सीमान्त उपयोगिता की प्राप्ति हो।

दोनों रास्ता चलते जाते हैं। राजाराम जो बात नहीं समझ पाता है, उसकी बात तो दूर रही, जिसको एक बार समझ भी लेता है, बिहारी के आगे बोलते रहने पर, वह उसे भी भूल जाता है। अतएव उसने कहा—अभी ठीक तरह से यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। अब इसे ऐसे ढँग से बतलाइये कि एकदम पूरी तरह से समझ में आ जाय। पढ़ा ज़रूर थोड़ा बहुत हूँ, लेकिन हूँ तो आख़िरकार किसान ही। लपेट की बात ज़रा देर से

नवाँ अध्याय

सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम

राजाराम ने सवेरे उठते ही बिहारी से कहा—जीजा जी, आज आपकी छुट्टी का दिन है और मुझे कुछ चीज़ें ख़रीदनी हैं। अगर साथ में आप भी चलें, तो अच्छा हो। तुम्हारे साथ रहने से एक तो मैं ठगाऊँगा नहीं, दूसरे बातचीत में रास्ता चलना भी नहीं खलेगा।

बिहारी बोला—अच्छी बात है। मैं भी चलूँगा।

दोनों बाज़ार जाने के लिए तैयार हो गये।

थोड़ी दूर जाते ही बिहारी ने पूछा—क्या-क्या ख़रीदना है तुमको? राजाराम ने कहा—क्या बतलाऊँ जीजा, चीज़ें तो बहुत सी ख़रीदनी हैं, पर उन सब के लिए रुपये पूरे होंगे, इसमें सन्देह है।

मुसकराते हुए बिहारी ने कहा—यह और अच्छी बात है।

राजाराम बोला—आप मज़ाक समझते हैं, लेकिन मैं सच्ची बात कह रहा हूँ। स्थिति ही ऐसी हो रही है। किया क्या जाय?

बिहारी—मज़ाक नहीं, मैं बिल्कुल ठीक-ही-ठीक कह रहा हूँ। मैं और तुम ही अकेले नहीं, संसार में प्रत्येक मनुष्य सदा यही चाहता है कि जो कुछ भी द्रव्य वह ख़र्च करे, उससे उसको अधिक-से-अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। यह तो इतना आसान नहीं है कि किस समय, कौन-कौन-सी वस्तुएँ, किस परिमाण में ख़रीदी जायँ। जब कभी कई चीज़ें ख़रीदनी होती हैं, तब सदा यही समस्या सामने आ जाती है कि उन वस्तुओं में किसकी उपयोगिता सबसे अधिक है। प्रायः हमको अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता रहती है

और उनमें से कुछ वस्तुएँ तो विविध संख्या में लेनी पड़ती हैं। और सीमान्त-उपयोगिता-ह्रास-नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु को अधिक परिमाण में ख़रीदने से उसकी सीमान्त-उपयोगिता धीरे-धीरे कम होती जाती है। अतएव हमको यह निश्चय करने में प्रायः बहुत कठिनाई होती है कि इन अनेक वस्तुओं में से कौन-कौन-सी वस्तुएँ और कितनी-कितनी—किस-किस परिमाण में—ख़रीदी जायँ, ताकि हमें अपने द्रव्य से अधिक-से-अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। अर्थशास्त्र में इस बात का विवेचन बहुत विस्तार से किया गया है। इसे सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम कहते हैं।

आश्चर्य्य से राजाराम ने कहा—अच्छा! तो अर्थशास्त्र में हमारे दैनिक जीवन की इन छोटी-छोटी समस्याओं पर विचार किया गया है।

बिहारी ने कहा—हाँ, दैनिक जीवन में जिस किसी बात का सम्बन्ध मनुष्य के श्रम, उपार्जन और उपभोग से है, फिर चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, अर्थशास्त्र में उसका विवेचन अपना एक निश्चित स्थान रखता है।

राजाराम ने पूछा—अच्छा तो आपने अभी वह जो एक नया नियम बतलाया उसका अभिप्राय क्या है?

बिहारी बोल उठा—उस सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम का अर्थ यह है कि प्रत्येक उपभोग करनेवाला व्यक्ति अपनी आय के द्रव्य का विभाजन, उपभोग की वस्तुओं पर, इस भाँति करे कि उसको प्रत्येक वस्तु पर ख़र्च किये गये अन्तिम रुपये से क़रीब-क़रीब बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। इस तरह उसको अधिक-से-अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। और ऐसा तभी हो सकता है जब प्रत्येक वस्तु पर ख़र्च होनेवाले अन्तिम सिक्के से समान सीमान्त उपयोगिता की प्राप्ति हो।

दोनों रास्ता चलते जाते हैं। राजाराम जो बात नहीं समझ पाता है, उसकी बात तो दूर रही, जिसको एक बार समझ भी लेता है, बिहारी के आगे बोलते रहने पर, वह उसे भी भूल जाता है। अतएव उसने कहा—अभी ठीक तरह से यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। अब इसे ऐसे ढँग से बतलाइये कि एकदम पूरी तरह से समझ में आ जाय। पढ़ा ज़रूर थोड़ा बहुत हूँ, लेकिन हूँ तो आख़िरकार किसान ही। लपेट की बात ज़रा देर से

समझ पाता हूँ।

तब बिहारी ने कहा—अच्छा लो, उदाहरण देकर समझाता हूँ। मान लो, किसी व्यक्ति के पास आठ रुपये ख़र्च करने के लिए हैं और उस को गेहूँ, चावल, कपड़ा और चीनी ख़रीदनी है। अब उसके लिए विचारणीय यह है कि वह प्रत्येक रुपये को किस प्रकार ख़र्च करे, जिससे उसको सब से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। ऐसी दशा में उसे देखना यह होगा कि किस वस्तु को पहले ख़रीदने से उसे उपयोगिता की अधिक-से-अधिक प्राप्ति होगी। मान लो, पहला रुपए ख़र्च करने पर जो गेहूँ प्राप्त हो, उसकी उपयोगिता १००, इसी प्रकार चावल से ८०, कपड़े से ९० और चीनी से ६० है। अतएव वह व्यक्ति पहला रुपया गेहूँ पर ख़र्च करके १०० उपयोगिता प्राप्त करेगा, पर दूसरा रुपया भी अगर वह गेहूँ पर ख़र्च करेगा, तो उस दूसरे रुपये से उसे ८० उपयोगिता ही मिलेगी, जब कि उसी दूसरे रुपये को वह अगर कपड़े पर ख़र्च करता, तो उसे ९० उपयोगिता मिलती। यदि वह उस दूसरे रुपये को चावल ख़रीदने में ख़र्च करे, तो भी उसे चावल पर ८० उपयोगिता ही मिलेगी। इसी प्रकार चीनी पर ६०। अतएव वह सोच-समझकर दूसरे रुपये को कपड़ा ख़रीदने में ही ख़र्च करना अधिक पसन्द करेगा, क्योंकि उस दशा में उस को ९० उपयोगिता मिलेगी। इसके बाद उसे तीसरा रुपया ख़र्च करना है। अब ध्यान देने योग्य बात यह है यह तीसरा रुपया गेहूँ के लिए दूसरा, चावल और चीनी के लिए पहला होगा। और गेहूँ की सीमान्त उपयोगिता दूसरे रुपये के लिए ८० है, चावल और चीनी की क्रमशः ८० और ६०। कपड़े के लिए यह दूसरा रुपया होगा और उससे उसे अब की बार ७० उपयोगिता मिलेगी। अतएव यह तीसरे और चौथे रुपये को गेहूँ और चावल ख़रीदने में ख़र्च करके क्रमशः ८०-८० उपयोगिता प्राप्त करेगा। दोनों से उसे समान उपयोगिता प्राप्त होगी।

गजाधर अब तक था, [illegible] उसके मस्तक में आ रही है। [illegible] कहा गया—

अब पाँचवें रुपए का नम्बर आता है। अब वह सोचेगा कि गेहूं के लिए इस पाँचवें रुपये की उपयोगिता वास्तव में तीसरे रुपये के समान है और उसे उसको अबकी बार ६० उपयोगिता मिलेगी, इसी प्रकार चावल के लिए वह दूसरे रुपये के समान है और उसको ६० उपयोगिता मिलेगी। चीनी के लिए यद्यपि वह पहला ही है, तो भी उसे ६० उपयोगिता ही मिल सकती है। अब केवल कपड़ा ही एक ऐसी वस्तु शेष रह जाती है जिस पर उसे ७० उपयोगिता मिल सकती है; क्योंकि उस पर वह दूसरे रुपये के समान है। अतएव सोच-समझकर वह पाँचवें रुपये को कपड़े पर ख़र्च करके ७० उपयोगिता प्राप्त करना अधिक पसन्द करेगा।

यहाँ राजाराम बोल उठा—लेकिन पाँच रुपये उसके ख़र्च हो गये और चीनी उसने अब भी नहीं ली। जब कि चीनी लेना भी उसके लिए आवश्यक है।

बिहारी ने तुरन्त उत्तर दिया—घबड़ाओ नहीं, मैं उसे भूला नहीं हूं। हाँ तो छठे और सातवें रुपये को वह क्रमशः गेहूं और चावल पर ख़र्च करके प्रत्येक पर ६०-६० उपयोगिता प्राप्त करते हुए अंत में आठवें रुपये की चीनी लेकर ६० उपयोगिता प्राप्त करने का लाभ उठायेगा। इस प्रकार प्रत्येक रुपये पर वह अधिक-से-अधिक उपयोगिता प्राप्त कर सकेगा। अब यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपने आठ रुपए का विभाजन, आवश्यक वस्तुओं की ख़रीद में, उसने इस प्रकार किया—

३ रुपये गेहूँ ख़रीदने में
२ रुपये चावल ख़रीदने में
२ रुपये कपड़ा ख़रीदने में
१ रुपया चीनी ख़रीदने में

गेहूँ ख़रीदने में उसे क्रमशः १००, ८०, ६० उपयोगिता मिली, चावल ख़रीदने में ८०, ६०; कपड़ा ख़रीदने में ९०, ७० और चीनी में ६०। अब ज़रा यह देखो कि जो वस्तुएँ ख़रीदी गई हैं उनकी सीमान्त उपयोगिता क्या है। गेहूँ की ६०, चावल की ६०, कपड़े की ७० और

समझ पाता हूँ।

तब बिहारी ने कहा—अच्छा लो, उदाहरण देकर समझाता हूँ। मान लो, किसी व्यक्ति के पास आठ रुपये ख़र्च करने के लिए हैं और उस को गेहूँ, चावल, कपड़ा और चीनी ख़रीदनी है। अब उसके लिए विचारणीय यह है कि वह प्रत्येक रुपये को किस प्रकार ख़र्च करे, जिससे उसको सब से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो। ऐसी दशा में उसे देखना यह होगा कि किस वस्तु को पहले ख़रीदने से उसे उपयोगिता की अधिक-से-अधिक प्राप्ति होगी। मान लो, पहला रुपए ख़र्च करने पर जो गेहूँ प्राप्त हो, उसकी उपयोगिता १००, इसी प्रकार चावल से ८०, कपड़े से ९० और चीनी से ६० है। अतएव वह व्यक्ति पहला रुपया गेहूँ पर ख़र्च करके १०० उपयोगिता प्राप्त करेगा, पर दूसरा रुपया भी अगर वह गेहूँ पर ख़र्च करेगा, तो उस दूसरे रुपये से उसे ८० उपयोगिता ही मिलेगी, जब कि उसी दूसरे रुपये को वह अगर कपड़े पर ख़र्च करता, तो उसे ९० उपयोगिता मिलती। यदि वह उस दूसरे रुपये को चावल ख़रीदने में ख़र्च करे, तो भी उसे चावल पर ८० उपयोगिता ही मिलेगी। इसी प्रकार चीनी पर ६०। अतएव वह सोच-समझकर दूसरे रुपये को कपड़ा ख़रीदने में ही ख़र्च करना अधिक पसन्द करेगा, क्योंकि उस दशा में उस को ९० उपयोगिता मिलेगी। इसके बाद उसे तीसरा रुपया ख़र्च करना है। अब ध्यान देने योग्य बात यह है यह तीसरा रुपया गेहूँ के लिए दूसरा, चावल और चीनी के लिए पहला होगा। और गेहूँ की सीमान्त उपयोगिता दूसरे रुपये के लिए ८० है, चावल और चीनी की क्रमशः ८० और ६०। कपड़े के लिए यह दूसरा रुपया होगा और उससे उसे अब की बार ७० उपयोगिता मिलेगी। अतएव वह तीसरे और चौथे रुपये को गेहूँ और चावल ख़रीदने में ख़र्च करके क्रमशः ८०-८० उपयोगिता प्राप्त करेगा। दोनों में उसे समान उपयोगिता प्राप्त होगी।

[illegible]

अब पाँचवें रुपए का नम्बर आता है। अब वह सोचेगा कि गेहूँ के लिए इस पाँचवें रुपये की उपयोगिता वास्तव में तीसरे रुपये के समान है और उसे उसको खर्च करके ६० उपयोगिता मिलेगी, इसी प्रकार चावल के लिए यह दूसरे रुपये के समान है और इससे ६० उपयोगिता मिलेगी। चीनी के लिए यद्यपि यह पहला ही है, तो भी उसे ६० उपयोगिता ही मिल सकती है। अब केवल कपड़ा ही एक ऐसी वस्तु शेष रह जाती है जिस पर उसे ७० उपयोगिता मिल सकती है; क्योंकि इस पर यह दूसरे रुपये के समान है। इसलिए सीमान्त-नियमानुसार वह पाँचवें रुपये को कपड़े पर खर्च करके ७० उपयोगिता प्राप्त करना अधिक पसन्द करेगा।

यहाँ राजाराम बोल उठा—लेकिन पाँच रुपये उसके खर्च हो गये और चीनी उसने अब भी नहीं ली। जब कि चीनी लेना भी उसके लिए आवश्यक है।

बिहारी ने तुरन्त उत्तर दिया—घबराओ नहीं, मैं उसे भूला नहीं हूँ। हाँ तो छठे और सातवें रुपये को वह क्रमशः गेहूँ और चावल पर खर्च करके प्रत्येक पर ६०-६० उपयोगिता प्राप्त करते हुए अंत में आठवें रुपये की चीनी लेकर ६० उपयोगिता प्राप्त करने का लाभ उठायेगा। इस प्रकार प्रत्येक रुपये पर वह अधिक-से-अधिक उपयोगिता प्राप्त कर सकेगा। अब यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपने आठ रुपए का विभाजन, आवश्यक वस्तुओं की खरीद में, उसने इस प्रकार किया—

२ रुपये गेहूँ खरीदने में

२ रुपये चावल खरीदने में

२ रुपये कपड़ा खरीदने में

१ रुपया चीनी खरीदने में

गेहूँ खरीदने में उसे क्रमशः १००, ८०, ६० उपयोगिता मिली, चावल खरीदने में ८०, ६०; कपड़ा खरीदने में ९०, ७० और चीनी में ६०। अब ज़रा यह देखो कि जो वस्तुएँ खरीदी गई हैं उनकी सीमान्त उपयोगिता क्या है। गेहूँ की ६०, चावल की ६०, कपड़े की ७० और

चीनी की ६० है। ये प्रायः बराबर हैं इसीलिए हम यह कह सकते हैं कि ख़रीदने में सब वस्तुओं की सीमान्त-उपयोगिता बराबर कर लेने में ही अधिक-से-अधिक उपयोगिता प्राप्त हो सकती है। इसी को सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम कहते हैं। दूसरी रीति से उसे इससे अधिक उपयोगिता की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती थी।

इसी क्षण राजाराम बोल उठा—लेकिन इस तरह तो प्रत्येक आदमी के लिए, बाज़ार जाते समय, यह आवश्यक हो जाता है कि वह वस्तुओं की उपयोगिता की तालिका साथ लेता चले।

बिहारी ने तुरन्त उत्तर दिया—नहीं, यह बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति विविध वस्तुओं को ख़रीदते समय, प्रत्येक वस्तु पर अन्तिम रुपया ख़र्च करता हुआ अपने मन में उससे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता की तुलना करता है। जब उसे यह मालूम होने लगता है कि अन्तिम रुपये से किसी वस्तु का जो परिमाण ख़रीदा गया है उसकी उपयोगिता उसके रुपये की उपयोगिता के बराबर है, तब वह उस वस्तु का अधिक परिमाण ख़रीदना अस्वीकार कर देता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि उसे दो वस्तुओं की उपयोगिता बराबर जान पड़ती है और वह सोच-विचार में पड़ जाता है। यहाँ तक कि वह जल्दी निश्चय नहीं कर पाता कि किसको ख़रीदा जाय और किसको छोड़ दिया जाय। यदि उसके पास दोनों वस्तुओं को ख़रीदने योग्य यथेष्ट द्रव्य नहीं होता, तो ऐसी दशा में सम-सीमान्त-उपयोगिता का नियम ही अभाव रूप से उसका सहायक होता है।

दोनों बाज़ार के निकट जा पहुँचे थे। बिहारी ने इसी समय कहा—इस नियम में विशेष ध्यान रखने योग्य बात है—समय। जिन वस्तुओं को ख़रीदने के लिए हम उनकी उपयोगिता की तुलना करते हैं, उनका तुलनात्मक विचार एक ही समय में होना चाहिए। समय के बदल जाने से इन वस्तुओं की उपयोगिता में भी भिन्नता आ जाती है। यदि हमको प्रथम रुपया ख़र्च करने पर [illegible] ख़रीदने में १०० और [illegible] ख़रीदने में ८० की उपयोगिता मिलती है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि [illegible] वस्तुएँ [illegible]

योगिता प्राप्त होगी। यह भी संभव है कि उस समय गेहूँ ख़रीदने में हमें १०० के बजाय ९० ही उपयोगिता प्राप्त हो। और तब हम उस रुपये से गेहूँ न ख़रीदकर कपड़ा ख़रीदना अधिक पसन्द करें। अतएव ध्यान में रखने की बात यह है कि जब हम सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम के अनुसार द्रव्य ख़र्च करने में वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना करते हैं, तो वह तुलना उसी विशेष अवसर के लिए मान्य होती है। उस समय के निकल जाने पर, दूसरे समय जब हम वस्तुएँ ख़रीदेंगे, तब हमें पुनः नये सिरे से तुलना करने पर विवश होना पड़ेगा।

राजाराम ने कहा—वाह! यह कितने आनन्द की बात है कि आपने जो उदाहरण हमारे सामने उपस्थित किया है, मानो वह मेरे ही लिये हो। सचमुच मुझे आज आठ रुपये के अन्दर यही सब चीज़ें ख़रीदनी हैं। परसों मुन्नू का जन्म दिन जो है।

बिहारी बोले—तेज़ बहुत हैं। और ये छोटे किस भाव दिये?

"ले लीजिये, बहुत सस्ते दे दूँगा।" कहता हुआ दूकानदार दोनों हाथों से संतरे उठा-उठाकर मोहन के चाचा को देने लगा।

बिहारी बोले—रक्खो रक्खो, अभी लेता हूँ। पहले भाव तो ठहरा लो।

दूकानदार बोला—एक रुपये के पचीस लगाये हैं।

बिहारी ने कहा—पचीस नहीं, देना हो, तो एक रुपये के बत्तिस के हिसाब से दो। हम आठ ले लेंगे।

दूकानदार जब संतरे बिहारी को देने लगा, तो बिहारी ने राजाराम से कहा—अच्छे से आठ निकाल लो।

राजाराम संतरे चुनने लगा और उसके जीजा ने जेब से चार आने पैसे निकालकर दूकानदार को दे दिये। राजाराम भी संतरे छांटकर झोले में भर दिये और दोनों फिर बाज़ार घूमते हुए एक ओर को चल दिये।

थोड़ी दूर चलने पर उसके जीजा एक शराफ़े की दूकान पर बैठ गये। राजाराम भी वहीं बैठ गया। पर बैठते ही वह बोला—मुझे इस सौदे के पट जाने में शक हो रहा था। जब आपने कहा तेज़ बहुत हैं, तब मैं एक तरह से निराश हो गया था। बल्कि मेरे मन में तो यह भाव भी आया था कि आज इन संतरों के ख़रीदने की आपकी इच्छा ही नहीं है।

तब तो बिहारी मुसकराते हुए बोल उठे—इच्छा शब्द बहुत व्यापक है। आवश्यकता न होने पर भी बहुतेरी वस्तुएँ देखकर ख़रीदने का भाव मन में पैदा होता है। उसे हम इच्छा कह सकते हैं। पर एक इच्छा वह होती है, जिसके उत्पन्न होने पर हम उसकी पूर्ति के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं। जब वह वस्तु हमें प्राप्त हो जाती है, तो हमें एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव होता है। अर्थशास्त्र ऐसी इच्छा को आवश्यकता मानता है। इसके अनुसार मनुष्य अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए उद्योग करता है। जैसे अगर हम उस संतरे वाले के यहाँ केवल यह कहकर चल देते कि बड़े मँहगे हैं, तो यह मानना पड़ता कि हमें संतरों की आवश्यकता नहीं है। पर हमने ऐसा न करके उस से कुछ छोटे संतरों का भाव-ताव किया और अन्त में हमें सफलता मिली। और इससे यह प्रमाणित हो गया कि मुझे इनकी आवश्यकता थी।

कि वह संतरेवाला अपने मन से ही वे बड़े बीस संतरे एक रुपये पर देने को तैयार था। तुमने यह भी देखा होगा कि जब हमने भाव पूछा था, तब उसने सबसे पहले यही सवाल किया था कि लीजियेगा कितने संतरे? मैंने देखा कि वे संतरे बड़े होने के कारण मँहगे हैं। पर अगर मैं बीसों संतरे लेना स्वीकार करता, तो यह भी सम्भव था कि वह एक रुपये के बजाय बारह आने में ही उन्हें दे देता। और तब इन संतरों की अपेक्षा वे कुछ मँहगे पड़ते। ये हमको चार आने के आठ पड़े हैं, अर्थात् अगर मैं दस लेता तो पाँच आने के पड़ते। और वे संतरे कुछ बड़े होने के कारण दस केवल छः आने के पड़ते।

राजाराम इसी क्षण बोल उठा—तो इस तरह से इस छोटे संतरों को लेकर आप ठगा गये।

बिहारी हँस पड़े और बोले—लेकिन तुम नहीं जानते कि इसके अन्दर भी अर्थशास्त्र का एक सिद्धान्त छिपा हुआ है। और वह है—माँग का नियम। यह सम-सिद्धान्त-उपयोगिता तथा सीमान्त-उपयोगिता-ह्रास-नियम से निकलता है। जब हम किसी वस्तु को अधिक परिमाण में ख़रीदते हैं, तो सीमान्त उपयोगिता-ह्रास-नियम के अनुसार, क्रमशः उस वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है। तुम्हें पहले मालूम हो चुका है कि पहले संतरे से दूसरे संतरे की उपयोगिता कम होगी, फिर दूसरे से तीसरे की कम होगी। एक संतरा लेने के लिए तो हम शायद चार पैसे भी ख़र्च करने को तैयार हो जायँ, पर दसवाँ संतरा हम इस भाव से कभी नहीं लेंगे। वही दूकानदार अभी चार आने में आठ संतरे दे चुका है, पर अगर एक संतरा हम उससे दो पैसे में लेना चाहते, तो कभी न देता। जब उसने दो पैसे का एक संतरा दिया है, तब हमने आठ लिये हैं, किन्तु यही संतरे यदि वह तीन पैसे के हिसाब से देता, तो हम ६ से अधिक नहीं ले सकते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं जब संतरों का भाव दो पैसा फ़ी संतरा है, तब हमारी माँग आठ संतरे की है, किन्तु यदि उन्हीं संतरों का भाव एक पैसा फ़ी संतरा हो, तो हमारी माँग सोलह या बीस संतरों की हो जायगी।

राजाराम का सन्देह अब भी दूर नहीं हो रहा था। अतएव उसने पूछा—

जब संतरों की क़ीमत दो पैसा फ़ी संतरा होगी, तब हम आठ ले लेंगे, पर यदि उसकी क़ीमत घटकर फ़ी पैसा एक संतरा हो जायगी, तो हम अधिक से अधिक सोलह ही लेंगे। इससे सिद्ध होता है कि क़ीमत घटने से मांग बढ़ती और क़ीमत बढ़ने से मांग घट जाती है। यही मांग का नियम है।

वार्तालाप चल रहा था। बिहारी और राजाराम दोनों संतरे छील छील कर खा रहे थे। बीच-बीच में बातें भी होती जाती थीं। बिहारी की उपर्युक्त बात के समाप्त होते-होते राजाराम चुप हो रहा। बिहारी ने समझ लिया कि बात उसकी समझ में आ गई। तब उसने कहा—किन्तु ये नियम भी एक निश्चित समय और परिस्थिति के लिए हैं। गर्मियों में संतरों की आवश्यकता जाड़ों से अधिक पड़ती है। इसलिए गर्मियों में संतरे हम एक आना फ़ी संतरे के भाव से तीन तक ख़रीद ले सकते हैं। पर जाड़ों में हम शायद इस भाव पर एक भी ख़रीदना स्वीकार न करेंगे। इसी प्रकार आमदनी जब अधिक बढ़ जाती है, तो द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता घट जाती है। उस दशा में जो आदमी पहले दो पैसे फ़ी संतरा के हिसाब से चार संतरे भी नहीं ख़रीद सकता था, सम्भव है, आमदनी बढ़ जाने से वह एक आना फ़ी संतरे के हिसाब से ५, दो पैसे फ़ी संतरे के हिसाब से १६ और एक पैसे फ़ी संतरे के हिसाब से २५ संतरे तक ख़रीद ले।

संतरे के छिलके को अलग फेंकते हुए अब राजाराम ने कहा—मांग बढ़ जाने से चीज़ों के परिमाण में यकायक कमी भी तो आ जाती है। तब लोग उस चीज़ को भाव बढ़ाकर बेचने लगते हैं।

बिहारी ने उत्तर दिया—साधारण रूप से तुम्हारा कहना ठीक है। पर चीज़ की मांग बढ़ जाने का प्रभाव उसकी उत्पत्ति पर भी तो पड़ता है। जिस चीज़ की मांग बढ़ जाती है, लोग उसे अधिक मात्रा में उत्पन्न करते हैं। जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि हम या तो पहली क़ीमत पर पहले की अपेक्षा अधिक परिमाण में उस वस्तु को ख़रीदते हैं, या उससे अधिक क़ीमत पर या उतनी ही या अधिक परिमाणों में। तब उस वस्तु की मांग बहुत बढ़ जाती है। और इस प्रकार से मांग बढ़ने को अर्थ-

आ पहुँचा। सेठ जी ने झट खोलकर देखा। देखते-देखते उनका चेहरा खिल उठा। उन्होंने कहा—चाँदी का भाव पचास से बढ़कर अट्ठावन रुपए पर पहुँच गया !

बिहारी ने इसी समय कहा—देखो, माँग की प्रबलता का ही यह फल है कि इसी क्षण सेठ जी को सैकड़ों रुपये का फ़ायदा प्रत्यक्ष रूप से अपने सामने देख पड़ रहा है !

ग्यारहवाँ अध्याय

उपभोक्ता की बचत

विहारी भोजन करने के वाद अपने कमरे में आराम कर रहा था। दिल-बहलाव के लिए वह एक उपन्यास पढ़ने लगा। इतने में राजाराम आ गया। विहारी ने पुस्तक का पढ़ना वन्द कर दिया। और वह राजाराम से इधर-उधर की बातें करने लगा। राजाराम ने वतलाया कि सरकार ने पोस्टकार्ड की दर दो पैसे से वढ़ाकर तीन पैसा कर दिया है। उसे अपने लड़के के पास एक कार्ड भेजना था। जब वह डाकघर गया तो उसे एक पोस्टकार्ड के लिए तीन पैसे देने पड़े थे। इस दर के वढ़ जाने से तो ग़रीवों को वहुत नुक़सान होगा।

विहारी वोला—तुम्हारी यह समझ ठीक नहीं है। नुक़सान तो किसी को नहीं होगा। हां, ग़रीव लोग पोस्टकार्ड ख़रीदना कम कर देंगे और उनको जो पोस्टकार्ड से लाभ होता था उसमें कमी अवश्य हो जायगी। ज़रा सोचो तो सही जव तुमने तीन पैसे देकर एक पोस्टकार्ड ख़रीदा तव क्या तुमको कुछ नुक़सान हुआ ?

राजाराम ने तुरन्त उत्तर दिया—वेशक ! एक पैसे का नुक़सान हुआ। वही पोस्टकार्ड मुझे पहले दो पैसे में मिलता था, अव उसी के लिए मुझे तीन पैसे देने पड़े। इस प्रकार मुझे एक पैसा अधिक तो देना पड़ा।

विहारी ने कहा—यह ठीक है कि तुमको पोस्टकार्ड के लिए एक पैसा

होता तो तुम उसको कदापि न ख़रीदते। सच बात तो यह है कि तीन पैसे में पोस्टकार्ड ख़रीदने पर भी हमें अभी लाभ हो रहा है। यदि सरकार द्वारा डाक का प्रबन्ध न होता तो अपने लड़के के पास समाचार भेजने के लिए तुमको एक आदमी भेजना पड़ता और उसके लिए तुमको कम-से-कम चार आने पैसे ख़र्च करने पड़ते। अब वही काम तुम्हारा तीन पैसे में हो गया, इसलिए तुमको सवा तीन आने की बचत हो गई। हाँ, यह ठीक है कि जब पोस्टकार्ड दो पैसे में मिलता था तब तुम्हारी बचत साढ़े तीन आने की होती थी। पोस्टकार्ड की क़ीमत बढ़ने से अब उस बचत में एक पैसे की कमी अवश्य हो गई है; परन्तु तुमको प्रत्यक्ष रूपसे कुछ नुक़सान नहीं हुआ। केवल पोस्टकार्ड में ही नहीं, वरन् संसार की सब वस्तुओं के ख़रीदने में हमको इसी प्रकार से बचत होती है और उसको हम उपभोक्ता की बचत कहते हैं। तुम यह जानते ही हो कि सब से पहली वस्तु की उपयोगिता हमको सब से अधिक होती है और फिर क्रमागत-ह्रास-नियम के अनुसार उसकी सीमान्त उपयोगिता कम होने लगती है। सम-सीमांत-उपयोगिता-नियम के अनुसार अंतिम बात की उपयोगिता उस पर ख़र्च किये हुए द्रव्य अर्थात् उसकी क़ीमत की उपयोगिता के बराबर होती है। कल हमने चार आने के आठ संतरे ख़रीदे थे। आठवें संतरे की उपयोगिता कम-से-कम दो पैसे की उपयोगिता के बराबर अवश्य थी। अगर उसके बराबर न होती तो हम आठवाँ संतरा कदापि न ख़रीदते। अब सातवें संतरे की उपयोगिता आठवें से अधिक है, परन्तु उसके लिये भी दो ही पैसे दिये हैं। इसी प्रकार सातवें संतरे से हमें कुछ उपयोगिता की बचत हुई। छठवें संतरे से बचत उससे भी अधिक हुई। इसी प्रकार पाँचवें, चौथे, तीसरे इत्यादि से क्रमशः बचत बढ़ती गई और आठों संतरे के ख़रीदने से जो हमको कुल उपयोगिता मिली वह उस पर ख़र्च किये चार आने की उपयोगिता से बहुत अधिक थी। तभी तो हमने संतरे ख़रीद लिये। इसी प्रकार सब वस्तुओं के ख़रीद या उपभोग करने में बचत होती है।

राजाराम ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—आपकी बात मुझे समझ

में नहीं आ रही है। एक और उदाहरण लेकर ज़रा उसे फिर से समझाइये।

बिहारी—अच्छा, लो,। सुनो जब घी का भाव ५) सेर होता है, तब कोई व्यक्ति महीने भर में एक सेर घी ख़रीदता है। किन्तु अगर घी का भाव ४) सेर हो जायगा, तो वही आदमी दो सेर घी ख़रीदेगा। इसी प्रकार ३) सेर का भाव हो जाने पर तीन सेर, २) सेर का भाव हो जाने पर चार सेर और १) सेर हो जाने पर पाँच सेर ख़रीदने लगेगा। अब ध्यान देने की बात यह है कि जो व्यक्ति एक सेर घी लेकर पाँच रुपये ख़र्च करता था, वह उस एक सेर घी से उतनी तृप्ति तो कम-से-कम प्राप्त ही करता था, जितनी उसे पाँच रुपये ख़र्च करने पर किसी दूसरी वस्तु से प्राप्त होती। किन्तु घी का भाव जब ४) सेर हो जाता है, तब वही आदमी दो सेर घी लेने लगता है। इस प्रकार पहले सेर घी में ४) रुपये ख़र्च करने पर उसको वही तृप्ति प्राप्त हो जाती है, जिसके लिए वह पाँच रुपये ख़र्च करने को तैयार रहता था। फिर दूसरे सेर घी के लिए वह जो चार रुपये देता है, उससे उसको उतनी उपयोगिता तो अवश्य ही प्राप्त होगी, जितनी उसे ४) ख़र्च करने पर किसी दूसरी वस्तु से प्राप्त होती। अब इस प्रकार उसको तृप्ति मिलती है पहले सेर में ५) की, और दूसरे सेर में ४) की। अर्थात् कुल ९) की। किन्तु दो सेर घी लेने पर ख़र्च करने पड़ते हैं, उसे केवल ८)। इस प्रकार उसकी असली बचत १) होगी।

इसी प्रकार जब घी का भाव ३) सेर होगा, तब वह ५) + ४) + ३) कुल १२) भर की उपयोगिता प्राप्त करेगा, जब कि उसे ३ सेर के लिए ३) सेर के भाव से केवल ९) ख़र्च करने पड़ेंगे। उस दशा में उसकी बचत ३) के बराबर होगी।

राजाराम अब चुप था। इसका अर्थ बिहारी ने यह समझा कि बात उसके समझ में आ रही है। तब उसने कहा—परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि उपभोक्ता की बचत तृप्ति की मात्रा की अधिकता का ही बोध कराती है। ज्यों-ज्यों बचत बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उपभोक्ता की तृप्ति बढ़ती जाती है। हम किसी वस्तु को किसी विशेष मात्रा में प्राप्त करने के लिए

जितना द्रव्य दे देने को तैयार हो सकते हैं, वस्तुतः उतना देते नहीं हैं। जो वास्तव में देते हैं, वह उससे कम ही होता है। इसी अन्तर को अर्थशास्त्र में उपभोक्ता की बचत कहते हैं। नित्य कुछ वस्तुएँ ऐसी हमारे सामने आती हैं, जिनके लिए द्रव्य हमें कम ख़र्च करना पड़ता है, किन्तु जिनसे हमें तृप्ति अधिक मिलती है। जैसे पोस्ट-कार्ड, समाचार-पत्र, नमक इत्यादि। ये वस्तुएँ अधिक दामों पर भी हम जो सदा लेने को तैयार रहते हैं; उसका एक मात्र कारण यह है कि जितना द्रव्य इन पर ख़र्च करना पड़ता है, उससे कहीं अधिक तृप्ति हमें मिल जाती है। इसीलिए उपभोक्ता की बचत का परिमाण अधिकतर राजनैतिक तथा समाज की आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। तभी तो समुन्नत देशों में समाचार-पत्र, पोस्टेज-स्टैम्प्स, तार तथा रेलभाड़ा की दरें इतनी कम रक्खी जाती हैं कि साधारण जन भी 'उपभोक्ता की बचत' का पूर्ण-रूप में लाभ उठा लेते हैं। ग़ुलाम और असभ्य देश की जनता को यह लाभ बहुत कम प्राप्त होता है।

बिहारी की बात समाप्त होने पर राजाराम ने कहा—

आप कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु ख़रीदने या उपयोग करने में बचत होती है। तब तो मादक वस्तुओं में भी उपभोक्ता की बचत होती है। और इस नियम के अनुसार तो मादक वस्तुओं का अधिक परिमाण में ख़रीदना या उपभोग करना लाभदायक है।

बिहारी ने तुरन्त उत्तर दिया—हाँ, यह ठीक है कि जिस समय कोई व्यक्ति किसी मादक वस्तु—जैसे भांग, अफ़ीम इत्यादि—को ख़रीदता है तो उसको यही मालूम होता है कि उस मादक वस्तु की कुल उपयोगिता उसको ख़रीदने में जो द्रव्य ख़र्च होता है उसकी उपयोगिता से अधिक है। परन्तु उस समय वह यह नहीं सोचता कि मादक वस्तु के उपयोग करने से अंत में उसके स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ेगा और उसको क्या हानि होगी। यदि मादक वस्तु ख़रीदते समय कोई व्यक्ति उसके उपयोग करने के परिणामों पर भी विचार कर ले, तो वह कदापि मादक-वस्तु को ख़रीदे। परन्तु सच बात तो यह है कि किसी वस्तु के ख़रीदते समय हम उससे मिलनेवाले अंतिम

हानि-लाभ का विचार बिलकुल नहीं करते। यदि हम इस बात का भी विचार करने लगें तो हम अपनी निश्चित आमदनी से अधिक-से-अधिक लाभ उठा कर अपने को अधिक सुखी बना सकते हैं।

इतने में बिहारी का एक मित्र आ गया और दोनों किसी आवश्यक कार्य से बाहर चले गये।

बारहवाँ अध्याय

उपभोग की वस्तुओं का विभाग

—०<>०—
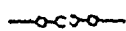
देखो राजाराम, आजकल जिस कुएँ का पानी तुम पीते हो, उसमें मुझे कीड़े देख पड़ते हैं। जान पड़ता है, इसमें बहुत दिनों से लाभदायक पौटेशियम-परमैंगनेट नहीं छुड़वाई गई है। अब यह पानी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो गया है। जल हमारे लिए एक इतनी आवश्यक वस्तु है, जिसके बिना हम जीवन को न तो आगे बढ़ा सकते हैं, न उसकी रक्षा ही कर सकते हैं। इसीलिए अर्थशास्त्र में जल को जीवन-रक्षक पदार्थ माना गया है।

बिहारी इतना कहकर चुप होने ही वाला था कि राजाराम ने हँसकर कह दिया—खूब! जल को मैं एक साधारण पदार्थ मानता हूँ। यद्यपि इसकी आवश्यकता हमारे लिए अनिवार्य है। किन्तु इस बात की तो मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि जल जैसी चीज़ में भी आप अर्थशास्त्र के सिद्धान्त की बात खोज निकालेंगे।

बिहारी बोल उठा—एक जल ही नहीं, अन्न, वस्त्र, मकान, घी, दूध, फल, व्यायामशाला, पुस्तकालय, साइकिल, घड़ी, तम्बाकू, उत्सव, विवाह, बिजली, पंखे, जहाज़—यहाँ तक कि पृथ्वी, समुद्र तथा आकाश तक में जो वस्तुएँ मनुष्य-जीवन में किसी-न-किसी प्रकार, किसी-न-किसी समय, काम आती हैं, अर्थशास्त्र में उन सबका विचार और विभाग किया जाता है।

राजाराम ने विनोद के भाव से पूछ लिया—मेरा यह फटा चदरा भी अर्थशास्त्र के किसी विभाग में आता है?

बिहारी बोला—तुम चाहे मज़ाक़ ही समझो, पर मैं तो कहूँगा कि अर्थशास्त्र में रेशमी चद्दर का जितना महत्त्व है, उससे कम तुम्हारे इस फटे चदरे का नहीं है। फटा होने पर भी अर्थशास्त्र में चदरा जीवन-रक्षक-पदार्थ ही कहलायेगा।

राजाराम अब गम्भीर हो गया। बोला—तो अर्थशास्त्र में वस्तुओं के ऐसे बहुत से विभाग किये गये होंगे।

बिहारी—क्यों नहीं? बात यह है कि संसार में सबसे पहले हमको अपना शरीर स्वस्थ और कार्य-शील रखने की ज़रूरत पड़ती है। चाहे कोई व्यक्ति कोढ़ी, अन्धा और अपाहिज ही क्यों न हो, चाहे वह इतना बुड्ढा हो गया हो कि उससे दस क़दम चला भी न जाता हो, चाहे वह इतना शिथिल और जर्जर हो गया हो कि उसका बदन हड्डियो का ढाँचा मात्र ही रह गया हो, किन्तु वह अपने को संसार में रखना चाहता है। नाश होना उसे स्वीकार नहीं होता। इसलिए अर्थशास्त्र में उपभोग की वस्तुओं में सबसे अधिक महत्त्व उनको दिया जाता है जो शरीर और प्राण को सजीव और सचेत रखने के लिए आवश्यक होती हैं। इन वस्तुओं को जीवन-रक्षक पदार्थ कहते हैं। जैसे—जल, अन्न, वायु तथा मकान इत्यादि। दूसरे प्रकार की वस्तुएँ वे होती हैं जिनके उपभोग से मनुष्य की कार्य-कारिणी शक्ति बढ़ती है। जो जीवन-रक्षक पदार्थ उच्च कोटि के होते हैं और जिनसे हमारे शरीर और मन को स्फूर्ति, बल और स्वास्थ्य मिलता है, वे निपुणतादायक कहलाते हैं। साधारण अन्न खाने, फटा और मैला कपड़ा पहनने तथा टूटे-फूटे जीर्ण मकान में रहने से हम जीवित तो रह सकते हैं, किन्तु न तो अधिक स्वास्थ रह सकते हैं, न शक्तिशाली। यहाँ तक कि मन भी हमारा गिरा-गिर-सा रहेगा। दीर्घजीवन भी हम शायद न प्राप्त कर सकें। पर अगर हमें खाने को रुचिकारक, ताज़ा और पुष्टिकारक भोजन, फल, घी-दूध मिले, पहनने को काफ़ी साफ़ कपड़े और रहने को हवा-दार साफ़-सुथरा मकान मिले, व्यायाम करने, खेलने और पढ़ने के लिए व्यायामशाला, मैदान और पुस्तकालय का हमारे लिए प्रबन्ध हो, तो हम अधिक स्वस्थ-चित्त, अधिक बुद्धिमान, अधिक वीर और सभ्य रहकर

सम्भवतः अधिक दीर्घजीवन लाभ करते हैं। इसीलिए इन निपुणतादायक पदार्थों में जितना द्रव्य ख़र्च किया जाता है, उसका फल उससे कहीं अधिक मिलता है।

राजाराम ने पूछा—अच्छा, हमको ससुराल में वह जो एक दुशाला मिला था, उसकी गणना किस श्रेणी में होगी?

बिहारी ने कहा—अब उसी विभाग की बात बतलाता हूँ। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा विभाग है, जिसमें आराम देनेवाली वस्तुओं की गणना की जाती है। इन पदार्थों के उपयोग से शरीर को सुख और आराम भले मिले, निपुणता की वृद्धि भी चाहे हो ही जाय, किन्तु जितना इन पर ख़र्च किया जाता है, उतनी कार्य-कुशलता उससे हमें नहीं मिलती। जैसे एक साधारण व्यक्ति के लिए मामूली मोटी धोती, खादी का कुरता और देहाती जूता, निपुणता-दायक पदार्थ होने के दृष्टि से, यथेष्ट उपयोगी है; किन्तु यदि वह बढ़िया क़मीज़, कोट और टोपी दे, या रेशमी साफ़ा बाँधे और नये फैशन का जूता पहने, तो उसके लिए ये पदार्थ आराम के समझे जायँगे। उसके लिए साइकिल, घड़ी तथा पक्का मकान भी आराम देनेवाले पदार्थ ही माने जायँगे।

राजाराम बोल उठा—अब तो मेरा ख़्याल है कि सभी वस्तुओं का विभाग आपने कर डाला।

बिहारी ने कहा—नहीं, अभी दो विभाग शेष रह गये हैं। एक तो हैं, विलासिता के पदार्थ, दूसरे कृत्रिम आवश्यकताओं के। विलासिता की वस्तुओं पर किये गये ख़र्च से न तो निपुणता ही अधिक प्राप्त होती है, न कार्यशक्ति। वरन् कभी-कभी तो उनके उपयोग से कार्य-शक्ति की शिथिलता अथवा उसके ह्रास की ही अधिक सम्भावना रहती है। जैसे—ख़ूब बढ़िया आलीशान इमारत, भड़कीले क़ीमत वस्त्र तथा मादक द्रव्य। आलीशान इमारत में रहने से सब काम नौकरों पर छोड़ देना पड़ता है और हम आलसी हो जाते हैं। भड़कीले वस्त्र पहनने से एक तो ख़र्च बढ़ता है, दूसरे उनकी पद-मर्यादा हमें साधारण काम को अपने हाथ से करने से

रोकती है। इस प्रकार हमारी आदत ख़राब होती है। और मादक-द्रव्यों के सेवन से तो शरीर की कार्य-शीलता एकदम से क्षीण पड़ जाती है।

अब रह गये वे पदार्थ, जो कृत्रिम आवश्यकताओं से संलग्न रहते हैं। इन पदार्थों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे जीवन-रक्षा, निपुणता, आराम अथवा विलासिता की वृद्धि में सहायक ही हों। ये तो समाज के दवाव, लोक-निन्दा के भय, समाज के आचार-नीति-व्यवहार तथा संस्कारों पर निर्भर रहते हैं। जैसे—पुत्र-जन्म, उपनयन, विवाह के अवसर पर होनेवाले उत्सवों के ख़र्च तथा ऐसी मादक वस्तुओं पर ख़र्च, जिनकी आदत पड़ गई है। जैसे—भाँग, तम्बाकू, सिगरेट तथा शराब इत्यादि। इस प्रकार के पदार्थों में सब से बड़ा दोष यह होता है कि इनका मूल्य घट जाने अथवा बढ़ जाने का ख़रीद पर कोई विशेष असर नहीं पड़ता। इनकी क़ीमत बढ़ भी जाती है, तो भी ये प्रायः उसी परिमाण से ख़रीदे जाते हैं। अतएव इन पर होनेवाला ख़र्च भी बढ़ जाता है।

राजाराम चुप था। अतएव बिहारी इसी सिलसिले में कहता चला गया कि उपभोग की वस्तुओं के ये विभाग वास्तव में परस्पर बहुत निकट हैं। इनका वर्गीकरण तो उपभोक्ता की परिस्थिति के अनुसार होता है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक-अमुक वस्तुएँ सब के लिए जीवन-रक्षक, निपुणता, आराम अथवा विलासिता देनेवाली हैं। कोई भी वस्तु स्वतः किसी श्रेणी में सम्मिलित नहीं है। किसी वस्तु को किस वर्ग में रक्खा जाना चाहिए, इसके लिए यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि उस समाज के व्यक्तियों की आर्थिक पद-मर्यादा क्या है, कैसी उनकी संस्कृति है और कैसा जलवायु उनके लिए हितकर है, कैसी उनकी प्रकृति है और उनकी रुचि फ़ैशन के सम्बन्ध में कैसी है। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो ऊपर से विलासिता की मालूम होती हैं, किन्तु जब उनकी आदत पड़ जाती है, तब वही कृत्रिम आवश्यकता की हो जाती हैं। उदाहरण के लिए जिन लोगों को तम्बाकू, भाँग, अफ़ीम तथा शराब पीने-खाने की आदत पड़ जाती है, अगर उनसे उन वस्तुओं के महत्व के सम्बन्ध में कभी पूछा जाय, तो वे सम्भवतः यही उत्तर देंगे कि उन वस्तुओं का सेवन किये बिना वे जी नहीं सकते।

भोजन चाहे कम मिले, चाहे समय के बजाय असमय पर ही मिले, पर ये व्यसनवाले पदार्थ उन्हें यथेष्ट और समयानुसार मिलने ही चाहिए। और कुछ लोगों की तो शारीरिक दशा भी ऐसी होती है कि कोई एक वस्तु, जो अन्य लोगों के लिए अतीव हानिकारक हो सकती है, वही उसके लिए लाभदायक ही नहीं, एक तरह से जीवन-दायक भी होती है। एक किसान के लिए मोटरकार की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु एक डाक्टर के लिए वह परम आवश्यक है। उसकी सहायता से वह जनता की सेवा भी अधिक कर सकता है और आय भी बढ़ा सकता है। एक किसान के लिए आलीशान महल, बिजली का पंखा, बिजली का लैम्प विलासिता की वस्तुएँ हैं, किन्तु यही अमीर के लिए आराम की और निपुणतादायक होती हैं। समय, फ़ैशन और रहन-सहन के दर्जे के परिवर्तन से कोई भी वस्तु एक समय विलासिता की, दूसरे समय आराम की और किसी अन्य समय जीवन-रक्षक हो सकती है। वस्तु का मूल्य भी उसके वर्गीकरण को बदल देता है। जैसे—यदि कोई कपड़ा ५) गज़ की दर से बिकता है, तो वह किसी व्यक्ति के लिए विलासिता-वृद्धि कारक होगा, किन्तु यदि वही २) गज़ हो जाय तो आराम देनेवाला और १) गज़ होने पर निपुणतादायक माना जायगा। किन्तु यदि आगे चलकर वह ||) गज़ बिकने लगे, तो वही जीवन-रक्षक की श्रेणी में चला जायगा।

तब तो राजाराम हँसते हुए कहने लगा—यह आपने अच्छा बतला दिया। सचमुच इस दृष्टिकोण से साधारण-से-साधारण वस्तु का भी मूल्य, परिस्थिति बदल जाने से, बहुत अधिक हो सकता है। ऐसी दशा में ग़रीब आदमी अगर अपने को बहुत हीन समझता है, तो उसकी यह एक भूल है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से वह किसी से बहुत हीन नहीं है।

तेरहवाँ अध्याय

साँग की लोच

कल शुक्लजी बाज़ार में देख पड़े थे। शुक्लजी को आप जानते हैं न? हाँ-हाँ वही, जो माणिकपुर में रहते हैं और हमारे इस गाँव में एक तिहाई के हिस्सेदार है। हां, तो वे गङ्गादीन की दूकान के सामने खड़े हुए चीनी तुलवा रहे थे। दृष्टि पड़ते ही मैंने नमस्कार किया, तो बोले—कहो भाई राजाराम, अच्छी तरह से तो रहे।

मैंने कह दिया—भगवान की कृपा और आपके इक़बाल से...... !

पान से मुँह भरा हुआ था। हँसने लगे। फिर बोले—तुम्हारी बात-चीत मुझे बहुत पसन्द आती है। अच्छा लो, इसी बात पर पान खा लो। और पनडब्बा उन्होंने मेरे सामने कर दिया।

पान खाकर मैं ज़रा देर ठहर गया। देखा, एक बड़ा थैला है, जिसमें चीनी भरी जा रही है। इस पर वे बोले—देखते क्या हो राजाराम, चीनी इतनी तेज़ हो गई है कि दस सेर लेने के बजाय इस महीने में सात सेर ही ले रहा हूँ। अभी गये महीने में दो रुपये साढ़े नौ आने में दस सेर ले गया था। इस बार दो रुपये दस आने में सात सेर ही लिये जा रहा हूँ। क्या करूँ, घर में कुल मिलाकर छोटे-बड़े दस आदमी ठहरे। इसके सिवा दिन-रात में चार बार चाय तो मैं ख़ुद पीता हूँ। अब तीन बार ही पिऊँगा। अपने पर ही नियंत्रण कर सकता हूँ। घरवालों से तो कह नहीं सकता कि चीनी ज़्यादा

महँगी हो गई है, थोड़ी-थोड़ी खर्च करो।

बिहारी राजाराम की इस बात को सुनकर नित्य की भाँति मुसकराने लगा।

तब राजाराम ने कहा—मैं समझ गया। कहो तो बतला दूँ।

"अच्छा बताओ" बिहारी ने पूछा।

तब राजाराम ने कहा—आप इस बात में अर्थशास्त्र के किसी सिद्धांत को देख रहे हैं।

बिहारी चुप रह गया।

तब राजाराम ने कहा—बतलाइये, बतलाइये। चुप क्यों हो रहे ? जानने के अभिप्रायः से ही मैंने इस बात की चर्चा की है।

तब बिहारी ने कहा—तुम्हारा अनुमान ठीक है। साधारणतः जब किसी वस्तु की क़ीमत बढ़ जाती है, तब उसकी माँग घट जाती है। इसी प्रकार जब उसकी क़ीमत घट जाती है, तब उसकी माँग बढ़ जाती है। वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होने से माँग के परिमाण में प्रायः परिवर्तन होता ही है। माँग का यह एक लक्षण है। अर्थशास्त्र में इसे "माँग की लोच" कहते हैं। जैसे चीनी का भाव चढ़ गया है और इस कारण उसकी माँग कम हो गयी है। वैसे ही अगर इसका भाव गिर जाता, तो इसकी माँग बढ़ जाती। अतएव कहना पड़ेगा कि चीनी की माँग लोचदार है। जब किसी वस्तु की थोड़ी क़ीमत बढ़ने पर माँग अधिक कम होती है तो माँग बहुत लोचदार, जब माँग थोड़ी कम होती है तो साधारण लोचदार और जब माँग बिलकुल कम नहीं होती तो उसे बेलोचदार माँग कहते हैं।

राजाराम ने कहा—लेकिन मुझे कुछ ऐसा ख़्याल आ रहा है कि आपने एक दिन बतलाया था कि कोई वस्तु अधिक तादाद में हमारे पास संग्रह हो जाती है, तब उस वस्तु की चाह कम हो जाती है। ऐसी दशा में अगर चीनी का भाव कुछ घट भी जाता, तो भी उसकी माँग में कुछ ऐसी अधिक वृद्धि तो होनी नहीं चाहिए थी। इसी प्रकार अगर

चीनी का भाव चढ़ गया है, तो माँग में इतना अन्तर क्यों उपस्थित हो गया ?

बिहारी बोला—सिद्धान्त रूप से तुम्हारी बात—बात नहीं, बल्कि उसे हम निष्कर्ष कहेंगे, बिलकुल ठीक है। पर यह नियम उन्हीं वस्तुओं के लिए लागू होता है, जिनकी की माँग में लोचकम है। चीनी ऐसी चीज़ नहीं है। चीनी की माँग तो सदा ही लोचदार रहती है। अगर किसी वस्तु की आवश्यकता हमारे लिए बहुत धीरे-धीरे कम होती जा रही है; तो भाव उसका थोड़ा-सा भी घट जाने पर, माँग बहुत अधिक बढ़ जायगी इसी प्रकार भाव चढ़ जाने पर माँग बहुत घट जायगी। तब हम कहेंगे कि इस वस्तु की माँग में लोच अधिक है।

राजाराम बोला—तो शायद आप यह कहना चाहते हैं कि जिन वस्तुओं की माँग घटती-बढ़ती बहुत कम है, वे सब वस्तुएँ उसी श्रेणी की होती हैं, जिनके सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि उनकी मांग कम लोचदार है।

बिहारी बोला—हाँ, साधारण रूप से तुम्हारा यह अनुमान ठीक है। शुक्ल जी के यहाँ, मान लो, महीने में दो सेर नमक ख़र्च होता है, जब कि उसका भाव दो आने सेर है। पर यदि नमक का भाव दो आने से बढ़कर तीन आने सेर भी हो जाय, तो भी नमक की माँग में कोई विशेष अन्तर न पड़ेगा। इस तरह हम कह सकते हैं कि नमक की माँग में लोच बहुत कम है। परन्तु साधारण रूप से किसी एक श्रेणी में व्यक्ति के लिए किसी पदार्थ की मांग की लोच ऊँची क़ीमत पर अधिक और मध्यम क़ीमत पर उससे कुछ कम होती है। क़ीमत की कमी से तृप्ति की वृद्धि होती है और मांग की लोच कम होती जाती है। अन्त में यहां तक स्थिति जा पहुँचती है, कि माँग में लोच बिल्कुल रह ही नहीं जाती। इसके सिवा एक बात और है। वह यह कि प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए उच्च, मध्यम और निकृष्ट क़ीमतें पृथक्-पृथक् होती हैं। दो रुपये सेर घी धनी व्यक्ति के लिए कम दाम का, मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए मध्यम दाम का है, किन्तु वही एक ग़रीब व्यक्ति के लिए ऊँची क़ीमत का हो जाता है।

मान लो, एक अच्छी साइकिल पैंसठ रुपये में मिलती है। अब यदि उसका दाम घटकर ४०) रह जाय, तो बहुतेरे मध्यम श्रेणी के बाबू लोगों में साइकिल की माँग बढ़ जायगी। अतएव साइकिल ऐसी वस्तु सिद्ध हुई जिसकी माँग मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों के लिए लोचदार हुई। किन्तु निम्नश्रेणी के व्यक्तियों के लिए साइकिल की माँग तब भी बिना लोच की मानी जायगी। बात यह है कि साइकिल का दाम एक तिहाई घट जाने पर उनके लिए वह दाम भी इतना ऊँचा है कि वे साइकिल खरीद नहीं सकते।

इसी प्रकार घड़ी है। एक मामूली अच्छी घड़ी इस समय २०) में मिलती है। अगर उसका दाम घटकर १५) रह जाय, तो बाबू क्लास के लोगों में उस घड़ी की माँग बढ़ जायगी। अतएव उस वर्ग के लिए घड़ी की माँग लोचदार होगी। किन्तु अन्य श्रेणी के व्यक्तियों के लिए वह घड़ी तब भी माँग की लोच पैदा करने वाली न होगी। बात यह है कि वे तो उसे उससे भी पहले खरीदकर तृप्ति लाभ कर चुके होंगे, जब उसका दाम सम्भव है, २०) से भी अधिक रहा हो। और एक किसान के लिए भी यही बात होगी। पन्द्रह के बजाय यदि वह अब दस रुपये में भी मिले, तो भी वह उसे खरीद न सकेगा।

राजाराम अब बोल उठा—तो आपका मतलब यह है कि वस्तुओं की क़ीमत में कमी होने से उनकी माँग की लोच समाज के उच्च वर्ग के लिए नहीं के बराबर, मध्यम श्रेणी के लिए कुछ थोड़ी और निम्न श्रेणी के लिए अधिक होती है।

बिहारी ने कहा—हाँ, ठीक यही बात है। किन्तु साधारण रूप से ऐसा जान पड़ता है कि जो वस्तुएँ जीवन-रक्षक होती हैं, उनकी माँग की लोच विलासिता की वस्तुओं की अपेक्षा बहुत कम होती है। किन्तु सच पूछो तो जीवन-रक्षक वस्तुओं की माँग की लोच भी लोगों की आर्थिक स्थिति की उच्चता पर निर्भर करती है। अमेरिका, इंग्लैंड, रूस आदि उन्नत और सभ्य देशों में ग़रीब जनता को भी जीवन-रक्षक पदार्थ यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं। अतएव वहाँ उन वस्तुओं के मूल्य में यदि कुछ कमी भी हो जाती है, तो साधारण ग़रीब जनता भी, उन वस्तुओं का उपभोग, पहले की अपेक्षा

बहुत अधिक मात्रा में नहीं करती। अतएव जीवन-रक्षक पदार्थों की लोच वहाँ बहुत कम दृष्टिगत होती है। किन्तु हमारा देश तो इतना दरिद्र है कि यहाँ की ग़रीब जनता एक वक्त का पूरा भोजन भी नहीं प्राप्त कर पाती। अतएव यहाँ जीवन-रक्षक पदार्थों में माँग की कुछ लोच होना अवश्यम्भावी है।

राजाराम ने पूछा—तब यह कहना पड़ेगा कि जो वस्तुएँ जीवन-रक्षा के लिए बहुत आवश्यक नहीं हैं, जिनसे आराम मिलता अथवा विलासिता जान पड़ती है, उन्हीं की माँग साधारणतः अधिक लोचदार होती है।

बिहारी—हाँ, बिलकुल यही बात है। इसके सिवा यह भी देखा जाता है कि जब किसी व्यक्ति को किसी विशेष वस्तु के नित्य सेवन का अभ्यास पड़ जाता है, तो उस वस्तु की माँग की लोच अन्य वस्तुओं की माँग की लोच की अपेक्षा कम हो जाती है। बात यह है कि वह तो उसके लिए एक आवश्यक वस्तु हो जाती है। और जीवन-रक्षक तथा अन्य आवश्यक पदार्थों की माँग की लोच अन्य वस्तुओं की लोच से प्रायः कम हुआ करती है। जैसे जो लोग सोने से पहले दूध पीने के अभ्यासी होते हैं, उनके लिए वह आध सेर दूध एक आवश्यक पदार्थ है। अगर उस दूध के लिए उन्हें पाँच पैसे के स्थान पर साढ़े छै पैसे भी देने पड़ें, तो भी वे दूध पीना कभी कम नहीं करेंगे।

इधर ये बातें हो रही थीं। उधर राजाराम ने देखा, रामाधीन चले आ रहे हैं। उनको मकान के पास गुज़रते देखकर राजाराम ने कहा—कहो रामाधीन भाई, चांदी क्या भाव मिली?

रामाधीन बोले—अरे भाई, अब तो ६०) रु० भरी का भाव हो गया है। बहुत सोचा, इतनी तेज़ लेना ठीक नहीं है। परन्तु करता क्या, कमला का गौना तो करना ही पड़ेगा। इसीलिए लेनी पड़ी।

राजाराम कहने लगा—हाँ, फिर ज़रूरत पड़ने पर तो ऐसा करना ही पड़ता है। अच्छा, एक बात बतलाओ कि इस भाव पर चाँदी के ख़रीदार तुमको पहले की अपेक्षा कम तो नहीं देख पड़े।

रामाधीन बोल उठा—राम कहो भाई, आजकल विवाह की लग्नें इतनी

ज़्यादा ज़ोरों पर है कि चाँदी का यह चढ़ता भाव भी माँग में जैसे कुछ कमी ही नहीं रखता है। मेरा तो ख़्याल है कि दस दिन पहले की अपेक्षा इस समय बिक्री कुछ ज़्यादा ही है। जब कि भाव इन्हीं दिनों चढ़ा है।

राजाराम रामाधीन की ओर देखता हुआ चकित होकर रह गया।

और बिहारी बोल उठा—अब कहो। अब भी यदि कुछ सन्देह रह गया हो, तो उसे भी साफ़ कर लो।

चौदहवाँ अध्याय

फ़िज़ूल-ख़र्ची

"राजा विजयबहादुरसिंह के कुँवरजी के विवाह की याद तो तुमको होगी नहीं राजाराम ?"

"क्यों ? याद तो है मुझको। यद्यपि मैं उस समय दस-ग्यारह वर्ष का ही रहा हूँगा, पर मुझे एक-एक बात याद है। खेल-तमाशे, रोशनी, आतिशबाज़ी, रासलीला, नाच, स्वागत-सत्कार और हर तरह से बारातियों को आराम देने का प्रबन्ध—क्या-क्या गिनायें, सभी कुछ याद है।"

राजाराम की बात सुनकर बिहारी मुसकराने लगा। बोला—और उसके बाद जो हुआ, वह भी याद है ?

राजाराम ने कहा—बाद में क्या हुआ, सो मैं नहीं जानता। बतलाइये, बतलाइये, हँसिये नहीं।

बिहारी ने कहा—रियासत पर इतना क़र्ज़ हो गया कि राजासाहब अथक प्रयत्न करने पर भी बीस वर्ष तक उसे अदा नहीं कर पाये। और अन्त में उन्हें अपने बड़े-बड़े पाँच गाँव बेच देने पड़े। पर इतना ही होता, तो भी कोई बात न थी। वे ऐसे प्रतापी थे कि अगर दस पाँच वर्ष और अपने को सम्हालने का अवसर पाते, तो सम्भव था कि सारा ऋण भी चुका देते और गाँव भी बच जाते। पर इतने गाँव बेच डालने का रंज, बाद में उन्हें इतना अधिक हुआ कि वे अपने स्वास्थ्य की रक्षा न कर सकने के कारण, उसी वर्ष के अन्दर, परलोकवासी हुए।

राजाराम ने कहा—यह सब भी सुन चुका हूँ। लेकिन इस तरह से नहीं। बहुत बड़ी प्रशंसा के साथ। नाम लेते ही लोग उनकी प्रशंसा के पुल बांध देते हैं। कहते हैं, ऐसा उदार पुरुष देखने में नहीं आता।

बिहारी—तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि कुँवरजी के विवाह में उन्होंने जो इतनी अधिक फ़िज़ूलख़र्ची की, वह कहाँ तक उचित थी। प्रशंसा करनेवाले लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि अगर वे ऐसी फ़िज़ूल-ख़र्ची न करते, तो सम्भव था कि अभी वे कुछ दिनों तक और इस धरती पर चलते।

राजाराम—लेकिन उन्होंने जो ख़र्चा किया, वह अपना हौसला पूरा करने के लिए किया। और इसमें शक नहीं कि उनका नाम हो गया। और फ़िज़ूलख़र्ची उसे हम कैसे कहें! क्या आतिशबाज़ी छुड़वाना आप फ़िज़ूल ख़र्ची में शुमार करेंगे?

बिहारी—क्यों नहीं? क्षणिक आनन्द के लिए इतना रुपया बरबाद करना फ़िज़ूलख़र्ची नहीं तो और क्या है? इस आनन्द से उपभोक्ता को न तो कोई आराम मिलता है, न उससे उसकी कार्य-कुशलताही बढ़ती है। हम पहले तुम्हें बतला चुके हैं कि जीवन-रक्षक और निपुणतादायक पदार्थों पर किया गया ख़र्च ही सदा न्याय-संगत होता है। और जिन पदार्थों से आराम मिले, हम उन्हें भी किसी तरह न्याय-संगत मान सकते हैं। लेकिन आतिशबाज़ी से तो हानि के सिवा लाभ बिल्कुल सम्भव नहीं है।

राजाराम—पर आपने तो बतलाया था कि आवश्यकताओं का बढ़ना सभ्यता का चिन्ह है। अगर प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही लोग संतोष कर लिया करें, तो न तो उद्योग-धन्धों की वृद्धि हो, न सभ्यता के विकास में ही कोई सहायता मिले। ज्यों-ज्यों आवश्यताएँ बढ़ती हैं, मनुष्य अधिकाधिक परिश्रम करता है। परिश्रम से नवीन आवश्यकताएँ जन्म लेती हैं। फिर उससे परिश्रम के नये स्वरूपों और उद्योगों की सृष्टि होती है और इस तरह हम सभ्यता की वृद्धि में सहायक होते हैं।

बिहारी—सिद्धान्त रूप से तुम्हारा यह कथन ठीक जान पड़ता है। परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं, जिनके सम्बन्ध में हमें पहले राष्ट्रीय हित

देखना पड़ेगा। भारतवर्ष ग़रीब देश है। यहाँ की साधारण जनता को उतना भी भोजन प्राप्त नहीं होता, जितना जीवन-रक्षा के हेतु मनुष्य के लिए आवश्यक होता है। ऐसी दशा में विलासिता की वृद्धि करने वाली वस्तुओं का अधिक उपयोग हमारे देश के हित की दृष्टि से कदापि उचित नहीं है। जिस देश की साधारण जनता जीवन-रक्षक पदार्थ भी यथेष्ट मात्रा में न पाती हो, उस देश के धनी-मानी व्यक्ति विलासिता में सम्पत्ति का ऐसा नाश करें, यह फ़िज़ूलख़र्ची की हद है। हाँ, अगर हमारा देश समृद्धिशाली होता, अगर हमारी साधारण जनता में इतनी भी समर्थ होती कि उसे खाने-पीने, पहनने और रहने के लिए उपयुक्त वास-स्थानों की यथेष्ट सुविधा प्राप्य होती, तो विलासिता की वस्तुओं का उपभोग भी हम न्याय-संगत समझ सकते थे।

राजाराम—पर विलासिता की वस्तुओं की माँग की वृद्धि से लोग उद्योग-धन्धों में लगते हैं, उन्हें रोज़ी मिलतीहै और इस प्रकार देश की बेकारी दूर होने में मदद भी तो मिलती है।

बिहारी—किन्तु प्रश्न यह है कि आतिशबाज़ी जैसी वस्तु के उत्पादन से कितने आदमियों को रोज़ी मिलती है? फिर हानि उससे कितनी होती है। तुमने देखा न हो, तो सुना ज़रूर होगा कि कई हज़ार रुपये की हानि तो कुँवरजी के विवाह में आतिशबाज़ी से टेंटों में आग लग जाने के कारण ही हुई थी। इसके सिवा आतिशबाज़ी की वस्तुओं के उत्पादन में हमारे देश का कितना द्रव्य, मज़दूरों की कितनी मेहनत, लगती है और फिर वह क्षण भर में नाश हो जाती है! वही अगर अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगे, तो देश का कितना बड़ा हित हो! एक ओर से आपने उन उपयोगी उद्योग-धन्धों में लगनेवाले द्रव्य को उसके क्षेत्र से लेकर उसे कमज़ोर बनाया, उसकी पूँजी कम करके उसके क्षेत्र के मज़दूर लेकर, उन उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन के क्रम को भंग किया, उसे हानि पहुँचायी और दूसरी ओर उसे क्षण भर के प्रदर्शन के लोभ पर नष्ट कर दिया! एक तो हमने अन्य उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन को कम किया, दूसरी ओर उससे मूल्य में वृद्धि करके

साधारण जनता की हानि की। वही पूँजी अन्य पदार्थों के उत्पादन में लगती, तो एक ओर ग़रीब जनता का उदर-पोषण होता, दूसरी ओर उत्पादन की वृद्धि करके हम साधारण जनता को लाभ पहुँचाते। इसीलिए हमें कहना पड़ता है कि अतिशयाली विलासिता की वृद्धि करनेवाली वस्तुओं में सब से अधिक निकृष्ट श्रेणी की और सब से अधिक हानिकर है। इसी प्रकार नाच, खेल-तमाशे, भोज आदि भी फ़िज़ूलख़र्ची ही है।

राजाराम—लेकिन आप तो समाज के लाभ को ध्यान में रखकर व्यक्ति के अधिकारों को कोई महत्त्व ही नहीं देना चाहते। राजा साहब की एक महत्त्वाकांक्षा थी कि वे अपने पुत्र का विवाह इतने धूम-धाम के साथ करें कि उनका नाम अमर हो जाय। उन्हें ऐसा करने का अधिकार था। वे अगर यह सोचते थे कि रियासत उनकी है, रुपया उनका है, वे उसे जैसे चाहें ख़र्च कर सकते हैं; इसमें किसी का क्या बनता-बिगड़ता है: तो इसमें हमको शिकायत क्यों होनी चाहिए?

बिहारी—व्यक्तिगत रूप से उनका सोचना ठीक हो सकता है। पर व्यक्तियों से ही समाज बनता है, इसलिए समाज के हित को हमें पहले देखना पड़ेगा। समाज में धनी को स्थान है, तो निर्धन को भी तो है। समाज के किसी भी एक अंग को अगर कष्ट पहुँचेगा, तो उसका प्रभाव उसके अन्य अंगों पर भी तो पड़ेगा। अगर सभी धनीमानी व्यक्ति मनमाने ढँग से ऐशो-आराम में लग जायँ और विलासिता की वृद्धि करनेवाले पदार्थों को ही ख़रीदते रहें और उसी सम्बन्ध के व्यवसाय को उत्साह और विकास मिलता रहे, तो इसका फल यह होगा कि जीवन-रक्षक और निपुणता-प्रेरक पदार्थों का उत्पादन कम हो जायगा। इसका फल यह होगा कि उन पदार्थों का मूल्य बढ़ जायगा और ग़रीब और मध्यम श्रेणी की जनता उन पदार्थों की प्राप्ति उपयुक्त मात्रा में न कर पायेगी। और ऐसा होने से उनका स्वास्थ्य, उत्साह, उनकी शक्ति और स्फूर्ति घट जायगी, उनकी कार्य-कारिणी शक्ति में शैथिल्य आ जायगा। फिर इसका प्रभाव पड़ेगा उत्पादन पर। और इस प्रकार सारे समाज का अहित होगा।

राजाराम—और ग़रीब लोग भी तो फ़िज़ूलख़र्ची करते हैं।

बिहारी—वह और भी बुरा है। सम्पन्न लोग तो अपने जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों को प्राप्त करके भी विलासिता की वृद्धि करनेवाले पदार्थ ख़रीद सकने में समर्थ होते हैं। किन्तु जब ग़रीब लोग विलासिता की वृद्धि करनेवाले पदार्थ ख़रीदते हैं, तो प्रायः उन्हें जीवन-रक्षक तथा निपुणता-दायक पदार्थों के लिए संचित पूँजी से ही विलासिता उत्पन्न करनेवाले पदार्थों को ख़रीदना पड़ता है। उस ओर की कमी से वे इधर की पूर्ति कर पाते हैं। इसके सिवा कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति में उनकी आमदनी का अधिकांश भाग पहले ही चला जाता है। इसका फल यह होता है कि उनकी कार्य-कुशलता की हानि अवश्यम्भावी हो जाती है। फिर कार्य-कुशलता की शिथिलता का प्रभाव पड़ता है उनकी आमदनी पर। वह घटने लगती है। यहाँ तक कि वे अपने परिवार का भरण-पोषण तक नहीं कर पाते। अन्त में इस बेकारी का फल सारा समाज भोगता है। सच्ची बात तो यह है कि फ़िज़ूलख़र्ची एक प्रकार का विष है। समाज को उससे बचाना हमारा सब से बड़ा कर्त्तव्य होना चाहिए।

राजाराम—यह जो आपने कहा, वह वास्तव में बिल्कुल उचित है। किन्तु अब प्रश्न यहाँ यह उठ खड़ा होता है कि तो फिर द्रव्य को ख़र्च करने का उत्तम मार्ग क्या है।

बिहारी—असल में द्रव्य को ख़र्च करने का प्रधान लक्ष्य यह होना चाहिए कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों की यथेष्ट प्राप्ति हो। पर ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब हम इस बात का ध्यान रक्खें कि हमारे देश की जैसी अवस्था है उसको देखते हुए आराम और विलासिता की वृद्धि करनेवाली वस्तुओं का उपभोग हम फ़िज़ूल-ख़र्ची समझें और समाज को नाश की ओर ले जाने वाली इस विपाक्त वृत्ति से बचावें। जीवन-रक्षक और निपुणतादायक पदार्थों को पर्याप्त परिणाम में जनता के लिए सुलभ कर लेने के बाद भले ही हमारा ध्यान आराम और विलासिता की वृद्धि करनेवाली वस्तुओं की ख़रीद की ओर चला जाय, किन्तु उसके पूर्व तो वह अहितकर ही ठहरेगा। परन्तु आराम और विलासिता की

वृद्धि करनेवाली वस्तुओं को ख़रीदते समय भी हमें यह न भूलना चाहिए कि कोई भी ऐसी वस्तु जहाँ तक सम्भव हो, न ख़रीदें, जिससे प्राप्त होने वाली तृप्ति क्षणिक हो अथवा जो सामूहिक रूप से समाज के लिए हानिकर हो। यदि कोई धनिक व्यक्ति अपनी पूँजी को दुर्व्यसनों में लुटाता है तो वह समाज का सबसे बड़ा शत्रु है। परन्तु यदि वह उसे जायदाद ख़रीदने, मकान बनवाने अथवा कला-कौशल एवं उद्योग-धंधों की वृद्धि में लगाता है, तो उसकी विचारशीलता और बुद्धिमत्ता की हमें प्रशंसा करनी चाहिए।

राजाराम—परन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने लिए जायदाद ख़रीदता है, तो वह समाज का क्या उपकार करता है?

बिहारी—उस समय चाहे ऐसा जान पड़े कि वह व्यक्तिगत लाभ के लिए ही वैसा कर रहा है। किन्तु विचार करने से पता चलेगा कि उसने अपनी पूँजी सुरक्षित रखकर अपना जो हित किया है, कभी-न-कभी उसका लाभ समाज को अवश्य मिलेगा। इसके सिवा यदि उससे केवल उसी को लाभ होता है, तो भी अर्थशास्त्र उसे अनुचित नहीं समझता। जो वस्तुएँ—अथवा जायदाद—टिकाऊ होती हैं, उन पर ख़र्च किया गया द्रव्य भविष्य के उपभोग के लिए रक्षित द्रव्य के रूप में रहता है। जब तक हम अपने द्रव्य की पाई-पाई को ख़र्च करते समय यह विचार नहीं करते कि यह ऐसी वस्तु तो नहीं ख़रीद रहे हैं जो हमारी वास्तविक आवश्यकता न होकर एक कृत्रिम आवश्यकता हो, या यह ऐसी वस्तु तो नहीं है जो हमको क्षणिक तृप्ति देने के बाद सदा के लिए लोप हो जायगी, अथवा यह केवल विलासिता की वृद्धि करनेवाली तो नहीं है, जो हमारी कार्य-शीलता को शिथिल बनाने में सहायक होकर हमारे लिए अन्त में हानिकारक सिद्ध हो; तब तक वास्तव में हम फ़िजूलख़र्ची से कभी बच नहीं सकते। तब तक हम अपना अहित तो करते ही रहेंगे, अपनी सन्तान को भी अकर्मण्य, अशिक्षित, असभ्य और गुलाम बनाते रहेंगे। और यदि हमने अपनी यह नीति न सँभाली, तो हमारा मनुष्य जन्म धारण करना सर्वथा निरर्थक, हमारी शिक्षा व्यर्थ और हमारा जीवन मिथ्या है।

राजाराम—सुना है, आपके इस परामर्श से लाभ उठाकर कुँवरजी ने इधर बहुत उन्नति की है। कल कोई कह रहा था कि उन्होंने खद्दर के प्रचार के लिए एक खादी-आश्रम खोला है। इस समय उसमें साठ-सत्तर आदमी काम कर रहे हैं।

बिहारी हँसने लगा। बोला—बस, रहने दो। मुझे यह गौरव न चाहिये। कुँवरजी स्वयं एक विचारशील युवक हैं।

पन्द्रहवाँ अध्याय
मादक वस्तुओं का निषेध

होली के दिन चल रहे हैं। शहर में लोग दल बाँधकर अश्लील फगुहा गाते, रास्ता चलनेवालों पर धूल उछालते, रंग से भिगोकर उन्हें तर-बतर कर देते, उन पर कीचड़ फेंकते और हाथ में कालिख लगाकर उनका मुँह तक काला कर देते हैं। कई दिन से शहर भर में ऐसा प्रमाद फैला हुआ है, मानों लोग पागल हो गये हैं और उन्हें इस बात का भी विवेक नहीं रह गया है कि हम यह क्या कर रहे हैं, क्या इससे हम समाज को वास्तव में हानि नहीं पहुँचा रहे हैं?

संयोग से इन्हीं दिनों, एक दिन शाम को बिहारी राजाराम के यहाँ जा पहुँचा। देखा, राजाराम उदास मुँह बनाये, हाथ पर हाथ धरे चुपचाप बैठा हुआ है। तब बिहारी ने पूछा—क्या बात है राजाराम भाई, ऐसे गम्भीर क्यों बैठे हुए हो?

राजाराम ने कहा—अजीब अन्धेर मचा हुआ है। होली हमारे आनन्द मनाने का त्यौहार है। इन दिनों, दो-चार दिन के लिए, हमको इतना अवसर मिलता है कि हम भाँग पीते और दुख भूलकर आनन्द मनाते हैं। पर आज हम अभी ठेके पर जो भांग लेने गये, तो देखा, दूकान ही बन्द है। पता लगाने पर मालूम हुआ कि तीन दिन दूकानें बन्द रहेंगी। सरकार का हमारे साथ यह अत्याचार नहीं तो और क्या है? यह तो हमारी स्वाधीनता में सरासर हस्तक्षेप करना है। आज भाँग पीना मना कर दिया जाता है, कल कहा जायगा कि रंग खेलना जुर्म है।

बिहारी मुसकराने लगा।

राजाराम ने कहा—आपको इसमें आनन्द आ रहा है। लेकिन मैं गम्भीरता-पूर्वक कह रहा हूँ। मैं पूछता हूँ कि सरकार को हमारे उपभोग में अड़चन डालने का क्या हक़ है?

बिहारी अब बोल उठा—उत्तर सुनने से पूर्व आवश्यकता इस बात की है कि तुम ज़रा शान्त होओ, जो कुछ मैं कहता हूँ उसको ध्यान से सुनो और विचार करो कि वह वास्तव में उचित है या नहीं।

राजाराम—अच्छी बात है। आप अब मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। मैं ध्यान से, शान्ति के साथ, सुनूँगा।

बिहारी—पहले तो विचारणीय यह है कि किसी व्यक्ति को उपभोग सम्बन्धी प्राकृतिक अधिकार कहाँ तक प्राप्त है। तुम कह सकते हो कि हमको यह प्राकृतिक अधिकार है कि हमें खाने-पीने, पहनने तथा उपभोग सम्बन्धी बातों में पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो। जब जिस किसी वस्तु के उपयोग की हमारी इच्छा हो, तब उस वस्तु के उपयोग में अड़ंगा डालना, अथवा बाधा पहुँचाना प्राकृतिक और न्याय-दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। अतएव किसी समाज अथवा सरकार को कदापि यह अधिकार नहीं है कि वह हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा व्यक्तिगत अधिकारों को क़ानून द्वारा छीनकर हमारी उपभोग-स्वाधीनता में हस्तक्षेप करे।

राजाराम—हाँ बस, यही हमारा दावा है।

बिहारी—लेकिन यहाँ पर तुम यह नहीं सोच रहे हो कि जब तक हम किसी समाज के भीतर रहते हैं, तब तक हमारे प्रत्येक कार्य का प्रभाव समाज पर पड़े बिना कैसे रह सकता है? यदि कोई व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों के अभिमान में डूबकर मनमानी करना चाहता है, प्रमाद-मग्न होकर अपने मानवी स्वरूप से पृथक् जाकर जानवर बन जाना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह मानव समाज से अपने को पृथक् कर ले और जंगलों अथवा पहाड़ों में जाकर डेरा जमाये। पर यदि वह समाज का अंग बनकर रहना चाहता है तो उसको इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि उसके किसी काम से समाज को हानि तो नहीं पहुँच रही है! उसे सदा

इसका विचार रखना पड़ेगा कि वह कोई ऐसा काम न करे, जिसमें उसे चाहे क्षणिक आनन्द भी प्राप्त हो, पर उससे सामूहिक रूप से समाज की हानि हो रही हो। जब कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब सरकार को मनुष्य की प्राकृतिक तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता अगर पड़ जाय, तो इसमें आश्चर्य्य की क्या बात है? सच पूछिए तो मनुष्य ऐसा स्वार्थी प्राणी है कि वह यह विचार करना नहीं चाहता कि उसके अमुक कार्य से उसके पड़ोसी, परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों को किसी प्रकार की हानि भी पहुँच सकती है। यदि किसी कार्य अथवा दुर्व्यसन विशेष से उसको क्षणिक तृप्ति अथवा संतुष्टि मिलती है, तो वह उस कार्य अथवा अभिलाषा को पूर्ण करने में आंख मूँदकर तत्पर हो जाता है। उस समय फिर उसे यह विचार करने की भी आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि मेरा यह कार्य मेरे अथवा समाज के लिए हितकर है या अहित-कर। इसीलिए ऐसी स्थिति में सरकार का उपभोग-सम्बन्धी अवांछनीय आयो-जनों में हस्तक्षेप करना परम आवश्यक हो जाता है।

राजाराम—मुझे आज आपकी यह बात पसन्द नहीं आई। आप तो उन लोगों में से रहे हैं जो स्वतन्त्रता की लड़ाई में सदा प्रजा का ही पक्ष-समर्थन करते आये हैं। किन्तु आज मैं आपको उस रूप में देखता हूँ जैसे आप प्रजा-पक्ष के न होकर मानो एक सरकारी कर्मचारी हों, अथवा उस नरम दल के, जो सदा सरकार का रुख़ देखकर बात करना देशोद्धार का एक सुन्दर और सजीव मार्ग समझता है।

बिहारी—यह तुम्हारी भूल है। सच्ची बात हमेशा मधुर और प्रिय ही नहीं हुआ करती। वह कभी-कभी कटु भी होती है। तुम्हारी आज की बात-चीत सुनकर मुझे विवश होकर तुमको भी उन्हीं अशिक्षित और ग्रामीण लोगों के वर्ग में सम्मिलित कर लेना पड़ेगा, जो कहा करते हैं कि हम अगर शराब या भाँग, अफ़ीम या चंडू पीते या खाते हैं, तो किसी का क्या बिगाड़ते हैं; अपने पैसे ही तो उड़ाते हैं। अगर स्वास्थ्य ख़राब होता है, तो हमारा ही न, हम उसे भोग लेंगे। पर इसमें किसी को हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार है?

राजाराम—अच्छा, थोड़ी देर के लिए मान लीजिए, मैं इसी विचार का हूँ।

बिहारी—लेकिन मैं साफ़ तौर से यह कहना चाहता हूँ कि उन लोगों का यह दावा बिल्कुल ग़लत है। उनके इस हठ, इस नासमझी और अदूर-दर्शिता से भरी बेवकूफ़ी का कुफल वे स्वयं ही नहीं भोगते, वरन् उनका सारा समाज, बल्कि मैं कहूँगा कि सारा देश भोगता है। मादक वस्तुओं के सेवन से जो उनका स्वास्थ्य चौपट होता है, जो उनकी कार्य-कुशलता क्षीण होती है, वह तो उन्हें नाश की ओर ले ही जाती है, किन्तु उसका दुष्परिणाम हमारे समाज की अबोध, असंलग्न और अपरिचित जनता भी भोगे बिना नहीं रहती। मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि होली, माना कि हमारे आनन्द मनाने का त्यौहार है, पर जो लोग किसी प्रकार से भूखे-नंगे, दीन-दुखी, परदेशी अथवा विजातीय या विधर्मी हैं, उन पर अंधे बनकर रंग फेंकना-डालना, उन्हें शराबोर कर देना, उन पर धूल-कीचड़ उछालना उन्हें अश्लील गाली देना, उनका मुँह काला कर देना कहाँ तक उचित है? क्या यह जंगलीपन नहीं है? क्या यह एक तरह का प्रलाप, एक प्रकार की अन्ध रूढ़ि-भक्ति नहीं है?

लेकिन इतना ही नहीं, इसका एक दूसरा पहलू भी है। दुर्व्यसनों का प्रभाव जब स्वास्थ्य पर पड़ता है, तब हमारी कार्य-शक्ति भी क्षीण होती है। और कार्य-शक्ति के क्षीण होने का दुष्परिणाम हमारी आय पर पड़े बिना नहीं रहता। जब आय घट जाती है, तो हमारी रहन-सहन की जो मर्यादा है, वह चौपट हो जाती है। और फलतः तब हम अपनी संतान को न तो अच्छा भोजन दे पाते हैं, न यथेष्ट वस्त्र तथा शिक्षा। और अन्त में हमारी वह संतान, जो हमारे भविष्य का प्रतीक होती है, जिस पर हमारी सारी आकांक्षाएँ निर्भर रहती हैं, जो हमारे जीवन के मधुर स्वप्न हैं, वे रोगी, निर्बल और मूर्ख होकर भ्रष्ट और पतित बनकर हमारे महानाश के कारण बनती हैं। और हमारी वे महत्वाकांक्षाएँ अपूर्ण-की-अपूर्ण ही रह जाती हैं। हमारे वे स्वप्न कभी पूरे नहीं होते। इसके सिवा देश की उत्पादक-शक्ति की जो क्षति होती है, वह तो एक तरह से हमारी राष्ट्रीय क्षति है। और राष्ट्रीय क्षति करनेवाली जो मादक वस्तुएँ हैं, उनके प्रचार पर यदि सरकार नियमन

करती है, तो मुझे विवश होकर कहना पड़ेगा कि यह उसका अधिकार है।

राजाराम—लेकिन आप एक बात भूल रहे हैं कि मादक वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाला वर्ग कौन-सा है। आखिर किसान, मजदूर, व्यवसायी और धनीमानी व्यक्ति ही तो इसमें आदि से लेकर अन्त तक संलग्न रहते हैं। कितने आदमियों की जीविका उससे चलती है, कितने आदमी उससे लाभ उठाकर सम्पन्नता प्राप्त करते हैं!

बिहारी—बहुत थोड़े आदमी। लेकिन अगर वे अधिक भी हों, तो हमें विवश होकर यह कहना पड़ेगा कि वे हैं तो आखिरकार गुमराह ही। अगर मादक वस्तुओं का उत्पादन बिल्कुल बन्द कर दिया जाय, तो जो पूँजी, शक्ति, श्रम और बुद्धि इन हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन, सजावट और प्रचार में लगती है, वह अन्य उद्योग-धन्धों में लगे, तो समाज की कितनी भलाई हो, वह कितना सुखी और समृद्धिशाली बने! माना कि इन मादक वस्तुओं के उत्पादन में कुछ लोग सुखी और सम्पन्न हो जाते हैं, किन्तु उससे जो हानि होती है, वह कितनी अधिक है, कितनी व्यापक है! यहाँ तक कि अनेक बीमारियों के रूप में वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी किंवा पुश्त-दर-पुश्त चलती है! मैं पूछता हूँ कि यह हमारे राष्ट्र के निर्माण में कितनी असहनीय हानि है! हमारे देश का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि जब ऐसी कुरीतियों, कुरूढ़ियों और कुप्रवृत्तियों का विरोध और नियमन किया जाता है, तब नासमझ लोग उसमें आपत्ति खड़ी करते हैं।

बिहारी की बातें सुनकर राजाराम बड़ी देर से मन-ही-मन पछता रहा था। वह अब बोला—अच्छी बात है। मैं और कोई नशा तो करता नहीं था। हाँ, कभी-कभी भांग अवश्य छान लिया करता था। आज त्यौहार के कारण ज़रा मुझे परेशानी हो रही थी। पर अब मेरी आंखें खुल गयीं। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब कभी भाँग भी न पिऊँगा।

सोलहवाँ अध्याय

उपभोग में सरकार के अन्य हस्तक्षेप

—o-co-o—
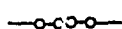
कल बाज़ार में एक आदमी तेल और गुड़ की जलेबियाँ बेच रहा था। एक लड़का, जो किसी मज़दूर का जान पड़ता था, वहाँ आकर खड़ा हो गया। बोला—कल मैंने तुमसे जलेबी लेकर खाई थी। उससे मेरी तबीयत ख़राब हो गई थी। पहले मुझे मिचली आती रही, फिर क़ै हो गई। तुम बड़ा ख़राब सौदा बेचते हो।

उस समय जो औरत उस दूकानदार से जलेबी ख़रीद रही थी, वह बोली—तो रहने दो। मुझे तुम्हारी जलेबी न चाहिये।

इस पर दूकानदार बिगड़ खड़ा हुआ। बोला—यह इसी की बदमाशी का नतीजा है। हट यहाँ से! मेरी दूकानदारी बिगाड़ता है।

लड़का बोला—एक तो सौदा ख़राब बनाते हो, दूसरे मुझे दुतकारते हो। अच्छी बात है। तो फिर मैं यहाँ खड़ा हूँ। मुझे हटा सको, तो हटा लो। देखूँ, कैसे हटाते हो!

इतना कहकर वह उसकी दूकान से ज़रा फ़ासिले पर खड़ा हो गया।

दूकानदार से सहन न हुआ और वह खोन्चा छोड़कर उस लड़के पर टूट पड़ा। दो तमाचे उसने उसके लगा दिये। गाली भी उसे दी। बाज़ार का दिन ठहरा। लोग इधर-उधर से आकर वहाँ खड़े हो गये। लड़का मार खा रहा था, तो भी पैर जमाये हुए था। कहता था—चाहे मुझे मार ही डालो, पर मैं न तो यहाँ से हटूँगा, न सौदा बिकने दूँगा।

इस पर जो लोग खड़े हुए थे, उनमें से किसी ने पूछा—बात क्या है? कोई कहने लगा—यह सरासर ज़्यादती है। लड़का ठीक कहता है। तुमको सौदा ख़राब नहीं बनाना चाहिये। कोई बोला—लेकिन भाई दूकानदारी में अड़चन डालना भी तो ठीक नहीं है। इस तरह से कोई भी कहने लगेगा कि हलवाई के पेड़ों में बासी खोआ पड़ा है। तब तो दूकानदारी हो चुकी।

इस प्रकार जितने लोग जमा थे सब अपने-अपने विचार के अनुसार बात कर रहे थे। कोई लड़के के पक्ष में कहता था, कोई दूकानदार के पक्ष में। इसी समय वहाँ पर एक कान्स्टेबिल आ पहुँचा। पहले तो वह लोगों की बातचीत सुनता रहा। जब उसे असलियत मालूम हो गई, तो उसने उस दूकानदार से कहा—चलो, अपना यह ख़ोन्चा लेते चलो। तुमको दारोग़ा साहब ने बुलाया है। लड़के से भी उसने कहा—तुम भी चलो।

दूकानदार ने बहुत कुछ आरज़ू-मिन्नत की। पर कान्स्टेबिल नहीं माना। वह दोनों को थाने पर ले गया। वहाँ पहुँचने पर पुलिस के सब-इन्स्पेक्टर ने दोनों के बयान लिये। लड़के को तो उसने छोड़ दिया। पर दूकानदार पर मुक़दमा क़ायम कर दिया। वह बेचारा एक ग़रीब आदमी है।

बिहारी राजाराम की बात चुपचाप सुन रहा था। जब वह अपनी बात कह चुका, तो बिहारी ने पूछा—और वह लड़का?

राजाराम—भाई सच्ची बात तो यह है कि वह लड़का आवारा है। इधर-उधर घूमता रहता है। उसका संग-साथ भी अच्छा नहीं है। बेचारे दूकान-दार को व्यर्थ ही में उसने फँसा दिया है। बेचारा ग़रीब आदमी है और फिर घर-गृहस्थीवाला है। किसी तरह अपनी गुज़र-बसर कर रहा है।

बिहारी—पर यहाँ ग़रीब और अमीर का कोई सवाल नहीं है। प्रश्न तो यहाँ इस बात का है कि अगर कोई आदमी बुरी खाद्य वस्तु बेचता है, तो सरकार को तो हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा।

राजाराम—आप भी अज़ीब क़िस्म की बात करते हैं! जलेबियों में उसने ज़हर तो मिलाया न होगा। तेल-गुड़ की जलेबियाँ थीं और चार पैसे पाव बेच रहा था।

बिहारी—ठीक है। लेकिन आजकल तो देहात में भी मिलों का दूषित तेल, सस्ता पड़ने के कारण, आ गया है। देहात में तेल का साधारण अर्थ लिया जाता है सरसों का तेल, लेकिन मिलों का जो तेल सरसों के तेल के रूप में बिकता है, उसमें मूँगफ़ली का तेल शामिल रहता है।

राजाराम—यह मिलावट की बात आपने ख़ूब कही! मिलाने को तो लोग घी में भी महुवे की अटुली का तेल, वनस्पति घी और चर्बी तक मिलाकर बेचते हैं। यहाँ तक कि असली घी का मिलना कठिन हो गया है। बाज़ार से घी ख़रीदने का अर्थ है, दूषित घी लेना। हम तो बाज़ार का घी सूँघ भी नहीं सकते। इससे तो ख़ालिस सरसों का तेल फिर भी अच्छा। लेकिन यह आपने ठीक बतलाया कि तेल में भी मिलावट होने लगी है।

बिहारी—खाने-पीने और शरीर के उपयोग में आनेवाली वस्तुओं में मिलावट होने से, उपभोक्ता को, ठगे जाने के कारण, द्रव्य ही की हानि होती है, सो बात नहीं है। मिलावट से भरी बुरी खाद्य अथवा व्यवहार्य्य वस्तुओं के सेवन से स्वास्थ्य पर भी तो बुरा प्रभाव पड़ता है। उपभोग करनेवालों को तो इतना ज्ञान नहीं होता है कि प्रत्येक वस्तु को ख़रीदते समय उसकी परीक्षा कर सकें। जब कभी उन्हें किसी वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता होती है, तभी वे उसे ख़रीदते हैं। उस समय उन्हें इतना मौक़ा भी कहाँ होता है कि वे अच्छी तरह उसके गुण-दोष की छानबीन कर सकें। इसीलिए सरकार का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह ऐसे क़ानून बनावे, जिससे सर्वसाधारण जनता खाद्य अथवा व्यवहार्य्य वस्तुओं में मिलावट से होनेवाली हानियों से बच सके। जो लोग मिलावट करके इन वस्तुओं की बिक्री से अनुचित रूप से लाभ उठाते हैं, उन्हें सज़ा दें। हमारे प्रान्त में किसी-किसी म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में इस प्रकार के क़ानून लागू भी किये गये हैं। कहीं-कहीं, उनको थोड़ी-बहुत सफलता भी मिली है। लेकिन ऐसे क़ानून तो हर जगह के लिए बनने चाहिए।

राजाराम—तो आपके मत से उस दूकानदार पर जो मुक़दमा क़ायम कर दिया गया, यह अच्छा हुआ।

बिहारी—मुझे व्यक्तिगत रूप से उस दूकानदार से कोई शिकायत नहीं है।

लेकिन मैं यह ज़रूर कहूँगा कि उसने लाभ को ही दृष्टि में रखकर, ख़राब तेल का प्रयोग करके, देहात की ग़रीब, नासमझ और भोली जनता को हानि ज़रूर पहुँचायी है।

राजाराम—लेकिन यह मामला यहीं ख़तम नहीं होता। अख़बारों में जो पेज-के-पेज विज्ञापनों से रँगे रहते हैं, क्या उनके अन्दर धोखेबाज़ी नहीं रहती?

बिहारी—तुमने बिल्कुल ठीक बात कही है। विज्ञापन का अर्थ है किसी वस्तु के लिए यह प्रकट करना कि उसका रूप-गुण-स्वभाव, लक्षण और मूल्य क्या है। किन्तु आजकल तो विज्ञापनों में वस्तुओं की इतनी अधिक प्रशंसा छपा करती है कि पाठक धोखे में आ जाते हैं। जो व्यापारी अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करने में जितनी अधिक झूठ से काम लेता है, समझना चाहिए, अपने पेशे में वह उतना ही अधिक सफल है।

राजाराम—यह विष देहात में भी ख़ूब फैल रहा है। नोटिसबाज़ी की बदौलत साधारण पढ़े-लिखे लोग वैद्यराज बनकर लक्षाधीश बन गये हैं। मेलों में कभी जाकर देखिए, एक-एक आदमी के हाथ में-दस-दस, बीस-बीस नोटिस आप इकट्ठे पायेंगे। लेकिन एक बात में हमें उनकी प्रशंसा करनी पड़ेगी। वह यह कि ये लोग विज्ञापनबाज़ी में पैसा पानी की तरह बहाते हैं।

बिहारी—लेकिन विज्ञापनबाज़ी का यह बढ़ा हुआ ख़र्च अन्त में पड़ता तो उपभोक्ताओं पर ही है। इसलिए सरकार का यह कर्तव्य है कि वह झूठे विज्ञापनों से हमारी रक्षा करे।

राजाराम—लेकिन एक बात तो बतलाइए। आजकल कुछ चीज़ें महँगी हो रही हैं। सरकार इसके लिए कोई प्रबन्ध क्यों नहीं करती?

बिहारी—बात यह है कि जब सरकार को अपनी और अपने अधीनस्थ देशों की रक्षा के लिए विरोधी देशों से लड़ना पड़ता है, तब उपभोग-सम्बन्धी बातों में सरकार को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता पड़ जाया करती है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी तो देश की पूँजी और श्रम को उपभोग-सम्बन्धी व्यवसायों से हटाकर, अपने तात्कालिक हितों का ध्यान रख कर, दूसरे व्यवसायों में लगाना पड़ता है। ऐसे समय युद्ध-सम्बन्धी नवीन

क़ानून भी बनाने पड़ जाते हैं। पिछली बार जब सन् १९१४ में युद्ध हुआ था, तब भी इंगलैंड और अमेरिका की सरकारों को ऐसे क़ानून बनाने पड़े थे, जिनसे जनता के लिए उपभोग-सम्बन्धी पदार्थों में बड़ी कमी पड़ गयी थी। बात यह है कि ऐसे समय फ़ौज की रक्षा, घायलों की सेवा, नवीन फ़ौज के लिए खाद्य और अन्य व्यवहार्य्य वस्तुएँ, गोलाबारूद एवं अन्य सामान का संग्रह करने की ओर सरकार का ध्यान प्रधान रूप से रहता है। इसलिए उपभोग-सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। जनता को चाहिए कि देश की रक्षा के नाम पर उसकी सहायता करे।

राजाराम बोल उठा—इस तरह तो उपभोग-सम्बन्धी कई बातों में सरकार के हस्तक्षेप करने का अधिकार मानकर आप एक तरह से उसी पक्ष के व्यक्ति हो जाते हैं।

विरागी—यहीं तुम ग़लती कर रहे हो। राजनीति के साथ अर्थशास्त्र का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अर्थशास्त्र के कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनमें सरकार के सहयोग और हस्तक्षेप के बिना देश का सार्वजनिक हित सम्भव ही नहीं है। कुछ बातें मैंने तुमको बतला दी हैं। अब केवल एक बात मुझे और कहनी है। वह यह कि जिस उपभोग से सार्वजनिक सेवा का सम्बन्ध होता है; उसका प्रबन्ध व्यक्ति की अपेक्षा सरकार बहुत अच्छी तरह कर सकती है। जैसे- रेल, तार, डाक आदि। इन विभागों का प्रबन्ध प्रत्येक देश की सरकार को, अपने हाथ में लेना पड़ता है। उससे सर्वसाधारण को, इन विभागों के उपभोग में, अधिक सुविधाएँ मिलती हैं।

सर्वसाधारण जन-समुदाय के लाभ की दृष्टि से उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह इनके मूल्य, दरें तथा उनके प्रकार ऐसे और इतने रखे कि जनता उनका अधिक-से-अधिक परिमाण में उपभोग कर सके। इन विभागों की उन्नति के मूल में कुछ ऐसे उद्योग-धन्धे भी होते हैं, जिनका देश की जनता की समृद्धि के साथ अनिवार्य सम्बन्ध होता है। जैसे—लोहे तथा ईंधन की खानें और जलयान। सरकार के लिए यह आवश्यक होता है कि इन खानों तथा इनसे संलग्न उद्योग-धन्धों का प्रबन्ध ऐसे ढंग से करे कि जनता को उपभोग-सम्बन्धी अधिक-से-अधिक

तृप्ति प्राप्त हो। ये ऐसे विभाग हैं कि इन्हें जनता पर छोड़ देने का अर्थ है, तत्कालीन जनता के हाथ में उपभोग-सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता देकर भावी जनता के लिए कुछ भी शेष न रखना। इसीलिए सरकार को उपभोग-सम्बन्धी इन विभागों पर हस्तक्षेप करना ही पड़ता है। यह अर्थशास्त्र की दृष्टि है। सरकार अथवा जनता के पक्ष-विपक्ष का इसमें कोई प्रश्न नहीं है।

राजाराम और बिहारी में बातें हो ही रही थी कि उसी समय वही खोन्चेवाला उधर से आ निकला। राजाराम ने पूछा—कहो रामधन, तुम्हारे मामले में फिर क्या हुआ?

रामधन ने कहा—हुआ क्या पंडित जी, असल में क़ुसूर मेरा था ही। पर उस समय रोज़ी-रोज़गार छिनने के विचार से मुझे उस लड़के की वह हरकत बेजा मालूम हुई और मैंने उसे मार दिया। अब रही बात मिलावट की। सो आप जानते हैं कि जैसा माल हमें मिलता है, वैसा ही हम लगाते हैं। इसमें हमारा दोष क्या है? यही सब बातें मैंने दरोग़ाजी से कहीं। ग़रीब मैं इतना न होता, तो क्या चार-छै आने रोज़ के आसरे पर ऐसी टुटपुँजिया दुकानदारी पर जान देता। शाम तक मैं वहीं बना रहा। अन्त में तरस खाकर उन्होंने मुझे छोड़ दिया।

राजाराम ने कहा—चलो, अच्छा हुआ।

रामधन बोला—अच्छा जो कुछ हुआ सो तो हुआ ही। पर मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं अब तेल-गुड़ की जलेबी बेचने का यह काम न करूँगा। न इस काम में कोई इज़्ज़त है, न ज़्यादा लाभ। जगह मुझे बाज़ार में मिल गयी है। सो वहीं पेड़ा-बरफ़ी लगाया करूँगा। झूठ क्यों बोलूँ, तेल ज़रूर उस दिन कुछ सस्तावाला लगा दिया था। बड़ी ख़ैर हुई, जो भगवान ने बचा लिया। नहीं तो कहीं का न रहता।

सत्रहवाँ अध्याय

बरबादी

बिहारी ज्यों ही राजाराम के घर पहुँचा, तो देखता क्या है कि उसने उपले सुलगा रक्खे हैं जिसके कारण धुआँ घर-भर में भरा हुआ है। तब वह बोला—जानते हो, तुम यह क्या कर रहे हो?

राजाराम पहले तो आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगा। फिर बोला—क्या! तुम्हारा मतलब क्या है मैं समझ नहीं सका।

बिहारी ने कह दिया—घर में यह जो धुआँ भरा हुआ है, काहे का है, जानते हो?

राजाराम ने कहा—आज बाटी खाने की तबीयत है। इसीलिए उपले सुलगाये हैं। उसी का धुआँ है। अभी ज़रा देर में जब ये धधक उठेंगे, तो धुआँ न होगा। आपको तकलीफ होती हो, तो आप तब तक, न हो, बाहर [illegible] में बैठें। आज का अखबार आ गया है, तब तक उसे पढ़ें। इसे सुलगने में अभी कुछ देर तो लगेगी ही।

राजाराम अब भी समझ नहीं सका कि बिहारी ने जो प्रश्न किया है, उसका [illegible] है। तब बिहारी ने और अधिक स्पष्ट रूप से कहा—तुम जो यह धुआँ देख रहे हो, यह [illegible] में सिर्फ उपलों का है। पर क्या तुम जानते हो [illegible] अपनी सम्पत्ति को नष्ट कर रहे हो। अगर तुम इनको न जलाकर खाद बनाकर खेतों और [illegible] में पहुँचाते, तो आज जितनी पैदावार इन खेतों में होती है, उससे दुगुनी होती। इस तरह से यह

खाद की बरबादी हुई। और बरबादी का उपभोग, रहन-सहन और देश की श्रीसमृद्धि से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी प्रकार कहीं द्रव्य की बरबादी होती है, कहीं अन्न, समय, शक्ति और स्वास्थ्य की। ये सब बरबादियाँ मिलकर एक निश्चित परिमाण में देश की उपभोग-सम्बन्धी सन्तुष्टि को कम करती हैं। यदि ये न हों और देश पूर्ण रूप से तृप्ति प्राप्त करे, तो उसे समुन्नत और समृद्धिशाली बनने में किंचित देर न लगे।

राजाराम ने बाहर छप्पर में चारपाई डाल दी। बिहारी उस पर बैठ गया। तब राजाराम ने भी दूसरी चारपाई पर बैठ कर कहा—मैं समझा नहीं, आपका क्या मतलब है। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हम लोग अपनी आमदनी पर ध्यान न रखकर व्यर्थ का व्यय बहुत अधिक कर डालते हैं?

बिहारी—वास्तव में तुम नहीं समझे। तुम जो बात कह रहे हो, वह तो फ़िज़ूलख़र्ची की है जिसके सम्बन्ध में हम पहले तुम्हें समझा चुके हैं। पर यह विषय तो बरबादी का है। अगर हम किसी पदार्थ से उतनी उपयोगिता प्राप्त न करें, जितनी हमको उससे मिल सकती थी, तो समझना होगा कि उतनी हमने बरबाद कर दी। अगर हमने समय का विचार नहीं किया, उससे जितनी उपयोगिता हमें मिल सकती थी, हम ले नहीं सके, तो हमें सोचना चाहिये कि एक अंश में हमने समय की बरबादी की। इसी प्रकार अगर हम अपने द्रव्य से पूरा लाभ न उठा सके, तो हमें समझना चाहिए कि हमने द्रव्य की बरबादी की। फ़िज़ूलख़र्ची में तो हम उतना अधिक ख़र्च कर डालते हैं, जितना हमारे लिए उचित नहीं होता। वह एक अंश में हमारे लिए अनुचित होता है। परन्तु बरबादी तो वह हुई, जिसमें हमने अपने समय, द्रव्य तथा पदार्थों को व्यर्थ नष्ट हो जाने दिया। जितना लाभ हमें उनसे उठाना चाहिए था, हमने नहीं उठाया।

राजाराम—लेकिन बड़ी कठिनाई तो यह है कि समयानुसार हमें मालूम नहीं होने पाता कि अमुक वस्तु को हम बरबाद कर रहे हैं।

बिहारी—हाँ, यह तुम ठीक कहते हो। बरबादी का परिमाण इतना छोटा होता है कि सहज ही हमें मालूम नहीं पड़ता। किन्तु थोड़ा-थोड़ा करके अन्त में वह इतना बढ़ जाता है कि हमें आश्चर्य होता है। उदाहरण रूप में

पहले हम घरों की बरबादी की ओर ज़रा ध्यान दें। घरों में कितनी अधिक बरबादी अन्न की होती है! नाली में कहीं चावल पड़ा रहता है, कहीं दाल। कहीं रोटी के टुकड़े, कहीं सब्ज़ी।

राजाराम—हाँ, यह तो आपने ठीक बतलाया। पर इतने छोटे अंश में जो बरबादी होती है, वह तो होगी ही। चाहे कितनी सावधानी रक्खें, वह अवश्य होगी। उसे हम दूर कैसे कर सकते हैं।

बिहारी—कर सकते हैं। पहले हमें इसका कारण सोचना होगा। अन्न की यह जो बरबादी होती है, उसका एक मुख्य कारण होता है खाना अच्छा न बनना।

राजाराम—हाँ, यह आपने खूब सुझाया।

बिहारी—दूसरा कारण है घर का प्रबन्ध ठीक न होने के कारण खाने का आवश्यकता से अधिक बना डालना। अब हम तुमसे यह पूछना चाहते हैं कि अगर घर का प्रबन्ध ठीक रहे, उतना ही बनाया जाय, जितना आवश्यक हो और घर के लोग खाना बनाने में प्रवीण हों, तो अन्न की जो बरबादी हम नित्य किया करते हैं, धीरे-धीरे उसकी बचत के लाभ से क्या हम परिवार को अधिक सुखी और सन्तुष्ट नहीं बना सकते? तुमने देखा होगा कि विवाहादि उत्सवों पर ढेर-के-ढेर खाद्य पदार्थ बरबाद होते हैं। घड़ी, शीशे के बर्तन कितनी जल्दी टूट जाते हैं? अगर ये वस्तुएँ एक निश्चित स्थान पर सम्हालकर रक्खी जायँ, तो इनकी बरबादी को हम बहुत बड़े अंशों में कम कर सकते हैं। इसी प्रकार कपड़ों को अगर हम सम्हालकर रक्खें, तो जिन्हें हम जल्दी ही पुराना बना डालते और अनुपयुक्त समझकर फेंक देते हैं, उन्हें छै महीने तो हम और अधिक चला सकते हैं। इसके बाद अन्त में वे फटी-पुरानी वस्तुएँ भी तो अपनी एक उपयोगिता रखती ही हैं। पर हम इस ओर ध्यान ही नहीं देते। फटे-पुराने चिथड़ों से काग़ज़ बनता है और कूड़ा खाद के काम आता है।

राजाराम—लेकिन इन सब बातों की जानकारी हुए बिना इसका लाभ हम उठा ही कैसे सकते हैं!

बिहारी—हाँ, यह तुम ठीक कहते हो। शिक्षा के बिना यह सम्भव नहीं है।

पर शिक्षा भी ऐसा होनी चाहिए कि हम मितव्ययिता सीखें और बरबादी के प्रत्येक प्रकार से परिचित होकर उसे रोकें। घरों की बरबादी दूर करने के लिए गार्हस्थ्यशास्त्र की शिक्षा बहुत आवश्यक है। प्रत्येक गृहिणी को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह इस बात की पूर्ण जानकारी रक्खे कि उसके परिवार में कितने और किस प्रकार के समान की अधिक आवश्यकता होती है और उससे अधिक-से-अधिक तृप्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है। सबसे अधिक विचार रखने और ध्यान देने की बात इस विषय में यह है कि बरबादी का थोड़ा परिमाण भी जब नियमित और स्थायी बन जाता है, तभी हमारी सब से अधिक क्षति होती है। नित्य हमें बरबादी को कम करने की चेष्टा करनी चाहिए। प्रारंभ में नित्य थोड़ा भी ध्यान देने से हम इसे बहुत शीघ्र दूर कर सकते हैं।

राजाराम—ध्यान से देखा जाय, तो यह बरबादी हमें और भी अनेक दिशाओं में मिलेगी। यहाँ देहात में कितने अधिक बच्चे मारे-मारे फिरते हैं, न उनकी शिक्षा का कोई उचित प्रबन्ध है, न उनके भरण-पोषण का। एक तरह से उनका जीवन बरबाद ही तो हो रहा है!

बिहारी - निश्चित रूप से! किन्तु इस बरबादी की ज़िम्मेदारी हम लोगों पर उतनी नहीं, जितनी हमारी राष्ट्र की शासन-पद्धति पर है। हाँ, हम सामूहिक रूप से स्वास्थ्य की बरबादी के ज़िम्मेदार अवश्य हैं। हमारे देश में संक्रामक रोगों से प्रति वर्ष लाखों आदमी मरते हैं। यदि हममें स्वास्थ्य-रक्षा-सम्बन्धी ज्ञान का पूर्ण प्रचार हो, अपना रहन-सहन हम स्वास्थ्य रक्षा-सम्बन्धी नियमों के आधार पर रखना सीख जायँ, तो हम अपने देश की बढ़ती हुई जन-संख्या की आंशिक बरबादी को बहुत अंशों में रोकने में समर्थ हो सकते हैं।

राजाराम—लेकिन नन्हें बच्चों की बढ़ती हुई मृत्यु-संख्या को हम कैसे रोक सकते हैं?

बिहारी—बच्चों की मृत्यु-संख्या को कम करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि बाल-विवाह एकदम से बन्द कर दिया जाय, और माताओं के लिए ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध हो, जिससे वे संतान-पालन का ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकें। जिन मज़दूरों की स्त्रियाँ कारख़ानों में काम

करती है, उनके बच्चों के पालन-पोषण का उचित प्रबन्ध हो। और सबसे अधिक आवश्यक यह है कि चिकित्सा का प्रबन्ध जन-साधारण के लिए निःशुल्क हो।

राजाराम—और जो लोग अदालतबाज़ी में अपना रुपया-पैसा बरबाद करते हैं, उनके लिए क्या हो सकता है? इसका सम्बन्ध तो सरकार से है।

बिहारी—अगर स्थानीय पंचायतों का संगठन और प्रचार हम गाँव-गाँव में कर सकें, तो मुक़दमेबाज़ी से होनेवाली बरबादी को भी बहुत अंशों में रोक सकते हैं। किन्तु एक मुक़दमेबाज़ी ही क्यों, समाज में कुछ कुरीतियाँ तथा रूढ़ियाँ भी तो ऐसी हैं, जिनके द्वारा हमारे समाज की एक बहुत बड़ी शक्ति बरबाद होती है। विवाह-बरातों में हम-बड़ी बड़ी दावतें देते, उनमें विलायती शराब को पानी की तरह बहाकर अपनी गाढ़ी कमाई का सत्यानाश करते हैं। आतिशबाज़ी से कितनी बड़ी हानि हम इस अवसर पर कर डालते हैं, इस विषय में हम पहले काफ़ी बतला ही चुके हैं। यही पूँजी अगर हम बचाकर अन्य उद्योग-धन्धों में लगायें तो कितने बेकार दीन-दुखियों का पेट चले! इस तरह समाज की जो शक्ति और पूँजी हम बराबर बरबाद करते आते हैं, अगर हम उसे रोक सकें, तो कितना बड़ा लाभ हो!

राजाराम—हाँ, यह विषय वास्तव में ध्यान देने योग्य है। अच्छा, अब हम बाटी सेंक लें। धुआँ भी कम हो गया है। हँसिये नहीं, जो उपले बन गये हैं, वे तो अब इस्तेमाल में आयेंगे ही। पर अब आज से ही हमारे पशुओं का गोबर खाद के ही काम में आयेगा।

अठारहवाँ अध्याय

भविष्य का उपभोग और बचत

एक दिन की बात है। राजाराम किसी सोच में उदास बैठा हुआ था। बिहारी ने आते ही पूछा—क्या बात है भाई? ऐसे उदास क्यों बैठे हुए हो?

राजाराम ने कहा—कुछ नहीं, यों ही बैठा हूँ। आज तबियत ज़रा उलझन में है।

बिहारी ने पूछा—वही तो मैं जानना चाहता हूँ।

राजाराम—बात यह है कि मुन्नू का यज्ञोपवीत करना है और पैसा पास है नहीं। कैसे काम चले, यही सोच रहा हूँ।

बिहारी—यह कोई साधारण बात नहीं है राजाराम। यह सच पूछो तो बड़े ही महत्त्व का विषय है। कोई आदमी अपने भविष्य के सम्बन्ध में साधारण रूप से कुछ नहीं जानता। पर कुछ बातें फिर भी ऐसी छूट ही जाती हैं, जिनके सम्बन्ध में मनुष्य को पहले से तैयार होना पड़ता है। कोई व्यक्ति, जो आज ख़ुशहाल है, निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि भविष्य में भी उसके दिन इसी प्रकार रहेंगे। कितने ही कारण अकस्मात् ऐसे उपस्थित हो जाते हैं कि लखपति व्यक्ति भी एक दिन दाने-दाने को मोहताज हो जाते हैं। इसके सिवा मनुष्य कैसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, सन्तान के लिए कुछ न कुछ कर ही जाना चाहता है। इस प्रकार भविष्य की सम्भव दुर्घटनाओं से अपनी रक्षा करने और महत्त्वपूर्ण सुखद आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि वह अपनी आय का एक अंश सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति

में व्यय न करके भविष्य के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य बचाता चले ।

राजाराम—लेकिन आपने यह नहीं सोचा कि हम लोग जब अपना भरण-पोषण ही कठिनाई से कर पाते हैं, तब कुछ बचाकर रखना हमारे लिए कितना दुष्कर है !

बिहारी—यह मैं मानता हूँ कि मनुष्य अपना जैसा रहन-सहन एक बार बना लेता है, उससे नीचे दरजे का उससे सहन नहीं होता । इसीलिए प्रायः बचाने की इच्छा रखनेवाले लोग भी कुछ बचा नहीं पाते। पर यह तो एक प्रकार की नासमझी ही है कि हम इतना भी न सोचें कि काम करने की उम्र में भी अगर हमने बचत जैसे अत्यन्त आवश्यक विषय पर ध्यान न दिया, तो वृद्धावस्था में जीवन-निर्वाह, बीमारी से बचाव तथा संतान के समाज और संस्कृति-जन्य आवश्यक संस्कारों की विधिवत् पूर्णता हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं । इसीलिए विचारवान लोग प्रत्येक समय में अपनी आय का कोई-न-कोई अंश अवश्य बचाते रहते हैं। बचत से ही हम अपनी संतान की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था को शक्ति-सम्पन्न, उन्नत और विकसित बना सकते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपने पुत्र को उच्चशिक्षा दिलाने में प्रयत्नशील है, अगर वह उसे किसी कारीगरी की शिक्षा देनेवाले विद्यालय का स्नातक बनाने में सचेष्ट है, तो उसे यह भरोसा तो है कि अपनी बचत की पूँजी को उसने सुरक्षित रक्खा है। बैंक में जमा न रखकर उसने अपने उस लड़के पर व्यय किया है, जो निकट भविष्य में अपने ज्ञान और अपनी योग्यता के आधार पर कोई ऐसी आजीविका प्राप्त कर लेगा जो उसकी पद-मर्यादा को बढ़ा देने में एक ओर बहुत सहायक होगी, दूसरी ओर उसकी आय से उसकी वृद्धावस्था बहुत निश्चिंततापूर्वक बीतेगी । इस प्रकार अपनी बचत का पूर्ण उपभोग कर सकने में वह समर्थ हो जायगा ।

राजाराम—लेकिन प्रश्न तो यहाँ यह है कि एक तो हमने रुपये का संचय नहीं किया, दूसरे संतान भी कई हो गईं । अब बतलाइये, ऐसी स्थिति में अपने भविष्य के लिए हम कर ही क्या सकते हैं ?

बिहारी—यह प्रत्यक्ष रूप से आपकी हानि है। पर विचारणीय बात यह है कि यदि तुम्हारी ही भाँति और लोग भी बराबर संतान पैदा करते

जायँ, और बचत की ओर ध्यान न दें, तो वे सामूहिक रूप से समाज की भी एक बहुत बड़ी हानि करने के जिम्मेदार होंगे।

राजाराम—सो किस तरह ?

बिहारी—बात यह है कि यदि मनुष्य रुपया-पैसा का संचय न करे और जन-संख्या की वृद्धि इसी प्रकार जारी रहे, तो अन्त में एक ऐसा समय आ जायगा जब एक ओर देश की पूँजी बहुत घट जायगी, और दूसरी ओर उसकी उत्पादक शक्ति भी क्षीण हो जायगी। फल यह होगा कि समाज के रहन-सहन का दर्जा निम्नतर हो जायगा, साथ ही उसका उपभोग और तृप्ति का मान घट जायगा। लेकिन उसका यही, इतना ही, दुष्परिणाम न होगा, मनुष्य की जो अन्य महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं—जैसे वृद्धावस्था में तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य आदि—वे भी अपूर्ण रह जायँगी।

राजाराम—अच्छा, यह तो सब हुआ। अब यह बतलाइये कि हमको अपनी आमदनी का कौन-सा अंश भविष्य के उपभोग के लिए बचाना आवश्यक है ?

बिहारी—द्रव्य के उपभोग को साधारण रूप में वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए बाँटा जा सकता है। विचारशील और बुद्धिमान व्यक्ति अपनी आय को वर्तमान और भविष्य दोनों के उपभोग के लिए समान रूप से विभाजित करते देखे गये हैं। पर भविष्य के उपभोग की सीमान्त उपयोगिता का क्या रूप होगा, यह पहले से निश्चित कर लेना दुष्कर होता है। इसीलिए साधारण रूप से दो बातों का ध्यान रखा जाता है। एक दृष्टि तो यह है कि भविष्य का कुछ निश्चय नहीं है। कौन कह सकता है कि जो बचत वह भविष्य के नाम पर कर रहा है, उसका उपभोग वह कर ही सकेगा! दूसरी बात यह है कि प्रकृति एक सी नहीं होती। समय और परिस्थिति भी बदलती रहती है। वर्तमान का जो सुख-संतोष है, भविष्य में भी वह उसी रूप में रहेगा, कौन कह सकता है ? जो व्यक्ति अपने भविष्य को देख सकता है, जिसने अपने भावी जीवन की निश्चित रूप-रेखा सोच ली है, उसके लिए वर्तमान तथा भविष्यत् काल की उपयोगिता समान ठहरती है। परन्तु दूसरी प्रकृति का व्यक्ति, हो सकता है कि वह अधीर और

असंयमी हो, अपने भविष्य को अन्धकारमय देखता हो, तो उसके लिए भविष्य की उपयोगिता निश्चय ही वर्तमानकालीन उपयोगिता से बहुत कम होगी। ऐसा व्यक्ति अपनी आय को वर्तमान आवश्यकताओं तथा उपभोगों की पूर्ति में ही व्यय कर डालना चाहेगा। इसके सिवा कोई भी व्यक्ति विभिन्न अवस्थाओं में वर्तमान और भविष्य की उपयोगिता को विविध परिमाण में मापना चाह सकता है। एक समय वह भविष्य की उपयोगिता को वर्तमान-कालीन उपयोगिता की अपेक्षा अत्यन्त हीन समझ सकता है, दूसरे समय जब उसको भविष्य की चिन्ता विकल कर रही होगी, उस समय वही व्यक्ति वर्तमानकालीन आवश्यकताओं को भविष्य के उपभोग के नाम पर नगण्य समझ सकता है। यही कारण है कि एक औसत व्यक्ति वर्तमान और भविष्य के उपभोग के महत्त्व को समान नहीं समझना चाहता है।

राजाराम—मेरी स्थिति तो यह है कि एक रुपये को आज की उपयोगिता को मैं भविष्य के एक रुपये के उपभोग की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।

बिहारी—एक तुम्हारा नहीं, मनुष्य मात्र का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वह वर्तमान सुख-संतोष को भविष्य के अनिश्चित सुख-संतोष की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है। उसे एक रुपये की एक साल बाद की उपयोगिता आज की, इस समय की, पन्द्रह आने की उपयोगिता के बराबर ही प्रतीत होती है। ज्यों-ज्यों हम उपभोग को भविष्य के लिए स्थगित करते जाते हैं, त्यों-त्यों उसकी उपयोगिता हमें वर्तमान काल में कम प्रतीत होने लगती है।

राजाराम—लेकिन आप तो ये सब बातें हमारे मन की ही कह रहे हैं।

बिहारी—परन्तु वर्तमान और भविष्य की उपयोगिता की यह तुलना जहाँ हमें एक दूसरे पर बट्टा लगाने को विवश करती है, वहाँ और एक बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। और वह यह कि मनुष्य की एक सी स्थिति हमारे सामने रहती है। उस व्यक्ति को, जिसकी आर्थिक स्थिति अनुमान से भविष्य में भी वैसी ही रहती है, जैसी वर्तमान काल में है; ऐसी दशा में, अपने द्रव्य से भविष्य के लिए ख़रीदे या संचित किये गये पदार्थों की उपयोगिता से समान तृप्ति की आशा करनी चाहिए। अगर हम इन दोनों बातों पर

दूर तक ध्यान दे सकें, तो हमें इस परिणाम पर पहुँचना पड़ेगा कि अगर वह व्यक्ति इस वर्ष ५०) इस विचार से बचाये कि उसको एक वर्ष बाद ५६) रुपये की प्राप्ति हो, तो वह व्यक्ति भविष्य की उपयोगिता पर १२) प्रतिशत प्रति वर्ष बट्टा लगायेगा।

राजाराम—लेकिन हमने तो बहुतेरे ऐसे आदमियों को भी देखा है, जिन्होंने कभी बचत का कोई ख़्याल नहीं किया और जिनकी ज़िन्दगी बड़े सुख के साथ कट गयी।

बिहारी—एक तो यह संयोग की बात है। दूसरे सुख और दुख की कसौटी प्रत्येक व्यक्ति की एक नहीं होती। तुम समझते हो, वह अपने जीवन में बहुत सुखी रहा। पर अगर उससे पूछा जाता, तो सम्भव है, वह ऐसा न कहता। जो व्यक्ति अधीर और असंतोषी प्रकृति के होते हैं, वे प्रायः अपनी आय को ऐसी वस्तुओं के ख़रीदने में ख़र्च करते हैं, जिनसे तुरन्त उनकी इच्छा के अनुसार तृप्ति की प्राप्ति तो हो जाती है, पर वे अपना भविष्य चौपट कर डालते हैं। ऐसे व्यक्ति ५०) रुपये का एक अच्छा बैल न ख़रीदकर उसे जुए में फूँक डालते अथवा किसी अन्य दुर्व्यसन में गँवा देते हैं। ऐसे व्यक्ति भविष्य के उपभोग का मूल्य भला क्या आँक सकते हैं?

राजाराम—अच्छा ख़ैर, अब आप यह बतलाइये कि बचत को सुरक्षित और लाभदायक कैसे बनाया जाय?

बिहारी—अगर मनुष्य को इस बात का भी निश्चय हो कि भविष्य में उसको बचत से आज की अपेक्षा कम तृप्ति प्राप्त होगी, मैं तो कहूँगा कि तो भी उसे कुछ-न-कुछ भविष्य के लिए अवश्य बचाना चाहिए। अब प्रश्न यह रह जाता है कि मनुष्य बचत का सदुपयोग कैसे करे। सो, बचत का गड्ढा खोद कर गाड़ देना अथवा आभूषण बनवा लेना उचित नहीं है। बचत की पूँजी को तो ऐसे व्यवसायों में लगाना चाहिए कि वह पूँजी सुरक्षित तो रहे ही, वरन् उसमें कुछ वृद्धि भी होती चले।

राजाराम—सुरक्षित रहना ही टेढ़ी खीर है। आप बढ़ती की बात कह रहे हैं।

बिहारी—वास्तव में पूँजी बचाने का सवाल उतना ही टेढ़ा है, जितना पूँजी संचय करने का। पर बचत को सुरक्षित रखने के कई साधन आज हमें प्राप्त हैं। सबसे अच्छा तो यह है कि किसी विश्वास-पात्र तथा साख रखने-वाली बैंक में सेविंग्स-बैंक के हिसाब में जमा कर दिया जाय। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो आवश्यकता पड़ने पर रुपया आसानी से मिल जाता है, दूसरे उसपर कुछ सूद भी मिलता है। जहाँ तक सम्भव हो, बचत को ऐसे व्यवसाय में लगाना उचित है, जिसमें पूँजी सुरक्षित बनी रहे, आमदनी निश्चित रूप से हो और यथेष्ट हो। साथ ही यह सुविधा अवश्य हो कि जब आवश्यकता पड़े, पूँजी वापस मिल जाय। जैसे—पोस्टआफ़िस के कैश-सर्टिफ़िकेट्, साख रखने-वाली किसी कम्पनी के शेयर आदि। ज़मीन तथा मकान ख़रीदना भी पूँजी को सुरक्षित रखने का एक उत्तम साधन है। ज़मीन तथा मकान ख़रीदने में सब से बड़ा लाभ यह होता है कि जब जन-संख्या की वृद्धि होती है, तब ज़मीन की क़ीमत भी बढ़ जाती है। और इस प्रकार वह बढ़ा हुआ लाभ उपभोक्ता को मिल जाता है।

राजाराम—सुनते हैं, जो लोग अपनी ज़िन्दगी का बीमा कराते हैं, वे अगर दैवयोग से जल्दी मर जाते हैं, तो उनके बाल-बच्चों को बीमे की रक़म का पूरा रुपया मिल जाता है।

बिहारी—हाँ, बीमा करा लेने से बचत के रुपये को एक तो हम धीरे-धीरे संग्रह करने की सुविधा पा लेते हैं। दूसरे वृद्धावस्था में वह एक साथ मिल जाता और बड़ा काम देता है। लेकिन जो लोग उस तरह का बीमा कराते हैं कि कुल रुपया मरने के बाद ही मिले, तो उसका लाभ उनकी संतान को मिलता है। लेकिन बीमा कराने और उसकी किश्तें समय पर चुकाते रहने की शक्ति हमारे देश की साधारण जनता में अभी आयी कहाँ है। करोड़ों लोगों को पेट भर भोजन और तन ढकने को वस्त्र मिलना दुर्लभ हो रहा है। देश की बचत भी तभी बढ़ायी जा सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति की आमदनी में वृद्धि हो। और यह तभी सम्भव है, जब देश में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की उत्पत्ति बढ़ा दी जाय और आमदनी का वितरण ऐसे ढँग से किया जाय कि सब को अपना भाग उचित परिमाण में प्राप्त हो। तुमने पूछा था कि प्रत्येक

व्यक्ति को अपनी आय का कौन-सा भाग जमा करना चाहिये। इस सम्बन्ध में, अन्त में हम, यही कह सकते हैं कि जिन व्यक्तियों को खाने पहनने का कष्ट न हो, उन्हें चाहिये कि वे अपनी आय का कम-से-कम दसवाँ भाग अवश्य बचायें।

दोनों में ये बातें हो ही रही थीं कि उसी समय घोड़े पर सवार एक आदमी राजाराम के यहाँ आ पहुँचा। जब राजाराम उसके निकट गया, तो उसने उसके पैर छूकर प्रणाम करने के बाद कहा—मैं पिताजी की अन्तिम आत्मशान्ति के लिए गया-तीर्थ जा रहा हूँ। पर इसके पहले मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि मैं उनके ऋण से उद्धार हो जाऊँ। आपको चाहे ज्ञान हो, चाहे न हो; पर मुझे याद है कि मेरे पिताजी ने आपके पिताजी से, मेरी बहिन के विवाह के उपलक्ष्य में १००) सौ रुपये उधार लिये थे। लगभग बीस वर्ष पहले की बात है। वही सौ रुपये मैं देने आया हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप सूद के लिए अप्रत्यक्ष रूप से उनको और प्रत्यक्ष रूप से मुझको क्षमा करदें।

राजाराम को इस घटना से इतनी प्रसन्नता हुई कि वह भावमग्न होकर बोला—तुम अपने पिता की आदर्श संतान हो। जाओ, भगवान तुम्हारा कल्याण करे। मुझे सूद के नामपर एक कौड़ी न चाहिए। भगवत् कृपा से तुमने आज जो ये रुपये दिये हैं, इस समय ये ही मेरे लिए बहुत अधिक हैं।

बिहारी बोल उठा—धर्म को पहचाननेवाले ऐसे ही व्यक्ति सच्चे और कर्तव्य-परायण होते हैं।

करने के ढँग पर निर्भर है। ग़रीबों के आगे यों रुपया न फेंककर उसे ऐसे कामों या उद्योग-धन्धों में व्यय किया जाय, जिनमें पड़कर ग़रीब लोग आलस त्यागकर कार्य-कुशल बनना सीखें और जहाँ तक सम्भव हो, स्वावलम्बी बनें। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे वे आमदनी को बढ़ाने के लाभ से परिचित होकर यह अच्छी तरह जान लें कि बचत और पूँजी का उचित ढँग से उपयोग न करने का परिणाम कितना दुःखद होता है। मेरा तो यह पक्का विश्वास है कि अगर ग़रीबों की सहायता उनकी आमदनी को एक स्थायी रूप देने के ढँग से की जाय, तो देश का लाभ ही अधिक होगा।

बिहारी—किन्तु इसके लाभ के एक अन्य स्वरूप के प्रति तुम्हारा ध्यान अभी नहीं गया है। जो धन ग़रीबों पर व्यय किया जायगा, उससे देश की पूँजी में भी तो वृद्धि होगी। ग़रीब लोग यदि काम करने में कुशल हो जायँगे, तो उसका प्रभाव उनकी संतान पर पड़े बिना न रहेगा। जो बच्चे अवारा घूमा करते हैं, आज जिनके लिए कोई काम नहीं है, जिनके पढ़ने का कोई प्रबन्ध नहीं है, न प्रबन्ध है जीवन के लिए उपयोगी किसी कारीगरी के काम सीखने का; जो या तो भीख माँगकर आलसी और निकम्मे, गुलाम और टुकड़खोर बनते हैं, अथवा कुसंगति में पड़कर जीवन को नाश के घाट उतार रहे हैं, वे पाठशालाओं और उद्योग-विद्यालयों में पढ़ लिखकर बुद्धिमान, साहसी, सुशिक्षित, सभ्य, हृष्ट-पुष्ट और विचारवान बनेंगे। नवीन संतति का वह उत्साही और वीर नौजवानों का समुदाय, क्या देश की पूँजी नहीं है? बल्कि मैं तो साफ़ तौर से यह कहना चाहता हूँ कि देश के लाखों निकम्मे, बुज़दिल, बेवकूफ़ और स्वार्थ-परायण मोटी थोंदवाले अमीरज़ादों की अपेक्षा वेही लोग देश की असली पूँजी होंगे। और इसका परिणाम यह होगा कि ग़रीबों पर सब ख़र्च किया हुआ वह धन कुछ ही वर्षों में कई गुना हो जायगा।

राजाराम—लेकिन देश की ग़रीबी दूर करने के लिए क्या यह ज़रूरी है कि कुछ धनी लोग ही अपनी आमदनी का कोई भाग दान कर दें? सरकार अगर चाहे, तो इस काम को बड़ी सहूलियत के साथ कर सकती है। धनी लोगों की आराम और विलास की वस्तुओं पर क्यों न वह कर लगा दे? इसका फल यह होगा कि उनकी उपभोग की वस्तुओं का

मूल्य बढ़ जायगा। साथ ही वह उन वस्तुओं का भी मूल्य कम करदे, जो ग़रीब लोगों के उपभोग की हैं। इससे ग़रीब लोग इतनी सुविधा पा जायँगे कि उन्हें अन्न-वस्त्र का कष्ट न होगा। इसके सिवा सरकार एक काम और करे। और वह यह कि स्थान-स्थान पर वाचनालय, शिक्षालय तथा औषधालय स्थापित करदे और ग़रीबों लोगों के लिए उनका उपयोग निःशुल्क कर दिया जाय। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि इससे बहुत शीघ्र देश की वर्तमान स्थिति में आवश्यक सुधार हो जायगा।

बिहारी—लेकिन अमीर लोगों के प्रति उपेक्षा रखकर सरकार न यह कार्य कर सकती है और न इसमें सफलता मिलना ही सम्भव है। यह काम तो सरकार और धनीमानी समाज के सहयोग और मिश्रित उद्योग से ही अधिक सम्भव है।

राजाराम—धनी-मानी समाज से ग़रीबों की कोई भलाई होगी, इसकी मैं क़तई आशा नहीं करता। प्राचीन समय में लोग विवाह तथा पुत्र-जन्म के अवसर पर ग़रीब जनता को वस्त्र, अन्न तथा ग़रीब पुरोहित ब्राह्मणों को ज़मीन तक दान किया करते थे। यहाँ तक कि विद्वान् पंडित, कवि किंवा गायकों को वे पुरस्कार में हज़ारों-लाखों रुपये दे डालते थे। जो कभी दुर्भिक्ष होता, तो अन्न-दान इतना अधिक किया जाता था कि उस समय कष्ट का वैसा कुछ अधिक अनुभव तक नहीं हो पाता था। राजा महाराजा लोग इमारतें, सड़कें तथा क़िले तक ऐसे अवसरों पर बनवाते थे। पर अब दान-धर्म का तो लोप हो गया है। एक ही आध जगह अथवा तीर्थ-स्थान पर सदावर्त का नाम सुनाई पड़ता है। और सच्ची बात तो यह है कि जो लोग ग़रीबों का धन चूसते हुए नहीं अघाते, वे उनकी सहायता दान-धर्म के नाम पर भला क्या करेंगे!

बिहारी—पर एक बात यहाँ कम विचारणीय नहीं है कि धनी लोग भी अपने पैसों को बिना सोचे-समझे ग़रीबों पर कैसे लुटा सकते हैं! तुम जानते हो, हमारे देश में मँगतों और भिखारियों की संख्या कितनी अधिक है। इनमें से अधिकांश लोग ऐसे हैं, जो यदि चाहें, तो परिश्रम करके अपने जीवन का सुख-पूर्वक निर्वाह कर सकते हैं। पर गली-गली घूमकर धेले-पैसे के लिए हर एक आदमी के सामने हाथ पसारने, रोनी सूरत बनाकर रिरियाने, पेट

दिखाकर भूखे होने का ढोंग रचने और झूठ बोलकर लोगों की सहृदयता का नाजायज़ लाभ उठाने की ऐसी बुरी आदत पड़ गयी है कि छुड़ाने से भी नहीं छूटती। पैसा न मिलने पर उन्हें भूखा रहना स्वीकार है, पर मेहनत-मज़दूरी करके पेट-पालना उन्हें स्वीकार नहीं। मनुष्य की यह सब से बड़ी हीनता है। निकम्मेपन की हद है यह। देश का कितना बड़ा भाग आज बिल्कुल व्यर्थ का जीवन व्यतीत कर रहा है, कुछ ठिकाना है! और कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि हमारे देश की सरकार का भी इस ओर ध्यान नहीं जाता? ख़ैर, यहाँ विचारणीय यह है कि इन मँगतों को बिना सोचे-समझे, पात्रापात्र का विचार किये बिना, जो भिक्षा दे दी जाती है, क्या उसी का यह दुष्परिणाम नहीं है? काल, पात्र और स्थान का विचार किये बिना जो दान किया जाता है, वह व्यर्थ जाता है, उसका कोई महत्त्व नहीं होता।

राजाराम—हाँ, यह आप ठीक कहते हैं। सहायता वही उत्तम होती है, जिसका परिणाम कल्याणकारी होता है। सब से अच्छा तो यह है कि जब कभी खेतों में उपज न हो, अकाल पड़ जाय, अथवा कोई दूसरी विपत्ति आ पड़े, तो ज़मींदार लोग आसामी का लगान माफ़ करदें। कुवाँ बनवाना हो, तो ऐसे स्थान पर बनवायें, जहाँ पानी का सर्वथा अभाव हो। लेकिन मँगतों में भी जो लोग अंगहीन हैं और काम कर नहीं सकते, जब देश की सरकार की ओर से उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध नहीं है, तब जनता भी अगर उन्हें भीख न दे, तो उन बेचारों की सुधि कौन लेगा?

बिहारी—निस्सन्देह यह काम सरकार का है। और जब तक वह इस ओर ध्यान न दे, तब तक हमारा यह धर्म हो जाता है कि हम उनका ख़याल करें। रह गयी बात जनसाधारण की दरिद्रता के निवारण की, सो सरकार और धनी लोग दोनों ही मिलकर इस काम को अच्छे ढंग से कर सकते हैं। ग़रीबों को द्रव्य देकर उनकी उतनी मूल्यवान सहायता नहीं की जा सकती, जितनी उस द्रव्य से उद्योग-धंधे खोलकर उनको काम में लगा देने से सम्भव है। पानी की कमी जहाँ हो, वहाँ कुएँ खोदवा देना, ठहरने का कष्ट हो, वहाँ धर्मशाला बनवा देना तो उचित है ही। पर यही यथेष्ट नहीं है। धनी-मानी

लोगों को ग़रीब लोगों की अन्य समस्याओं पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। उनकी भावी संतान के लिए भरण-पोषण, शिक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का जब तक उचित प्रबन्ध नहीं हो जाता, तब तक उनका यह दावा बिल्कुल सार-हीन और व्यर्थ है कि हममें दान-धर्म का ख़याल है और हम धर्म-परायण हैं।

राजाराम—लेकिन धनी-मानी लोगों को अपनी आय का कितना भाग इसके लिए देना चाहिए, आप का अर्थशास्त्र इस विषय में क्या व्यवस्था देता है?

बिहारी ने मुसकराते हुए कहा—दसवाँ भाग।

राजाराम बोल उठा—पर इस तरह आप मुसकरा क्यों उठे?

बिहारी—बात यह है कि आज तुमने स्वतः एक अर्थशास्त्री की भाँति इस विवाद में भाग लिया है, तो भी तुम कह रहे हो, आप का अर्थशास्त्र। पर सच पूछो तो अर्थशास्त्र सर्वसाधारण के ज्ञान की वस्तु है। जितना उससे मेरा सम्बन्ध है, उतना ही तुमसे भी। बल्कि कुछ अंशों में तुमसे अधिक; क्योंकि तुम एक किसान हो।

बीसवाँ अध्याय

उपभोग का आदर्श

"आज मैं एक उलझन में हूँ। आपने उस दिन बतलाया था कि उपभोक्ता का मुख्य ध्येय सुख और संतोष की प्राप्ति है। पर संसार में कभी-कभी इसके विपरीत उदाहरण भी हमें मिलते हैं। कल मैंने सुना कि पंडित केदारनाथ अपने स्वर्गवास के कुछ घंटों पूर्व एक दान-पत्र लिख गये हैं। क़रीब तीन लाख रुपये उनके कई बैंकों में जमा थे। पर मरते दम पता चला कि सिर्फ़ पचास हज़ार ही रह गये हैं। पचीस-तीस हज़ार रुपये सालाना मुनाफ़ा की उनकी रियासत है सो अलग। बाल-बच्चा उनके कोई था नहीं। चचेरे भाई लोग थे, सो अलग रहते थे। पर अन्त में थे तो उनकी सम्पत्ति के अधिकारी ही। आजकल रियासत से मुनाफ़ा की निकासी तो पूरी हो नहीं पाती है। जिनके पास नक़द रुपये रहते हैं, सच पूछिये, वही समाज में सब से अधिक सुखी और प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। पर नक़द रुपया उन्होंने अपने भाई-भतीजों के लिए नाम-मात्र को छोड़ा है। पूरे दो लाख रुपये एक औद्योगिक विद्यालय के लिए वे पहले ही दान कर चुके हैं और पचास हज़ार अपने ज़िले भर के गाँवों में एक बड़े चलते-फिरते पुस्तकालय के लिए। इस तरह सिर्फ़ पचास हज़ार रुपया ही उन्होंने नक़द ऐसा छोड़ा है, जिसे उनके भाई-भतीजे पा सकेंगे। गाँव में और चारों ओर अकसर लोग कहते हैं कि मरते दम तक वे भाई-भतीजों के लिए बराबर ऋण ही रखते रहे। उनसे इतना भी नहीं हो सका कि जीवन-भर में जो वैमनस्य रक्खा सो रक्खा, पर मरते दम तो उसे भुलाकर उनके आँसू पोंछ जाते। माना कि उनके लिए रियासत वे छोड़ गये

हैं। पर नक़द रुपये तो उन्होंने उन्हें दरअसल बहुत कम छोड़े। सुनते हैं, इतने रुपयों से तो उन लोगों का कर्ज़ा भी अदा न हो सकेगा। क्या यह उनका अन्याय नहीं है? माना कि जनता के हित जो दान किया जाता है, उसकी बड़ी महिमा है, पर आख़िर कुटुम्बियों का भी तो कुछ ख़्याल उन्हें करना चाहिए था। अब उनका शान्ति-कर्म जो वे लोग ठीक तरह से न करें, तो उनकी मृत आत्मा को अंतिम सुख और संतोष भला क्या प्राप्त होगा!"

राजाराम इतनी बात कह कर चुप हो गया।

बिहारी बोला—सच पूछो तो पण्डित केदारनाथ ने किसी के साथ अन्याय नहीं किया। उपभोग का जो एक सच्चा और उच्च आदर्श होना चाहिए, उसी का उन्होंने निर्वाह किया है। और मैं कहूँगा कि बहुत अच्छे ढंग से किया है। उन्होंने जो सम्पत्ति मरते दम छोड़ी है, उसका उपार्जन उन्होंने स्वयं अपने ही बल-विक्रम से किया था। रियासत देखने के पश्चात् उनका सारा समय भगवत्-भजन और ईश्वराराधन में व्यतीत होता था। मरने से कई वर्ष पहले उनकी भार्या का देहान्त हो चुका था। अब उनको कोई ऐसा काम नहीं रह गया था, जिसके लिए वे चिन्ता करते। सन्तान न होने का उन्हें दुःख था, पर उन्होंने कभी किसी पर उसे प्रकट नहीं किया। एक तरह से वे इस दुःख को भूले रहते थे। सम्पत्ति की एक-एक पाई की बचत पर उन की दृष्टि रहा करती थी। कभी उन्होंने कोई अपव्यय नहीं किया। दीन-दुखियों की सदा उन्होंने सहायता की। जीवन उनका बहुत सादा था। मोटे स्वदेशी कपड़ों को छोड़कर बढ़िया क़ीमती या विदेशी कपड़ों का पहनना उन्होंने कभी जाना ही नहीं। नौकर-चाकर तक उनकी साधु प्रकृति और उदारता के क़ायल हैं। ऐसा निरभिमानी, मिष्टभाषी, लोकोपकारी, साधु पुरुष तो, सच पूछो, हमारे प्रान्त में इधर हमारी सुधि में हुआ नहीं।

राजाराम—लेकिन सुनते हैं, जब भाई-भतीजे अन्तिम समय से कुछ पूर्व उनके पास आये, तो उन्होंने बड़े खेद के साथ कहा था—"मैं तुम लोगों को कुछ दिये नहीं जा रहा हूँ। जो शेष है, मैं जानता हूँ कि तुम्हारी आवश्यकताओं को देखते हुए वह कुछ भी नहीं है!" इन सब बातों पर विचार करने से तो हमें इस परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि उनको अपने उपभोग से,

अन्तिम समय, वह सुख और संतोष नहीं मिला जो उनके जैसे सत्पुरुष को मिलना चाहिए था। और इसका कारण है, अगर आप बुरा न मानें तो मैं कहूँगा—परोपकार-वृत्ति! अगर मैं अर्थशास्त्री की हैसियत से बात करूँ, तो मुझे विवश होकर कहना पड़ेगा कि उन्होंने उपभोग के आदर्श का पालन नहीं किया।

बिहारी—यहीं पर तुम भूल कर रहे हो। उपभोग का आदर्श तुमने क्या समझा है, ज़रा बतलाओ तो सही।

राजाराम—उपभोक्ता की चरम सुख-संतोष की प्राप्ति को ही मैं तो उपभोग का आदर्श मानता हूँ।

बिहारी—लेकिन सुख-सन्तोष ऐसे शब्द हैं, जिनके विषय में तब तक निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक यह न प्रकट हो जाय कि उसकी प्रकृति, स्थिति और संस्कृति का उस व्यक्ति के साथ क्या सम्बन्ध है। सुख-संतोष तो मानसिक स्थिति पर बहुत निर्भर करता है। राजाराम के लिए सुख-संतोष का जो क्षेत्र है, रामाधीन के लिए भी वही होगा, कौन कह सकता है? पंडित केदारनाथ का जीवन जिस प्रकार आदर्श था, उसी प्रकार उनका सुख-सन्तोष भी बहुत ऊँचे दरजे का था। गाँव के लोग सोचते हैं कि अगर वे अपने कुटुम्बियों के लिए सारा रुपया छोड़ जाते, जिससे वे गुलछर्रे उड़ाते और गाँव में नाच, गान, रास-लीला और नौटंकी का दौर-दौरा रहता, तो बड़ा अच्छा होता! जो लोग उनके भाई बद्रीनाथ की दरबार-दारी करते हैं, उन्हें खलता है कि अगर वह सब रुपया बद्रीनाथ जी को मिल गया होता, तो ज़िन्दगी भर के लिए भाँग-बूटी का ही प्रबन्ध हो गया होता। इस तरह लोग अपना दुर्व्यसन और शौक़ पूरा होने का अवसर हाथ से जाता देख इस तरह की बातें फैलाते हैं। मैं देखता हूँ कि उन्हीं लोगों के वर्ग के तुम भी हो। तुम्हारा भी यही ख़्याल है कि पंडित केदारनाथ ने जो कुछ किया, वह बहुत अच्छा नहीं रहा। किन्तु मैं साफ़ शब्दों में यह कहना चाहता हूँ कि उन्होंने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग ही किया है। और सच पूछो, तो यह जो जायदाद वे इन लोगों के लिए छोड़ गये हैं, साथ ही पचास हज़ार रुपया नक़द, यह

भी केवल अपने इन कुटुम्बियों की अप्रसन्नता और ग्रामीण लोकमत के भय के कारण। नहीं तो चाहिये तो यह था कि इन लोगों के लिए वे एक पाई न छोड़ जाते। ऐसे ये लोग नासमझ, नालायक़ और पतित हैं।

राजाराम—तो उन्होंने अपनी फ़िजूल-खर्ची के लिए बद्रीनाथ के सामने दुःख क्यों प्रकट किया? क्यों उन्होंने कहा कि मैं तुम लोगों को दर असल कुछ भी नहीं दिये जा रहा हूँ और इसका मुझे दुःख है।

बिहारी—यह क्षणिक भावोद्रेक की बात है। जो काम उन्होंने उससे पूर्व किये हैं, वे बहुत सोच-समझ कर किये हैं; उनसे उन्हें संतोष और शान्ति मिली है। औद्योगिक विद्यालय और ग्राम-सुधार-पुस्तकालय की इमारतें बन रही हैं और इसी वर्ष के भीतर उनकी योजना के अनुसार काम प्रारम्भ हो जायगा। गाँवों के वे बच्चे जो शिक्षा के बिना, आजीविका के बिना आज दर-दर मारे-मारे फिरते हैं, तीन और पाँच वर्ष के शिक्षा-क्रम को पूर्ण करके जब निकलेंगे, तब कितने सुखी और संतुष्ट होंगे। कारीगरी और उद्योग-धन्धों के काम में पड़कर वे समाज और देश की पूँजी, उत्पत्ति और श्री-समृद्धि को बढ़ाने में कितने सहायक होंगे, कभी तुमने यह भी सोचा है? अपने उन कुटुम्बियों के ही स्वार्थ-साधन की ओर अगर उनका ध्यान होता, जो आज सर्वथा अयोग्य और दुर्व्यसनी हैं, जो सम्पत्ति की रक्षा करना नहीं जानते और अशिक्षित होने के कारण जो समाज-सेवा जैसे महत्त्व-पूर्ण कार्यों के प्रति प्रेम रखना दूर, उपेक्षा का भाव रखते हैं, तो मैं कहना चाहता हूँ कि यह सदुपभोग न होकर उलटा दुरुपभोग ही होता। और मुझे तो अब भी इसमें पूरा शक है कि उन्होंने बद्रीनाथ से ऐसी बात कही है, जैसी तुम कह रहे हो? मैं उनसे कभी ऐसी आशा नहीं करता।

राजाराम—लेकिन बद्रीनाथ की तुम चाहे जैसी निन्दा करो, मैं तो कहूँगा कि आदमी वह भी एक नम्बर का उलख़र्च है। पास बैठो, तो तबियत खुश हो जाय। घन्टे भर में चार बार तो पान-इलायची तम्बाकू-सिगरेट आयेगी। कभी जो साथ में ताश तथा शतरंज खेलते हुए देर-सवेर हो जाय, तो समयानुसार चाय तथा जलपान भी सबके लिए बराबर आयेगा। मुझे एक-आध बार रात ज़्यादा हो गई। मैंने देखा, उनके पीने के लिए जो

अन्तिम समय, वह सुख और संतोष नहीं मिला जो उनके जैसे सत्पुरुष को मिलना चाहिए था। और इसका कारण है, अगर आप बुरा न मानें तो मैं कहूँगा—परोपकार-वृत्ति! अगर मैं अर्थशास्त्री की हैसियत से बात करूँ, तो मुझे विवश होकर कहना पड़ेगा कि उन्होंने उपभोग के आदर्श का पालन नहीं किया।

बिहारी—यहीं पर तुम भूल कर रहे हो। उपभोग का आदर्श तुमने क्या समझा है, ज़रा बतलाओ तो सही।

राजाराम—उपभोक्ता की चरम सुख-संतोष की प्राप्ति को ही मैं तो उपभोग का आदर्श मानता हूँ।

बिहारी—लेकिन सुख-सन्तोष ऐसे शब्द हैं, जिनके विषय में तब तक निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक यह न प्रकट हो जाय कि उसकी प्रकृति, स्थिति और संस्कृति का उस व्यक्ति के साथ क्या सम्बन्ध है। सुख-संतोष तो मानसिक स्थिति पर बहुत निर्भर करता है। राजाराम के लिए सुख-संतोष का जो क्षेत्र है, रामाधीन के लिए भी वही होगा, कौन कह सकता है? पंडित केदारनाथ का जीवन जिस प्रकार आदर्श था, उसी प्रकार उनका सुख-सन्तोष भी बहुत ऊँचे दरजे का था। गाँव के लोग सोचते हैं कि अगर वे अपने कुटुम्बियों के लिए सारा रुपया छोड़ जाते, जिससे वे गुलछर्रे उड़ाते और गाँव में नाच, गान, रास-लीला और नौटंकी का दौर-दौरा रहता, तो बड़ा अच्छा होता! जो लोग उनके भाई बद्रीनाथ की दरबार-दारी करते हैं, उन्हें खलता है कि अगर वह सब रुपया बद्रीनाथ जी को मिल गया होता, तो ज़िन्दगी भर के लिए भाँग-बूटी का ही प्रबन्ध हो गया होता। इस तरह लोग अपना दुर्व्यसन और शौक़ पूरा होने का अवसर हाथ से जाता देख इस तरह की बातें फैलाते हैं। मैं देखता हूँ कि उन्हीं लोगों के वर्ग के तुम भी हो। तुम्हारा भी यही ख़याल है कि पंडित केदारनाथ ने जो कुछ किया, वह बहुत अच्छा नहीं रहा। किन्तु मैं साफ़ शब्दों में यह कहना चाहता हूँ कि उन्होंने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग ही किया है। और सच पूछो, तो यह जो जायदाद वे इन लोगों के लिए छोड़ गये हैं, साथ ही पचास हज़ार रुपया नक़द, यह

हाय रुपया' की माला जपना शुरू कर दिया है! यह हमारा पतन है। हमारा पुरातन आदर्श यह कभी नहीं था। हम तो सदा परोपकार, पर-दुःखनिवारण को ही जीवन का पवित्र उद्देश्य मानते थे। थोड़े में हमें संतोष था। जो हमें प्राप्त था, उसी को भगवान की महती कृपा के रूप में भोग कर आनन्द से ज्ञान-चर्चा में निरन्तर लीन रहते थे। पर आज की नवीन सभ्यता ने हमारे सामने व्यक्तिवाद का आदर्श उपस्थित कर दिया है। हर एक व्यक्ति आज ऐसे स्वप्न देखने लगा है, जिसे वह जीवन भर कभी चरितार्थ कर नहीं सकता, और निरंतर असंतोष और अशांति की ज्वाला में जल-जल कर अन्त में चिन्ता रूपी चिता में भस्म हो जाने को तत्पर हो गया है। यह ठीक है कि अगर आदमी थोड़े में संतुष्ट हो जाय, तो वह उन्नति नहीं कर सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हम द्रव्य-उपार्जन की धुन में पड़कर अपने आदर्श को ही भूल जाँय—अपनी आदर्श संस्कृति के उच्चतम ध्येय से ही च्युत हो जाँय। धर्मपूर्वक, ईमानदारी तथा परिश्रम से द्रव्य उपार्जन करके, सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श के अनुसार, परोपकार में ही द्रव्य का सदुपयोग हमारे लिए जीवन का सब से बड़ा सुख और संतोष होना चाहिए। और वास्तव में यही उपभोग का आदर्श है। और इस दृष्टि से पंडित केदारनाथ का जीवन धन्य है।

ये बातें अभी समाप्त हो ही रही थीं कि राजाराम ने देखा एक खद्दर धारी पुरुष एक पुस्तक लिये सामने खड़े हैं।

राजाराम ने पूछा—आप किसको चाहते हैं?

नवागन्तुक ने कहा—क्या आपका नाम राजाराम है?

राजाराम—हाँ, कहिये।

नवागन्तुक—पंडित केदारनाथ जी ग्राम-सुधार पुस्तकालय की जो व्यवस्था कर गये हैं, उसी के सम्बन्ध में आज शाम को देवी-मंदिर में एक बैठक होगी। उसमें आप अवश्य पधारने की कृपा करें। इसी आशय की यह विज्ञप्ति है। इसमें कृपा करके हस्ताक्षर कर दीजिए, बात यह है कि अब यह कार्य जल्दी से जल्दी प्रारम्भ कर देना है।

दूध आया, तो उन्होंने फ़ौरन मेरे लिए भी मँगवाया; हालाँ कि मैं 'नहीं-नहीं' ही करता रह गया। हर साल नौटंकी वग़ैरह में कितना ख़र्च करते है! पर हाँ, आप तो इन खेल-तमाशों से नफ़रत करते हैं, यह मैं भूल ही रहा हूँ। ख़ैर, मेरा कहना यह है कि बद्रीनाथ भैया भी काफ़ी उदार प्रकृति के हैं।

बिहारी—जितने भी गुण तुमने उनके इस समय बतलाये, उनमें अतिथि-सत्कार को छोड़कर शेष सभी दुरुपभोग-सम्बन्धी हैं। वे उपभोग के आदर्श के विरुद्ध पड़ते हैं।

राजाराम—भाँग-बूटी, सिगरेट आदि हमारे लिए वर्जित हैं, यह तो हम मानते हैं, क्योंकि हमारी इतनी आमदनी नहीं है कि हम इनका ख़र्च बरदाश्त कर सकें, पर राजा-रईस लोगों की तो ये सब चीज़ें एक तरह से शोभा ही कही जायँगी।

बिहारी—यह सरासर भूल है। जो वस्तुएँ कृत्रिम आवश्यकता सम्बन्धी तथा विलासिता की वृद्धि करने वाली हैं, उन सबका उपभोग ऐसे लोगों के लिए दुरुपभोग ही हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ी हुई है और जिन पर अपनी मान-मर्यादा की रक्षा का भार है। अगर ये सब आदतें बद्री-बाबू एकदम से छोड़ दें, तो वे बहुत जल्दी अपने ऋण से मुक्त हो सकते हैं। जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं का नियमन नहीं कर सकता, जो अपना दुर्व्यसन त्याग नहीं सकता, जो विलासिता में डूबा रहता है, अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से वह समाज के लिए सबसे अधिक अहितकर प्राणी है।

राजाराम—तो आप यह चाहते हैं कि वे अपनी सारी इच्छाओं का दमन करके बिल्कुल साधू-सन्यासी का-सा जीवन व्यतीत करने लगें? पर मैं कहूँगा कि इससे और चाहे जो हो, किन्तु संतोष और सुख की प्राप्ति उन्हें नहीं हो सकती।

बिहारी—यह तुम्हारी भूल है। यह पश्चिम की अन्धी नक़ल है कि हमने अपनी कृत्रिम आवश्यकताओं को इतना अधिक महत्त्व दे रक्खा है। हम इच्छाओं को वश में करना तो दूर रहा, उल्टे उनके ख़रीदे हुए ग़ुलाम हो गये हैं। शान्ति और संतोष का पल्ला छोड़कर हमने रात-दिन 'हाय रुपया

हाय रुपया' की माला जपना शुरू कर दिया है ! यह हमारा पतन है। हमारा पुरातन आदर्श यह कभी नहीं था। हम तो सदा परोपकार, पर-दुःखनिवारण को ही जीवन का पवित्र उद्देश्य मानते थे। थोड़े में हमें संतोष था। जो हमें प्राप्त था, उसी को भगवान की महती कृपा के रूप में भोग कर आनन्द से ज्ञान-चर्चा में निरन्तर लीन रहते थे। पर आज की नवीन सभ्यता ने हमारे सामने व्यक्तिवाद का आदर्श उपस्थित कर दिया है। हर एक व्यक्ति आज ऐसे स्वप्न देखने लगा है, जिसे वह जीवन भर कभी चरितार्थ कर नहीं सकता, और निरंतर असंतोष और अशांति की ज्वाला में जल-जल कर अन्त में चिन्ता रूपी चिता में भस्म हो जाने को तत्पर हो गया है। यह ठीक है कि अगर आदमी थोड़े में संतुष्ट हो जाय, तो वह उन्नति नहीं कर सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हम द्रव्य-उपार्जन की धुन में पड़कर अपने आदर्श को ही भूल जांय—अपनी आदर्श संस्कृति के उच्चतम ध्येय से ही च्युत हो जांय। धर्मपूर्वक, ईमानदारी तथा परिश्रम से द्रव्य उपार्जन करके, सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श के अनुसार, परोपकार में ही द्रव्य का सदुपयोग हमारे लिए जीवन का सब से बड़ा सुख और संतोष होना चाहिए। और वास्तव में यही उपभोग का आदर्श है। और इस दृष्टि से पंडित केदारनाथ का जीवन धन्य है।

ये बातें अभी समाप्त हो ही रही थीं कि राजाराम ने देखा एक खद्दर धारी पुरुष एक पुस्तक लिये सामने खड़े हैं।

राजाराम ने पूछा—आप किसको चाहते हैं ?

नवागन्तुक ने कहा—क्या आपका नाम राजाराम है ?

राजाराम—हां, कहिये।

नवागन्तुक—पंडित केदारनाथ जी ग्राम-सुधार पुस्तकालय की जो व्यवस्था कर गये हैं, उसी के सम्बन्ध में आज शाम को देवी-मंदिर में एक बैठक होगी। उसमें आप अवश्य पधारने की कृपा करें। इसी आशय की यह विज्ञप्ति है। इसमें कृपा करके हस्ताक्षर कर दीजिए, बात यह है कि अब यह कार्य जल्दी से जल्दी प्रारम्भ कर देना है।

इक्कीसवाँ अध्याय

उत्पत्ति के भेद
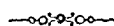
मोहन आजकल अपने इलाहाबादी चाचा बिहारी के यहाँ फिर आ गया है। पिछली बार जब वह आया था, तो अर्थशास्त्र की कुछ बातों का ज्ञान, उसने अपने चाचा से, साधारण वार्तालाप में ही प्राप्त कर लिया था। यह बात उसे बड़ी अच्छी मालूम हुई। तभी वह प्रायः जानबूझकर ऐसी बात उठा देता है, जिससे उसी सम्बन्ध की बात चल पड़ती है।

उस दिन मोहन चाचा के साथ चौक जा रहा था। दारागंज में, ग्रैण्डट्रंक रोड पर, पुलिस के थाने के निकट, एक स्थान ऐसा है, जहाँ पर इक्के-ताँगे खड़े रहते हैं। वहीं एक ओर कुछ लोग भीड़ लगाये खड़े थे। मोहन भी झट से उसी भीड़ की ओर लपक गया। पर जब उसे मालूम हुआ कि एक मदारी बँदरिया लिये हुये नचा रहा है तो उधर से हटकर फिर चाचा के पास आ गया। चाचा ने इक्का तै कर लिया था। दोनों उस पर बैठ गये और इक्का चलने लगा।

इसी समय मोहन ने कहा—अच्छा चाचा! क्या यह मदारी भी अर्थ-शास्त्र की दृष्टि में कोई महत्त्व रखता है?

मोहन ने अपनी समझ से ऐसा प्रश्न किया था कि वह मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हो रहा था। वह सोचता था, अधिकतर यही सम्भव है कि चाचा कह दें, इसका महत्त्व कुछ नहीं है, यह व्यर्थ है।

पर मोहन को सचमुच बहुत आश्चर्य्य हुआ, जब उसके चाचा ने उत्तर दिया—हाँ, अर्थशास्त्र की दृष्टि में यह मदारी भी अपनी एक उपयोगिता

रखता है। इसका महत्त्व क्यों नहीं है? तुम्हें स्मरण होना चाहिये कि मैंने तुमको बतलाया था कि अर्थशास्त्र में उत्पत्ति का अर्थ है उपयोगिता की वृद्धि।

मोहन—हाँ, मुझे याद है।

चाचा—तो अब तुमको यह समझने में असुविधा न होनी चाहिये कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से कौन-सा कार्य उत्पादक है। इसको समझने के लिये इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उपयोगिता की वृद्धि करने के ढंग कौन-कौन से हैं, अर्थात् यह कि किस प्रकार उपयोगिता की वृद्धि होती है।

मोहन—हाँ। बस, यही बतलाइये।

चाचा—उसका पहला भेद है—रूप में परिवर्तन। बात यह है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जिनके रूपों में अगर कुछ परिवर्तन कर दिया जाय, तो उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। उदाहरण के लिये हम, मान लो, बाज़ार से अपने लिये कपड़ा ख़रीद लाये हैं और वह घर पर रक्खा हुआ है। उस दशा में उसकी उपयोगिता कम है बनिस्बत उसकी उस उपयोगिता के, जब दर्जी उसे काट-छाँट कर, उसका कोट हमारे लिये सीकर तैयार कर देता है। इसी प्रकार कोई बढ़ई है। उसके पास ढेर की ढेर लकड़ी पड़ी हुई है। उस समय लकड़ी की उपयोगिता कम है बनिस्बत उसकी उस उपयोगिता के, जब वह उसको चीर कर उससे मेज़-कुर्सी तथा अलमारी तैयार कर देता है। इसी प्रकार भट्टेवाले का ईंट बनाना, कुम्हार का बर्तन बनाना, सोनार का अलंकार बनाना है। कच्चा माल पैदा करना भी उपयोगिता-वृद्धि में शामिल है। फिर उसके बाद तैयार माल बनाना है। खेती और पशु-पालन की गणना कच्चा माल तैयार करने में है। खेती में अनाज का उत्पादन प्रकृति करती है। मनुष्य तो केवल बीज डालता तथा खाद और पानी का समयानुसार प्रबन्ध करता है। प्रकृति के काम में सहायता पहुँचाना तथा उसको गतिशील बनाना ही उसका काम है। प्रारम्भ में थोड़े से बीज रहते हैं। पर प्रकृति की सहायता लेकर मनुष्य उनको सैकड़ों मन अनाज का रूप दे देता है। उससे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसी प्रकार पशु-पालन है।

मोहन—इसी प्रकार हम अन्न, रोटी, बिस्कुट, मिठाई और नाना प्रकार की चीज़ें बनाते हैं। रूई से वस्त्र, काग़ज़ से पुस्तकें यह भी रूपान्तर ही है।

चाचा—हाँ, पर यह रूपान्तर कच्चे माल से तैयार माल बनाना है। इसी प्रकार जितने भी उद्योग-धन्धे हैं, शिल्प-कार्य हैं, उनमें रूपान्तर द्वारा ही उपयोगिता की वृद्धि की जाती है। उत्पत्ति का दूसरा भेद है—स्थान-परिवर्तन। इसमें वस्तुओं का यातायात होता है। कुछ ऐसे पदार्थ हैं, जो एक स्थान पर बहुत अधिक परिमाण में रक्खे रहते हैं। वहाँ पर उनकी उपयोगिता कम रहती, बनिस्बत उन स्थानों के, जहाँ पर उनकी मात्रा कम है, पर माँग अथवा आवश्यकता अधिक है। जैसे लकड़ी जंगलों में होती है। वहाँ इसकी उपयोगिता कम है। पर अगर वह बस्ती में ले आयी जाती है, तो उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। इसी प्रकार कोयला, पत्थर तथा लोहा हैं। वह खानों में रहता है। पर उसे वहाँ से निकलवाकर रेल, मोटर अथवा गाड़ी पर लदवाकर जब बाज़ार में ले आया जाता है, तब उसकी उपयोगिता कितनी बढ़ जाती है?

मोहन—सीधी तरह से यों कहिये कि जैसे लखनऊ के ख़रबूज़े, नागपुर के संतरे, कंधार के अनार हैं। बाहर जाने से इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। अगर ये बाहर न पहुँचाये जायँ, तो एक तो जनता इनसे तृप्ति का लाभ न उठा सके, दूसरे वे अपनी पैदायश के स्थान पर ही बहुत कुछ नष्ट हो जाया करें।

चाचा—इतना ही क्यों, और भी उदाहरण हैं। नदियों तथा समुद्रों से मछलियाँ, मोती तथा शंख अगर निकाले न जायँ, बाज़ार में आकर बिकें नहीं, तो इनकी उपयोगिता बहुत ही कम हो। इन वस्तुओं में रूप का परिवर्तन नहीं होता। केवल स्थान के परिवर्तन से इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है।

मोहन—लेकिन जंगल से जो लकड़ी आती है, वह तो कटकर आती है। तो इसमें रूप परिवर्तन क्यों नहीं हुआ?

चाचा—तुम्हारा कहना ठीक है। पर इस उपयोगिता की वृद्धि में स्थान-परिवर्तन साधन का महत्त्व फिर भी अधिक माना जायगा। रूप-परिवर्तन का उतना नहीं। हाँ, जंगल से लकड़ी काटकर, चीरकर और फिर उसके तख़्ते चीरकर

लाये जायँ, अथवा खानों से धातु शुद्ध करके लायी जाय, तो स्थान-परिवर्तन और रूप-परिवर्तन दोनों प्रकारों से उपयोगिता की वृद्धि मानी जायगी।

तीसरा भेद है अधिकारी के परिवर्तन का। यह उस दशा में होता है, जब पदार्थ का न तो रूप बदलता है न स्थान। केवल उसका अधिकारी बदल जाने से उसकी उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है।

इसमें सौदागरों, अढ़तियों तथा दलालों का कार्य शामिल है। जैसे किसी व्यापारी के यहाँ हज़ारों मन अनाज भरा है। उसके लिए उसकी उपयोगिता उतनी अधिक नहीं है, जितनी उस अवस्था में, जब कि वह अनाज उस व्यापारी के यहाँ भेज दिया जाय, जो फुटकर बिक्री करके सर्वसाधारण के हाथ बेचता है।

मोहन—तब तो जिन अमीरों के पास करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति है, अगर कुछ लोग उसे उनके पास से खींचकर साधारण जनता के स्वास्थ्य, शिक्षा और उपभोग के लिए सुलभ कर दें, तो वे भी उपयोगिता की वृद्धि में बहुत सहायक होंगे।

चाचा—निस्सन्देह। और इस दृष्टि से राजनैतिक तथा समाजवादी नेता लोग भी उपयोगिता की वृद्धि में प्रबल सहायक हैं।

तीसरा भेद है—संचय। कुछ ऐसी विशेष वस्तुएँ होती हैं, जो एक विशेष समय या ऋतु में अधिक होती हैं। उनकी आवश्यकता उत्पत्ति के समय उतनी नहीं होती, जितनी भविष्य में होती है। इसीलिए उनको संचित रखने की आवश्यकता हुआ करती है। संचय करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। यदि इसमें ग़लती या असावधानी हो जाती है, तो वे पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। अतः व्यापारी लोगों को मुख्य रूप से इसी बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वे तब तक किसी तरह नष्ट या विकृत न होने पायें, जब तक उनकी विशेष माँग या आवश्यकता न हो। जैसे अनाज है। फ़सल पर वह उतना उपयोगी नहीं होता, जितना बाद में। इसलिए व्यापारी लोग उसे खत्तियों में भरकर रखते हैं। साधारण रूप से जब तक दूसरी फ़सल नहीं आ जाती, तब तक उन्हें उसकी रक्षा करनी पड़ती है। यदि दैवयोग से अकाल पड़ गया, या फ़सल ही ख़राब हो गयी, तो वही

सुरक्षित अनाज अगले वर्ष तक उपयोग में आता है। इसी प्रकार घी, गुड़, चावल और शराब आदि वस्तुएँ हैं। पुरानी पड़ जाने पर ही इनकी उपयोगिता अधिक होती है।

मोहन—रुपया भी तो आपत्ति काल के लिए लोग बैंकों में सुरक्षित रखते हैं।

चाचा—हाँ, इस दृष्टि से वह भी उपयोगिता की वृद्धि करता है। अब चौथा भेद है—विज्ञापन। बहुतेरी ऐसी चीज़ें हैं जिनका विज्ञापन यदि किया जाय, तो वे उपयोगिता की बहुत वृद्धि करें। कुछ लोग तथा संस्थाएँ विज्ञापन के बिना गतिशील हो ही नहीं सकतीं। उनकी उपयोगिता की वृद्धि केवल विज्ञापन से होती है। और विज्ञापन के द्वारा ही जनता उनसे लाभ उठाती है।

इक्का चौक पहुँच गया था। दोनों उतर पड़े। चाचा ने कहा—बस, अब दो-एक बातें इस सम्बन्ध में तुम्हें और बतलाने को रह गयी हैं। चलो जवाहरपार्क में बैठें।

दोनों पार्क में जाकर एक बेंच पर बैठ गये। चाचा ने कहा—अब तक हमने उत्पत्ति के जो भेद तुम्हें बतलाये हैं, वे भौतिक हैं। पदार्थों के रूप, स्थान तथा अधिकारी के परिवर्तन से ही उनकी उपयोगिता की वृद्धि प्रकट हुई है। पर अब हम उत्पत्ति का एक दूसरा तरीका तुम्हें बतलाते हैं। उसका भौतिक पदार्थों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

मोहन—लेकिन और तो सभी कुछ आप बतला रहे हैं। पर मैंने मदारी के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था, वह अभी ज्यों का त्यों पड़ा है। जान पड़ता है, आप उसे या तो भूल रहे हैं, या जान बूझकर भुला देना चाहते हैं।

चाचा—अधीर न होओ, उसका उत्तर भी तुम्हें शीघ्र मिल जायगा। हाँ, तो उत्पत्ति का दूसरा तरीका है अभौतिक उत्पत्ति। इसका सम्बन्ध उन लोगों से होता है, जो अप्रत्यक्ष रूप से जन-समुदाय की उपयोगिता की वृद्धि में सहायक होते हैं। कोई स्वास्थ्य-रक्षा में सहायता पहुँचाता है, कोई शिक्षा देता है, कोई समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थिर रखने में सहायक होता है, कोई दर्शकों, श्रोताओं और पाठकों को अपनी कला से आनन्द पहुँचाता है। इस प्रकार

डाक्टर, वैद्य, हकीम, अध्यापक, उपदेशक, वकील, जज, मुन्सिफ़, पुलिसमैन, नृत्यकार, गायक, मदारी, पत्रकार आदि व्यक्ति भी समाज को उपयोगिता की वृद्धि करने योग्य बनाते हैं। और इसलिए आर्थिक दृष्टि से ये भी उत्पादक ही हैं।

मोहन—सचमुच चाचा जी, तब तो उस टुटपुँजिए फेरीवाले का भी महत्व है, जो गा-गाकर चूरन बेचता है अथवा कजरी सुनाकर एक-एक पैसे की पुस्तक।

चाचा—परन्तु इस प्रसंग में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि दुकानदार, डाक्टर, वकील, पुरोहित, पत्रकार आदि की प्रसिद्धि भी धन है; क्योंकि उसका विशेष महत्व और मूल्य है, उसके बदले में द्रव्य की प्राप्ति जो होती है।

मोहन—किन्तु प्रसिद्धि तो बेची नहीं जा सकती।

चाचा—क्यों नहीं बेची जा सकती? जो दूकानदार अपने फ़र्म का नाम बेच देता है, वह अपनी प्रसिद्धि भी उस नाम के साथ बेच डालता है। लोगों को जब इस बात का पता चलता है कि यह नया दूकानदार भी उसी फ़र्म का मालिक अथवा उत्तराधिकारी है, तब मालिकान के बदल जाने पर भी पुराने ग्राहक लोग पूर्ववत् उस दूकान के ग्राहक बने रहते हैं। नये दूकानदार को अगर पुरानी दूकान के नाम, यश और प्रसिद्धि प्राप्त न हो, तो निस्सन्देह उसके ग्राहक पुरानी परिचित दूकान के ग्राहकों से कम रहेंगे। इसी प्रकार अन्य प्रत्येक पेशे वालों के नाम, उनकी संस्थाओं तथा दूकानों के नाम की प्रसिद्धि इतनी स्थायी होती है कि उनके उत्तराधिकारी तक उसका लाभ उठाते हैं। पत्रों के सम्पादक बदल जाते हैं, पर ग्राहक साधारणतया नहीं टूटते। वे पत्र के ग्राहक होते हैं, न कि उनके अधिकारियों के। व्यवसाय में नाम की बड़ी महिमा है। इसे अँगरेज़ी में गुडविल कहते हैं। इसीलिए हरएक व्यवसायी अधिक से अधिक लोगों से अपना परिचय रखता और बढ़ाता रहता है। वकील लोग सार्वजनिक सेवा करने के कारण जब अधिक ख्याति पा जाते हैं, तब उनकी वकालत खूब चलने लगती है।

मोहन—तब तो लोगों से राव-रस्म, मेल-जोल, परिचय और निकट सम्पर्क स्थापित करना भी धन की उत्पत्ति में ही माना जायगा।

चाचा—क्यों नहीं ! जिन साधनों से किसी न किसी प्रकार उत्पत्ति अथवा उपयोगिता की वृद्धि हो, वे सब धनोत्पत्ति के उपाय माने जायँगे। अच्छा, अब चलो, खद्दर-भंडार में थोड़ा-सा कपड़ा खरीदना है।

दोनों पार्क से उठकर खद्दर-भंडार आ पहुँचे। अन्दर जाने पर मालूम हुआ, महात्मा गांधी के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में एक सप्ताह के लिए मूल्य में थोड़ी सी कमी कर दी गयी है। इस कारण भीड़ बहुत अधिक है।

मोहन बोल उठा—महात्माजी के जन्मदिवस ने भी उपयोगिता की वृद्धि में योग दिया है। यह भी एक तरह से विज्ञापन द्वारा उत्पादन का तरीका ही माना जायगा।

चाचा मुसकराने लगे।

बाइसवाँ अध्याय

उत्पत्ति के साधन

आज मोहन अपने चाचा के साथ गंगा-स्नान करने जा रहा है। आजकल गंगाजी दारागंज (प्रयाग) छोड़कर उधर उस पार भूसी की ओर चली गयी हैं। इसलिए दारागंज से क़रीब एक मील रेत में चलना पड़ता है। रास्ते के दोनों ओर ककड़ी और ख़रबूजे के खेत हैं। कहीं-कहीं गेहूँ भी पका हुआ खड़ा है। दो-एक दिन में, सम्भवतः कट जायगा।

दोनों धीरे-धीरे, बातें करते हुए चले जा रहे हैं।

मोहन कह रहा है—चाचा, मैं उत्पत्ति के भेद तो अच्छी तरह समझ गया हूँ, परन्तु अभी तक यह नहीं समझ पाया हूँ कि उत्पत्ति के मुख्य साधन क्या हैं और उनके सहयोग से वस्तुओं की उत्पत्ति किस प्रकार होती है।

चाचा—एक लकड़हारे को लो। वह उस जंगल से लकड़ी बीन कर लाता है, जहां बस्ती नहीं है। मानी हुई बात है कि वहां उस लकड़ी की उपयोगिता बहुत कम है। फिर बस्ती में लाकर जब उसे बेचता है, तो वह बिक जाती है। बात यह कि जंगल की अपेक्षा बस्ती में उस लकड़ी की उपयोगिता कहीं अधिक है। अब देखना यह है कि इस उपयोगिता-वृद्धि में किन-किन साधनों का उपयोग हुआ है। एक साधन तो जंगल हुआ। वह भूमि-खंड है। लकड़ी वहां पैदा होती है। फिर उसको वहां इकट्ठा करके बस्ती तक ले आने में परिश्रम कितना पड़ा है? इस तरह इस उत्पत्ति में दो साधनों का मुख्य रूप से हाथ है—एक तो भूमि, दूसरा श्रम। लेकिन नहीं, एक तीसरा

साधन इसमें छिपा हुआ है। लकड़ी अगर वह काटकर लाता है,तो वह कुल्हाड़ी रखता होगा। और गट्ठर बांधकर तो वह उसे लाता ही होगा। उसमें उसके लिए रस्सी रखना भी आवश्यक है। तो कुल्हाड़ी और रस्सी, ये दो वस्तुएँ उसकी पूंजी में मानी जायँगी।

मोहन—लेकिन अगर कुल्हाड़ी नहीं रखता, केवल रस्सी ही रखता है तो?

चाचा—तो उस दशा में केवल रस्सी ही पूंजी है। और इस प्रकार स्थान-परिवर्तन से जो उपयोगिता में वृद्धि होती है, उसमें तीन साधनों की आवश्यकता पड़ती है—भूमि, श्रम और पूंजी।

मोहन—और रूप-परिवर्तन में?

चाचा—रूप-परिवर्तन में पहले कच्चे माल को लेना होगा। और कच्चा माल बहुधा खेती से प्राप्त होता है। उसमें भी भूमि के बिना खेती कैसे होगी? और भूमि के बाद फिर श्रम की गणना है। बिना श्रम के खेती नहीं हो सकती। परन्तु भूमि है और श्रम करने वाला मनुष्य भी है, तो भी खेती नहीं हो सकेगी, जब तक कि खेत जोतने के लिये बैल और हल, बोने के लिए बीज और फ़सल की वृद्धि के लिये खाद का प्रबन्ध न हो। और ये सब चीज़ें किसान के लिये पूँजी है। इस तरह भूमि, श्रम और पूँजी के बिना रूप-परिवर्तन सम्बन्धी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

मोहन—अच्छा, और तैयार माल में।

चाचा—मान लो बढ़ई है। जो लोग उससे चारपाई बनावाने आयेंगे, वे लकड़ी दे जायँगे। पर उस लकड़ी को चीरने, उस पर रन्दा करके उसे चिकना और सुन्दर बनाने के लिये उसे औजारों की आवश्यकता पड़ती है। माना कि उसके पास औज़ार हैं, पर हैं तो वे भी उसके संचित धन से ही। अतः ये उसकी पूँजी हुई। जहां वह चारपाई तैयार करेगा, वह अगर उसका मकान ही हुआ, तो भी वह भूमि ही तो है। अतएव इस उपयोगिता वृद्धि में भी भूमि, श्रम और पूँजी ही मुख्य साधन माने जायँगे।

मोहन—अच्छा मान लिया कि भौतिक रूप से होने वाली उत्पत्ति में ये तीन साधन मुख्य हैं। अब अभौतिक में बतलाइये।

चाचा—अधीर न होओ। उसे भी बतलाता हूँ। मान लो, एक डाक्टर है। पहले तो उसे डाक्टरी का काम करने के लिये चाहिये एक मकान, जिसमें कई कमरे हों जहां वह खुद बैठे, मरीज़ों को बैठावे और उनकी चिकित्सा करे। और यदि दवाओं की दूकान रक्खे, तो उसके लिये अलग कमरे होने चाहिये। इस प्रकार यह हुआ उसके लिये भूमि-सम्बन्धी साधन। अब इसके बाद हमें यह देखना होगा कि उसने जो इस विषय की शिक्षा प्राप्त की है, सहस्रों रुपये व्यय करने पड़े हैं उसी के द्वारा अब वह द्रव्य का उपार्जन करता है। अतः यह हुई पूँजी। इसके सिवा उसे चीर-फाड़, परीक्षा, दवाओं का विचार करने में जो श्रम पड़ता है, वह प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार इस चिकित्सा कार्य में भी भूमि, श्रम और पूँजी ये ही तीन साधन प्रमुख रूप से मानने पड़ेंगे।

परन्तु यहां एक बात विचारणीय है। और वह यह कि उत्पत्ति के तीन साधन प्रारम्भिक हैं। पुरातन काल के अर्थशास्त्री उत्पत्ति के ये ही तीन साधन मानते थे। पर अब समय बदल गया है। और अब धनोत्पत्ति का क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत हो गया है। अब तो हमारे मज़दूर तथा क्लर्क केवल एक मिल में इकट्ठे होकर काम करते हैं। इन सब से निश्चित समय और निश्चित परिमाण में काम लेना, पूँजी लगाने की व्यवस्था करना, माल की निकासी के लिये विज्ञापन करना, माल को अच्छा से अच्छा बनाने का प्रबन्ध करना, उचित समय पर कर्मचारियों को वेतन देना, उनके रहने के लिये स्थान, स्वास्थ्य आदि की चिन्ता रखना—ये सब ऐसे कार्य हैं, जिनका सम्बन्ध श्रम से है सही, पर श्रम से भी अधिक उसकी प्रबन्धकारिणी योग्यता से है। और सच पूछो तो प्रबन्धक होकर भूमि, श्रम और पूँजी इन तीनों साधनों पर नियंत्रण भी तो वही करता है। इस कार्य को आज का जगत कम महत्व नहीं देता।

राजाराम—परन्तु इन कल-कारख़ानों में हानि-लाभ की जिम्मेदारी किसी एक आदमी की तो रहती नहीं, न यह सारा कार्य कोई एक आदमी ही करता है।

चाचा—तुम्हारा यह कहना ठीक है। श्रम का विभाजन ठीक तरह से

किये बिना ऐसे कार्य हो ही कैसे सकते हैं। पर इस सारे कार्य को आज का अर्थशास्त्री केवल एक शब्द में सीमित कर डालता है। और वह है—प्रबन्ध, रह गयी बात हानि-लाभ की। सो कारख़ाने के मालिक जो कई पूँजीपति होते हैं—विशेष आवस्थाओं में, चाहे मालिक कोई एक ही व्यक्ति क्यों न हो—वे कारख़ाने को चलाने में जो पूँजी लगाते हैं, उसके डूबने, उसमें हानि होने आदि की जोखम भी तो उठाते हैं। यद्यपि उनका मुख्य उद्देश्य द्रव्योपार्जन ही होता है। बड़े पैमाने में जब यह कार्य किया जाता है, तब इसमें जोखम का और भी अधिक महत्त्व होता है। अर्थशास्त्र में धनोत्पत्ति का यह भी एक पृथक् साधन माना गया है और इसे साहस कहते हैं।

मोहन—तब तो उत्पत्ति के साधन तीन न होकर भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और साहस ये पाँच हुए।

चाचा—परन्तु यहाँ यह जान लेना भी कम आवश्यक नहीं है कि कुछ लोग प्रबन्ध और साहस को एक में मिलाकर उसे व्यवस्था और कुछ लोग संगठन भी कहते हैं।

मोहन—तो आपका कहना यह है कि उत्पत्ति के साधनों में सभी का अलग-अलग अपना-अपना पृथक महत्त्व है। कोई भी एक अगर न होगा, तो उत्पत्ति न हो सकेगी।

चाचा—हाँ, साधारण रूप से तो यही समझना चाहिए। पर विशेष स्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि ये पाँचों साधन प्रत्येक प्रकार के उत्पादन में काम आते हों। पहले उत्पत्ति का कार्य्य इतने विस्तार के साथ नहीं होता था। तब व्यवस्था और साहस की भी विशेष उपयोगिता नहीं थी। यहाँ तक कि अब भी कहीं-कहीं बहुतेरे आदमी उत्पादन के जो साधारण कार्य करते हैं, उनमें भूमि, श्रम और पूँजी—ये तीन साधन ही होते हैं। और उनमें कभी-कभी पूँजी की भी आवश्यकता नहीं होती, हाँ, यह हो सकता है कि वह उत्पत्ति बहुत थोड़ी मात्रा में हो। जैसे कोई अन्धा गायक है। कहीं उसने शिक्षा नहीं पाई; सितार, हारमोनियम तथा वायोलिन आदि आधुनिक वाद्य-यंत्रों की सहायता से उसने कभी गाया भी नहीं। तो भी वह सड़क पर गा-गाकर श्रोताओं को आकृष्ट करके यथेष्ट पैसे पा लेता है। खड़े होने के लिए

उसे भूमि भर चाहिये। फिर तो वह केवल श्रम से द्रव्योपार्जन कर लेगा। इस दशा में उसके लिए केवल भूमि और श्रम ने ही साधन का काम किया है। इसी प्रकार के उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं जिनमें भूमि और श्रम ही साधनरूप हैं।

मोहन—लेकिन अन्ध-गायक का आपने जो उदाहरण दिया है, उसमें एक ऐसा गुण है, जो बहुत कम लोगों में देखा जाता है। इसे हम ईश्वर दत्त मानते हैं।

चाचा—परन्तु भौतिक रूप से विचार करने पर अर्थशास्त्री कहेगा कि वह प्रकृति की देन है। इसके सिवा भूमि भी प्रकृति की ही देन है। पूँजी श्रम से पैदा होती है। प्रबन्ध भी एक तरह से श्रम का ही विशेष व्यापक रूप है जो उत्पत्ति के साधनों को एकत्र करता है। और साहस तो मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है। धनोत्पत्ति के लिए जब वह प्रयत्नशील होता है, तो जोखम भी उठाता ही है। इस प्रकार धनोत्पत्ति में प्रकृति और पुरुष ये दो ही प्रधान साधन रह जाते हैं। पर कितने आश्चर्य्य की बात है कि हमारे सांस्कृतिक तत्त्वदर्शियों ने सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में प्रकृति और पुरुष नामक जिन आदि शक्तियों का निरूपण पाया, अर्थशास्त्र में उत्पत्ति के साधन अन्त में वे ही प्रधान रूप में मान्य हुए। यद्यपि आज के जीवन संघर्ष में पाँचों साधन अपनी अपनी पृथक उपयोगिता रखने लगे हैं।

बातें करते हुए काफ़ी देर हो गयी थी। गंगाजी का घाट भी निकट आ गया था। मोहन ने कहा—इससे तो हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारे गावों की जनता पर, धनोत्पत्ति के आधुनिक पाँचों साधनों को देखते, हमारी पुरातन संस्कृति का ही विशेष प्रभाव है।

चाचा—हाँ, तुम्हारा अनुमान सही है।

इसी समय एक देहाती किसान कुछ कच्चे आम लिये हुए पास से जाने लगा। चाचा ने रुककर पूछा—ये अँबिया बेचोगे ?

उसने कहा—मालिक बेचेंगे क्यों नहीं ?

चाचा—क्या लोगे ?

वह—मालिक बीस हैं। दो पैसे में देंगे।

चाचा ने दो पैसे उसे देकर सब अँबिया ले ली।

मोहन कहने लगा—चाचा, इसने भी केवल भूमि और श्रम इन दो साधनों से ही धनोत्पत्ति की।

दोनों नहाने के लिए घाट की ओर बढ़ गये।

तेइसवाँ अध्याय

भूमि और उसके लक्षण

राजाराम खेत पर चबेना लेकर मज़दूर को पानी पिलाने गया हुआ था। खेत पर पहुँचकर उसने देखा, इस बार उसने जो नया हल उसे जोतने के लिए दिया है, उससे जुताई वास्तव में पहले की अपेक्षा अधिक गहरी हुई है और इस कारण ढेले काफ़ी बड़े-बड़े उभड़े हैं। बात यह हुई की बिहारी ने एक दिन उसे बतलाया था कि भूमि में जो उपजाऊ शक्ति है, वह दिन पर दिन क्षीण होती है। अतः उसे शक्तिशाली बनाने और उससे उपज का पूरा लाभ उठाने के लिए हमें नवीन प्रयोगों से सहायता लेनी पड़ती है। तब उसे स्मरण हो आया कि उन्होंने यह भी बतलाया था कि ऊपर की मिट्टी की शक्ति जब क्षीण हो गयी जान पड़े, तो जुताई गहरी करनी चाहिये। इसीलिए अवसर पाकर उसने नये ढङ्ग के हल का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया।

खेत से लौट कर राजाराम घर पर चला आया। पर वहाँ आने पर उसने सुना कि बिहारी आया हुआ था। वह अभी-अभी गया है। तब झट से खाना खाकर वह बिहारी के यहाँ जा पहुँचा।

बिहारी उस समय खाना खाकर लेटा हुआ एक समाचार-पत्र पढ़ रहा था। राजाराम को आया जान कर उठकर बैठ गया। बोला—आओ बैठो। मैं तो तुम्हारे यहां गया हुआ था, पर तुम घर पर मिले ही नहीं। मालूम हुआ कि खेत पर मजदूर को पानी देने गये हो।

राजाराम बोल उठा—हाँ, इस बार मैंने नये क़िस्म के हल का प्रयोग किया है। इसलिए मेरे अन्दर गहरी जुताई का खेत देखने की उत्सुकता भी थी।

बिहारी—देखकर कैसा लगा ?

राजाराम—लगने की क्या बात है। मनुष्य की शक्ति की थाह नहीं है। मैं पहले सोचता था, भूमि की पैदावार जब इस तरह घट रही है, तो ईश्वर ही मालिक है। कहीं ऐसा न हो कि एक दिन लोग इतना भी अनाज न पैदा कर सकें कि अपने परिवार का भरण-पोषण हो सके। किन्तु मैं देखता हूँ, मनुष्य ने कठिन कार्य सुलभ कर लिये हैं। यहां तक कि भूमि के लक्षणों पर भी मनुष्य की शक्ति अपना प्रभुत्व जमा रही है। आप मुझे यह बतलाइये कि भूमि के अंतर्गत कौन सी वस्तुएँ सम्मिलित की जाती है।

बिहारी ने कहा—अर्थशास्त्र में भूमि के अन्तर्गत वे ही वस्तुएँ मानी जाती हैं, जिन्हें मनुष्य ने नहीं बनाया और जो मनुष्य के श्रम से नहीं उत्पन्न हुई, किन्तु जिनकी उपयोगिता धनोत्पत्ति के साधन के रूप में मानी जाती है। उदाहरणवत् जंगल में उत्पन्न होने वाली लकड़ी, पशु-पक्षी तथा औषधियाँ तो भूमि के अंतर्गत मानी जायँगी क्योंकि ये हमें प्रकृति से मिलती हैं, पर यदि लकड़ी मनुष्य के श्रम से एकत्र हुई हो, यदि पशु-पक्षियों को उसने पकड़ा और पाल-पोष कर बड़ा किया हो, यदि उसने औषधियों को इकट्ठा करके रक्खा हो, तो ये वस्तुएँ भूमि के अंतर्गत नहीं मानी जायँगी। इसी प्रकार जो पृथ्वी हमारे उपयोग में नहीं आती, अर्थशास्त्र की दृष्टि में वह भूमि नहीं है। किन्तु यदि वही कामलायक बना ली गई हो और उसका उपयोग हो रहा हो तो वह भूमि मान ली जायगी।

राजाराम—तो आपका अभिप्राय यह है कि भूमि का वह भाग अथवा उससे उत्पन्न वे वस्तुएँ ही भूमि के अन्तर्गत मानी जाती हैं, जो हमें प्रकृति से प्राप्य हैं अर्थात् जिनपर मनुष्य ने श्रम नहीं किया है और जो धन की उत्पत्ति के लिये उपयोग में आ रही हैं। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या जलवायु, शीत, गर्मी, वर्षा, नदी आदि भी धनोत्पत्ति के साधन हैं ?

बिहारी—क्यों नहीं ? जलवायु का प्रभाव धनोत्पत्ति पर निश्चित रूप से

पड़ता है। गर्म देशों में थोड़े से परिश्रम से ही धनोत्पत्ति हो जाती है। वहाँ के निवासियों को वस्त्र, भोजन तथा बड़े मकानों की, अपेक्षाकृत कम आवश्यकता होती है। गर्म देश प्रायः कृषि-प्रधान होते हैं। शीत प्रधान देशों की स्थिति इससे बिल्कुल विपरीत है। वहाँ के लोगों को भोजन, वस्त्र अधिक चाहिये। मकान की भी आवश्यकता उनके लिए अनिवार्य्य है। उनकी आवश्यकताएँ अधिक होती हैं और उनकी पूर्ति के लिए उन्हें श्रम अधिक करना पड़ता है, वे नीरोग अधिक-संख्या में होते हैं। वहाँ खेती अधिक नहीं होती, पर शिल्प-सम्बन्धी व्यवसाय अधिकता के साथ होते हैं। इसी प्रकार भौगोलिक स्थिति का प्रभाव भी धनोत्पत्ति पर विशेष पड़ता है। जो देश कई ओर से समुद्र से घिरे होते हैं, उन्हें अपनी रक्षा के लिए सदा सावधान रहना पड़ता है। उन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए स्वावलम्बी होने की अधिक आवश्यकता रहती है। बन्दरगाहों के द्वारा वे अन्य देशों से अपना व्यापारिक सम्बन्ध रखकर बहुत शीघ्र व्यावसायिक उन्नति कर लेते हैं। जो नगर नहरों तथा नदियों के किनारे होते हैं, वे जल-शक्ति का उपयोग बहुत अधिक कर सकते हैं। एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाने की कितनी ही सुविधाएँ उन्हें प्राप्त रहती हैं। पहले लोग जल प्रवाह से पनचक्की चलाते थे, अब उसके प्रवाह और प्रपातों से बिजली का संचय करके उससे लाभ उठाते हैं। जहां नदियों में डेल्टा अथवा टापू निकल आते हैं, वहां की भूमि बहुत अधिक उपजाऊ निकलती है। यह ठीक है कि नदियों की बाढ़ से हानि भी कम नहीं होती। पर कभी-कभी बाढ़ के कारण कृषि भूमि पर जो नवीन मिट्टी के पर्त-के-पर्त जम जाते हैं, उनसे भूमि उपजाऊ भी तो हो जाती है। तेल और कोयले से भी मशीनें चलती हैं, यह ठीक है। पर उसकी एक सीमा है। किन्तु जल-शक्ति तो अनन्त है। इसी प्रकार वायु की शक्ति भी धनोत्पत्ति में सहायक होती है। अनुकूल वायु पाकर नदियों में नावें बिना किसी विशेष प्रयास के, सैकड़ों मील चली जाती हैं। वायु-शक्ति का उपयोग करने के लिए बहुत ऊँचे खम्भों पर पंखे लगा दिये जाते हैं। जैसे-जैसे वे पंखे चलते हैं, वैसे-वैसे उनके सम्बन्ध और बल से अनेक प्रकार के यन्त्र भी चलते रहते हैं। धूप की गरमी अन्न को पकाने में कितनी सहायक

होती है ? पौदे उससे जल्दी उगते हैं। जनता का स्वास्थ्य उससे सुधरता है। रंगीन बोतलों में पानी भर कर धूप में रखने से सूर्य की किरणों का प्रभाव उस पानी में पड़ता है और वह चिकित्सा के लिए उपयोगी होता है।

राजाराम—किन्तु वर्षा का तो कोई विशेष भरोसा अब रह नहीं गया है। पहले की अपेक्षा अब वृष्टि प्रायः बहुत कम होती है।

बिहारी—किन्तु वर्षा का जो जल नदियों द्वारा समुद्र में जाता है, उसे संचित करके झीलें और तालाब बनाने का प्रयत्न भी तो जारी है। नदियों से नहरें निकाली जाती हैं और उससे खेती की सिंचाई होती है। फिर कहीं वर्षा अगर कम होती है, तो कहीं उपज के अनुकूल यथेष्ट मात्रा में भी तो होती है। इसके सिवा जहां वर्षा कम होती है, वहां आबादी भी तो कम होती है। इसी प्रकार धनोत्पत्ति से जंगलों का विशेष सम्बन्ध है।

राजाराम—किन्तु जंगलों से लकड़ी मिलने के सिवा उत्पत्ति में ऐसी क्या विशेष सहायता मिलती है ?

बिहारी—वाह ! वे नदियों की बाढ़ को रोकने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं। इसके सिवा वे वर्षा के जल से पृथ्वी के नीचे की मिट्टी को तर रखते, उनके पेड़ों के पत्ते हवा को शीतलता देकर गरमी कम करते हैं। और पशुओं के चरने को हरी घास अथवा मकानों को छाने के लिए फूस देते हैं। इसके सिवा औषधियों के लिए जड़ियां वहीं से मिलती हैं। गोंद, रबर, लाख, चमड़ा रंगने के लिए पेड़ों की छाल, भांति-भांति के फल, मेवे और मसाले, काग़ज़ बनाने के उपयोग में आने वाली घास हमें जंगलों से ही मिलती है। इसके सिवा वैज्ञानिकों का मत है कि जहां जंगल अधिक होते हैं, वहां अनावृष्टि प्रायः बहुत कम होती है।

राजाराम—अच्छा, अब यह बतलाइये कि भूमि के भीतरी गुण क्या हैं ?

बिहारी—भूमि कहीं की अधिक उपजाऊ होती है, कहीं की कम। जहां की मिट्टी पथरीली, या रेतीली होगी, वहां पैदावार कम होगी। ढालू जमीन भी कम उपजाऊ होती है। मुलायम मिट्टी में पौदों की जड़ें आसानी से अन्दर चली जाती हैं। पर उसमें यह गुण भी अवश्य होना चाहिए कि वह उन जड़ों को पकड़ कर उन्हें स्थिर रख सके। रेतीली भूमि न तो ऊपर पानी

को रोक पाती है, न उसके साथ आने वाले अन्य तत्त्वों को। पथरीली या कंकरीली भूमि भी खेती के लिए उपयोगी नहीं होती। उससे न पौदे जल खींच पाते हैं, न उसके अन्य तत्त्व। परन्तु यह तो हुआ उत्पत्ति के लिए उपयोगी उसका आन्तरिक गुण। किन्तु बाह्य परिस्थितियों के कारण भी भूमि की उपयोगिता बढ़ जाती है।

राजाराम--यह किस तरह ?

बिहारी—बात यह है कि भूमि अगर उपजाऊ भी है, तो भी उससे हम उतनी उपयोगिता की वृद्धि नहीं कर पायेंगे, जितनी उस अवस्था में कर सकते हैं, जब उसके निकट हमें उससे पैदा होने वाली वस्तुओं को शीघ्र स्थानान्तरित करने के साधन सुलभ होंगे। उदाहरणवत् जिन गांवों के निकट रेल, पक्की सड़क अथवा नदी होती है, वहां का माल दूसरे अधिक उपयोगिता वाले स्थानों को जल्दी पहुँचाया जा सकता है। अगर गांव के निकट बड़े तालाब हैं, तो सिंचाई में कुछ सुविधा निकल सकती है। अगर कृषि भूमि गांव के निकट है, तो उसमें लाभ पहुँचाने की सुविधा हो सकती है।

यह तो कृषि के लिए उपयोगी भूमि के आन्तरिक गुणों और बाह्य परिस्थितियों की बात हुई। किन्तु खनिज भूमि के लिए आन्तरिक गुणों का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है। उसके लिए यह देखना पड़ता है कि खान से जो पदार्थ निकलता है वह समय और परिमाण को देखते हुए लाभकर कितना है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसे निकालने में इतना अधिक व्यय हो जाय कि उस पदार्थ की बिक्री होने पर उससे प्राप्त द्रव्य कम निकले। यदि विक्रय का स्थान इतनी दूर है कि उस पदार्थ के वहाँ तक पहुँचाने में व्यय अधिक पड़ता है, तो इस हानिकर कार्य में हाथ डालना कौन स्वीकार करेगा।

राजाराम—लेकिन जब हम कई एकड़ भूमि लेकर वहां कोई दूकान करते या गोदाम बनाते हैं, तब तो भूमि के इन आन्तरिक गुणों का कुछ भी विचार नहीं करते !

बिहारी—हां, व्यापार और कल-कारखानों में हम जिस भूमि का उपयोग करते हैं, उसके आन्तरिक गुणों की ओर ध्यान न देकर बाह्य परिस्थितियों

का ही हमें विशेष ध्यान रखना पड़ता है। उस अवसर पर हम व्यावसायिक दृष्टि से केवल मौके की भूमि देखते हैं। यह सोचते हैं कि रेल का स्टेशन निकट है कि नहीं, बाज़ार दूर तो नहीं पड़ेगा। तभी तो कल-कारख़ाने प्रायः नगरों, तीर्थों तथा राजधानी में स्थापित होते हैं। गावों की अपेक्षा वहाँ की भूमि का मूल्य भी अधिक होता है। सभी व्यवसायी मौके की ही भूमि चाहते हैं, इसलिये उस भूमि का मूल्य प्रायः बढ़ता भी जाता है। किन्तु सच पूछो तो फसलों की उत्पत्ति की दृष्टि से उस भूमि का विशेष महत्त्व नहीं होता।

राजाराम—किन्तु इसमें भूमि का क्या दोष है? उसका लाभ अगर कोई अन्य रीति से उठाना चाहता है, तो उठाये।

बिहारी—हां, यह ठीक है। पर इस सिलसिले में तुम्हें कुछ बातें अभी और बतलाने को रह गयी हैं। अच्छा बोलो, अगर तुमसे प्रश्न किया जाय कि भूमि का लक्षण क्या है, तो तुम क्या जवाब दोगे?

राजाराम—लक्षण का मतलब अगर उसके भेदों से है, तो मैं कहूँगा कि वह कई प्रकार की होती है।

बिहारी—नहीं। यह बात अभी तुम्हें जाननी है। अच्छा सुनो, भूमि का पहला लक्षण यह है कि वह परिमित है। अर्थात् परिमाण उसका निश्चित है।

राजाराम—क्यों बहुत सी भूमि जो पहले बेकार थी, अब उसमें खेत खड़े हैं!

बिहारी—किन्तु इसमें समय कितना लगा है! फिर जितनी भूमि का पहले से हम उपयोग करते आये हैं, उसकी अपेक्षा वह अधिक कितनी है। इसके सिवा भूमि के अन्तर्गत जो वस्तुएँ मानी जाती हैं, उनकी भी एक सीमा है। उदाहरण के लिये किसान को वर्षा अथवा धूप की आवश्यकता चाहे जितनी हो, किन्तु उसे मिलती है वह एक सीमा के भीतर ही। इसी प्रकार भूमि से मिलने वाले खनिज पदार्थ भी सीमित ही हैं।

दूसरी बात यह है कि भूमि प्रकृति की देन है। परिमाण में वह परिमित अवश्य है, पर वह जितनी भी है उसके लिये मनुष्य को अपनी ओर से प्रयत्न अथवा व्यय कुछ भी करना नहीं पड़ता। बिना श्रम के वह मिली है।

राजाराम—आप भी अजीब बातें करते हैं। भूमि ख़रीदने में क्या रुपया नहीं लगता है?

बिहारी ने मुसकराते हुए कहा—अरे भाई, मैं यह बात आदि काल की कह रहा हूँ। पहले तो मनुष्य ने उसे यों ही ले लिया था। पीछे उसका उस पर अधिकार हो गया। फिर बाद में अगर उसने किसी के हाथ उसे बेच दिया, तो उसे रुपया अवश्य मिला। आज तक यही चल रहा है।

राजाराम—अच्छा, हां, और?

बिहारी—तीसरी बात यह है कि भूमि अक्षय है।

राजाराम—क्यों? बाढ़ अथवा भूकम्प से कई स्थल जलमय हो जाते हैं, सो!

बिहारी—पर उससे भूमि के कुल परिमाण में क्या अन्तर पड़ता है! हमारे देश की जितनी भूमि आज दिन है, सहस्रों वर्षों से वह उतनी ही है। बल्कि लाखों वर्षों से। मनुष्य अपने प्रति अहंकार चाहे जितना करले, पर वह अपनी रचना में कितना स्थायित्व रखता है? बड़े बड़े गगनचुम्बी राजमहल और दुर्ग भूकम्प के एक धक्के से धराशायी हो जाते हैं। किन्तु भूमि ने कराल काल के कितने आघात सहे हैं, तो भी उसका क्षय क्या हुआ! साधारण मनुष्य की कल्पना जहां तक जाती है, जान पड़ता है, भूमि अनन्त काल तक इसी प्रकार अक्षय बनी रहेगी।

राजाराम—इसके सिवा वह अचल भी तो है।

बिहारी—हाँ, यह तुमने ठीक सोचा। वह स्थानान्तरित नहीं हो सकती। आज एक राजधानी क़ायम होती है और वहाँ राजकीय भवन बनते हैं। परन्तु राजनैतिक परिस्थित बदल जाने के कारण जब राजधानी बदल जाती है तो नये स्थान में नयी इमारतें बनानी पड़ती हैं। एक बार जहाँ जो इमारत बन गयी, मय भूमि के वह दूसरे स्थान को नहीं ले जायी जा सकती। मनुष्य अपना सब कुछ एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जा सकता है, पर भूमि को ले जा सकने में वह समर्थ नहीं है। वरन् प्रायः होता तो यह है कि हमें ही भूमि का ध्यान रखकर अपना निवास स्थिर करना पड़ता है।

इसके सिवा भूमि निष्क्रिय साधन है। वह स्वतः कुछ नहीं करती। मनुष्य

चौबीसवाँ अध्याय

खेतों की चकबन्दी

"आज तो तुम्हारे पैर में सूजन कुछ ज़्यादा जान पड़ती है ! यह क्या बात हुई ? अभी कल तक तो यह इतना सूजा हुआ न था।" बिहारी ने राजाराम से पूछा।

राजाराम बोला—क्या बताऊँ, खेत हमारे, आप जानते हैं, एक-दूसरे से कितनी दूर-दूर हैं। और बिना ख़ुद देखे काम ठीक ढङ्ग से होता नहीं है। फिर खेती का काम ! ज़्यादा चलना न पड़ता, तो कोई बात न होती। चलने से ही पैर में सूजन के साथ-साथ तकलीफ़ भी बढ़ गयी है। दवा अभी-अभी बाँधी है। सवेरे तक आशा है कि कम हो जायगी। चिन्ता की बात नहीं है।

बिहारी अभी तक, राजाराम के पैर की ओर देखता हुआ, खड़ा था। अब कुछ दूर पर पड़ी चारपाई पर बैठ गया। बोला—आज तुमको जो यह शारीरिक कष्ट हुआ है, खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर रहने से होने वाली अन्य अनेक बड़ी-बड़ी हानियों के आगे, सच पूछो तो कुछ भी नहीं है।

स्वीकार करने के भाव से राजाराम ने कहा—हाँ, खेत दूर-दूर होने पर सभी खेतों पर पहुँचने में तकलीफ़ के अलावा नुक़सान भी थोड़ा बहुत होता ही है ज़रूर, पर यह तो एक लाचारी है। दूर हों, चाहे नज़दीक, छोटे हों, चाहे बड़े, इसके लिए हम कर ही क्या सकते हैं ?

बिहारी—यही तुम्हारी भूल है राजाराम। तुमको जो आज यह तकलीफ़ हुई है यह सिर्फ़ तुम्हारी ही नहीं है। वास्तव में खेतों के दूर-दूर होने की

हानियाँ हमारे देश के सभी किसान नित्य भोगते हैं। यह छोटी बात नहीं है। इसीलिए अर्थशास्त्रियों ने भी इस विषय पर ध्यान दिया।

आश्चर्य से राजाराम ने कहा—अच्छा!

बिहारी—हाँ, खेतों के छोटे और दूर-दूर होने के कारण उत्पत्ति की जो हानि होती है, अर्थशास्त्री भला उसे कैसे सहन कर सकते थे। उन्होंने देखा कि इस प्रकार सब से बड़ी असुविधा किसान को यह होती है कि वह न तो अपनी फ़सल की उपज बढ़ा सकता है और न उसकी रक्षा ही उचित रूप से कर सकता है।

राजाराम—उपज बढ़ाने में तो ऐसी कोई विशेष कठिनाई नहीं होती।

बिहारी—क्यों नहीं होती? छोटे-छोटे खेतों में वैज्ञानिक यंत्रों का उपयोग नहीं हो सकता, प्रत्येक छोटे खेत में कुआँ नहीं खोदा जा सकता। अतएव उनमें यथेष्ट पूँजी नहीं लगाई जा सकती और उसका लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। खेतों की उचित रक्षा न होने पर उपज की तो क्षति होती ही है। फिर मेड़ बनाने, बीच में रास्ता निकालने और नहर से पानी लेने में भी छोटे-छोटे खेतों से कितनी हानि होती है! कभी-कभी तो आवश्यकता होने पर भी हम वैसा कर नहीं सकते।

राजाराम—हाँ, यह तो आपने ठीक कहा। इस तरह उपज की ही हानि होती है। अच्छा हाँ, तो अर्थशास्त्रियों ने इस कठिनाई को दूर करने का उपाय क्या निकाला है?

बिहारी—किसी गाँव के किसानों को मिलकर एक सहकारीसमिति स्थापित करनी चाहिये। समिति अपनी एक पंचायत चुन लेती है। इस समिति द्वारा गाँव में जितनी कृषि-भूमि होती है, उसका दाम कूत लिया जाता है। फिर हर एक किसान के खेतों का मूल्य आंक लिया जाता है और एक चक में उसे उतने मूल्य की कृषि-भूमि दे दी जाती है। इस तरह किसानों की खेती की भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना रोक दिया जाता है। इसे चकबन्दी कहते हैं।

राजाराम—कहीं ऐसा हुआ भी है, या ऐसा सोचा ही जा रहा है?

बिहारी—कई जगहों पर, ख़ासकर पंजाब प्रांत और मध्यप्रांत में, अर्ध-सरकारी

चौबीसवाँ अध्याय

खेतों की चकबन्दी

"आज तो तुम्हारे पैर में सूजन कुछ ज़्यादा जान पड़ती है! यह क्या बात हुई? अभी कल तक तो यह इतना सूजा हुआ न था।" बिहारी ने राजाराम से पूछा।

राजाराम बोला—क्या बताऊँ, खेत हमारे, आप जानते हैं, एक-दूसरे से कितनी दूर-दूर हैं। और बिना ख़ुद देखे काम ठीक ढङ्ग से होता नहीं है। फिर खेती का काम! ज़्यादा चलना न पड़ता, तो कोई बात न होती। चलने से ही पैर में सूजन के साथ-साथ तकलीफ़ भी बढ़ गयी है। दवा अभी-अभी बाँधी है। सबेरे तक आशा है कि कम हो जायगी। चिन्ता की बात नहीं है।

बिहारी अभी तक, राजाराम के पैर की ओर देखता हुआ, खड़ा था। अब कुछ दूर पर पड़ी चारपाई पर बैठ गया। बोला—आज तुमको जो यह शारीरिक कष्ट हुआ है, खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर रहने से होने वाली अन्य अनेक बड़ी-बड़ी हानियों के आगे, सच पूछो तो कुछ भी नहीं है।

स्वीकार करने के भाव से राजाराम ने कहा—हाँ, खेत दूर-दूर होने पर सभी खेतों पर पहुँचने में तकलीफ़ के अलावा नुक़सान भी थोड़ा बहुत होता ही है ज़रूर, पर यह तो एक लाचारी है। दूर हों, चाहे नज़दीक, छोटे हों, चाहे बड़े, इसके लिए हम कर ही क्या सकते हैं?

बिहारी—यही तुम्हारी भूल है राजाराम। तुमको जो आज यह तकलीफ़ हुई है यह सिर्फ़ तुम्हारी ही नहीं है। वास्तव में खेतों के दूर-दूर होने की

हानियाँ हमारे देश के सभी किसान नित्य भोगते हैं। यह छोटी बात नहीं है। इसीलिए अर्थशास्त्रियों ने भी इस विषय पर ध्यान दिया।

आश्चर्य से राजाराम ने कहा—अच्छा!

बिहारी—हाँ, खेतों के छोटे और दूर-दूर होने के कारण उत्पत्ति की जो हानि होती है, अर्थशास्त्री भला उसे कैसे सहन कर सकते थे। उन्होंने देखा कि इस प्रकार सब से बड़ी असुविधा किसान को यह होती है कि वह न तो अपनी फ़सल की उपज बढ़ा सकता है और न उसकी रक्षा ही उचित रूप से कर सकता है।

राजाराम—उपज बढ़ाने में तो ऐसी कोई विशेष कठिनाई नहीं होती।

बिहारी—क्यों नहीं होती? छोटे-छोटे खेतों में वैज्ञानिक यंत्रों का उपयोग नहीं हो सकता, प्रत्येक छोटे खेत में कुआँ नहीं खोदा जा सकता। अतएव उनमें यथेष्ट पूँजी नहीं लगाई जा सकती और उसका लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। खेतों की उचित रक्षा न होने पर उपज की तो क्षति होती ही है। फिर मेड़ बनाने, बीच में रास्ता निकालने और नहर से पानी लेने में भी छोटे-छोटे खेतों से कितनी हानि होती है! कभी-कभी तो आवश्यकता होने पर भी हम वैसा कर नहीं सकते।

राजाराम—हाँ, यह तो आपने ठीक कहा। इस तरह उपज की ही हानि होती है। अच्छा हाँ, तो अर्थशास्त्रियों ने इस कठिनाई को दूर करने का उपाय क्या निकाला है?

बिहारी—किसी गाँव के किसानों को मिलकर एक सहकारीसमिति स्थापित करनी चाहिये। समिति अपनी एक पंचायत चुन लेती है। इस समिति द्वारा गाँव में जितनी कृषि-भूमि होती है, उसका दाम कूत लिया जाता है। फिर हर एक किसान के खेतों का मूल्य आंक लिया जाता है और एक चक में उसे उतने मूल्य की कृषि-भूमि दे दी जाती है। इस तरह किसानों की खेती की भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना रोक दिया जाता है। इसे चकबन्दी कहते हैं।

राजाराम—कहीं ऐसा हुआ भी है, या ऐसा सोचा ही जा रहा है?

बिहारी—कई जगहों पर, ख़ासकर पंजाब प्रांत और मध्यप्रांत में, अर्ध-सरकारी

तौर से, सहकारी समितियों के द्वारा, ऐसा प्रयत्न किया गया और उसमें सफलता भी मिली है। इसी तरह हर जगह किया जा सकता है।

राजाराम—लेकिन तो भी ऐसा हो सकता है कि अनेक छोटे छोटे खेत रह ही जायँ। यह भी हो सकता है कि किसी आदमी के पास इतनी अधिक भूमि हो कि वह उसका पूर्ण रूप से उपयोग न कर सके या आर्थिक स्थिति उसकी उतनी अच्छी न हो कि वह उसके अनुरूप पूँजी लगा सके। उसके प्रबन्ध में कुछ दुर्गुण भी हो सकते हैं। तब उस दशा में क्या किया जायगा?

बिहारी—इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि देश की सारी भूमि पर अन्तिम अधिकार राज्य का ही होना चाहिये। वही श्रम और पूँजी लगाकर भूमि से उत्पत्ति का पूरा लाभ उठा सकता है।

राजाराम—हाँ, अगर राज्य इस काम में पड़ जाय, तब तो खेतों के छोटे और दूरस्थ होने से जो हानियाँ होती हैं, उनका निवारण बहुत आसानी से किया जा सकता है।

बिहारी—हाँ, क्योंकि देश की सारी-की-सारी भूमि उसी के अधीन रहेगी। श्रम और पूँजी का उचित उपयोग उसके लिए किया जा सकेगा। नवीन आविष्कारों, यंत्रों तथा योग्य-से-योग्य श्रमिकों का अवलम्ब ग्रहण कर पहले की अपेक्षा कुछ कम ख़र्च में ही, खेती की उपज, बहुत अंशों में, पूर्णरूप से बढ़ाई जा सकती है। फिर इसके लिए ज़रूरत पड़ने पर अन्य पड़ोसी राष्ट्रों से उस देश की सरकार मामूली ब्याज पर रुपया भी यथेष्ट रूप से उधार ले सकेगी।

राजाराम—किन्तु मुझे तो ये बातें कोरी सिद्धान्त की मालूम होती हैं। अगर ऐसा किया जा सके, तब तो किसानों के सारे दुख ही दूर हो जायँ। मालूम नहीं कब ऐसा अवसर आयेगा, जब ये सिद्धान्त व्यवहार रूप में काम में लाये जायँगे।

बिहारी—तुम्हारी ही तरह बहुतेरे लोगों को इसकी व्यावहारिकता—और किसी अंश में सफलता में भी—विश्वास नहीं था। वरन् लोग तरह-तरह के तर्क-वितर्क उपस्थित करके इन विचारों का मज़ाक उड़ाया करते थे। पर रूस में इसका प्रयोग किया गया है और कहा जाता है कि इसमें सफलता भी मिली है।

उसने दिखला दिया है कि राज्य के द्वारा खेती होने पर उपज इतनी सुगमता से बढ़ाई जा सकती है कि संसार का ऐसा कोई भी देश प्रतियोगिता में उसके सामने ठहर नहीं सकता।

राजाराम—अच्छा!

बिहारी—हाँ, वहाँ की सरकार जो खेती करती है, उसमें मज़दूरों का ही भाग मुख्य रहता है। वहाँ न कोई ज़मींदार है और न पूँजीपति।

राजाराम—पर हमारे देश के लिए तो अभी यह दिन दूर है। अभी तो चकबन्दी का ही प्रयोग करने दिया जाय, तो भी बहुत कुछ सहूलियतें हो सकती हैं।

तौर से, सहकारी समितियों के द्वारा, ऐसा प्रयत्न किया गया और उसमें सफलता भी मिली है। इसी तरह हर जगह किया जा सकता है।

राजाराम—लेकिन तो भी ऐसा हो सकता है कि अनेक छोटे छोटे खेत रह ही जायँ। यह भी हो सकता है कि किसी आदमी के पास इतनी अधिक भूमि हो कि वह उसका पूर्ण रूप से उपयोग न कर सके या आर्थिक स्थिति उसकी उतनी अच्छी न हो कि वह उसके अनुरूप पूँजी लगा सके। उसके प्रबन्ध में कुछ दुर्गुण भी हो सकते हैं। तब उस दशा में क्या किया जायगा?

बिहारी—इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि देश की सारी भूमि पर अन्तिम अधिकार राज्य का ही होना चाहिये। वही श्रम और पूँजी लगाकर भूमि से उत्पत्ति का पूरा लाभ उठा सकता है।

राजाराम—हाँ, अगर राज्य इस काम में पड़ जाय, तब तो खेतों के छोटे और दूरस्थ होने से जो हानियाँ होती हैं, उनका निवारण बहुत आसानी से किया जा सकता है।

बिहारी—हाँ, क्योंकि देश की सारी-की-सारी भूमि उसी के अधीन रहेगी। श्रम और पूँजी का उचित उपयोग उसके लिए किया जा सकेगा। नवीन आविष्कारों, यंत्रों तथा योग्य-से-योग्य श्रमिकों का अवलम्ब ग्रहण कर पहले की अपेक्षा कुछ कम ख़र्च में ही, खेती की उपज, बहुत अंशों में, पूर्णरूप से बढ़ाई जा सकती है। फिर इसके लिए ज़रूरत पड़ने पर अन्य पड़ोसी राष्ट्रों से उस देश की सरकार मामूली व्याज पर रुपया भी यथेष्ट रूप से उधार ले सकेगी।

राजाराम—किन्तु मुझे तो ये बातें कोरी सिद्धान्त की मालूम होती हैं। अगर ऐसा किया जा सके, तब तो किसानों के सारे दुख ही दूर हो जायँ। मालूम नहीं कब ऐसा अवसर आयेगा, जब ये सिद्धान्त व्यवहार रूप में काम में लाये जायँगे।

बिहारी—तुम्हारी ही तरह बहुतेरे लोगों को इसकी व्यावहारिकता—और किसी अंश में सफलता में भी—विश्वास नहीं था। वरन् लोग तरह-तरह के तर्क-वितर्क उपस्थित करके इन विचारों का मज़ाक उड़ाया करते थे। पर रूस में इसका प्रयोग किया गया है और कहा जाता है कि इसमें सफलता भी मिली है।

उसने दिखला दिया है कि राज्य के द्वारा खेती होने पर उपज इतनी सुगमता से बढ़ाई जा सकती है कि संसार का ऐसा कोई भी देश प्रतियोगिता में उसके सामने ठहर नहीं सकता।

राजाराम—अच्छा!

बिहारी—हाँ, वहाँ की सरकार जो खेती करती है, उसमें मज़दूरों का ही भाग मुख्य रहता है। वहाँ न कोई ज़मीदार है और न पूँजीपति।

राजाराम—पर हमारे देश के लिए तो अभी वह दिन दूर है। अभी तो चकबन्दी का ही प्रयोग करने दिया जाय, तो भी बहुत कुछ सहूलियतें हो सकती हैं।

पच्चीसवाँ अध्याय

श्रम के भेद और गुण

रायसाहब के द्वार पर कल बड़ी भीड़ जमा थी। लोग खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे। बात यह थी कि एक लड़का मुहल्ले में कहीं से आया हुआ है। वह मुँह और नाक से कोयल, मोर, तोता, भेड़, बकरी, बिल्ली तथा कुत्ते आदि की बोलियाँ ऐसे अच्छे ढङ्ग से बोलता है कि लोग धोखा खा जाते हैं। यहाँ तक कि अगर परदे की ओट से बोली बोलता है, तो पशु-पक्षी भी उसके धोखे में आ जाते हैं। सुनते हैं, एक बार कहीं इसकी परीक्षा भी हो चुकी है और वह उसमें सफल हो चुका है। उमर ऐसी अधिक नहीं है। यही सोलह-सत्रह वर्ष का होगा। अपने गाँव के टाउनस्कूल में ७ वें दरजे में पढ़ता है। कई जगह उसको इसके लिए मेडिल भी मिल चुके हैं।

लेकिन कल उस बेचारे को लोगों ने बहुत परेशान किया। कई बार वह बोलियाँ बोल चुका था, तो भी लोगों की तबीयत भरती न थी। बार-बार इसके लिए उसे तंग किया जाता था। संयोग से मैं भी वहाँ पहुँच गया था। जब मैंने देखा कि उसको काफ़ी श्रम करना पड़ा है, और लोग फिर भी उसे छोड़ नहीं रहे हैं, तो बिना बोले मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा—अब तुम भी मित्र, चलो हमारे साथ। इन लोगों को बकने दो।

मोहन जब अपनी बात कह चुका, तो उसके चाचा ने कहा—और जो बात हुई, सो तो सब ठीक ही थी। पर सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात मुझे यह जान पड़ी कि तुमने उसके प्रदर्शन के कार्य को 'श्रम' के नाम से याद किया।

मोहन—क्यों ? इसमें मैंने क्या ग़लती की ?

चाचा—बात यह है कि अर्थशास्त्र में श्रम उसी प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक प्रयत्न को कहते हैं, जो केवल धनोत्पत्ति के लिए किया जाता है। इस प्रकार जो प्रयत्न केवल मनोरंजन के लिए किये जाते हैं, और जिनमें द्रव्योपार्जन का कोई प्रयोजन नहीं होता, उन्हें श्रम के अन्तर्गत नहीं माना जाता।

मोहन—किन्तु धन की उत्पत्ति के बहुतेरे ऐसे कार्य भी तो हैं, जिनमें कुछ व्यक्तियों का यथेष्ट मनोरंजन हो जाता है।

चाचा—हाँ, अनेक कवि और कलाकर, चित्रकार तथा शिल्पी जब अपने कार्य में संलग्न रहते हैं, तो उसमें इतने लिप्त हो जाते हैं कि उन्हें किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होता। वरन् आनन्द का ही अनुभव वे बहुधा करते हैं। जब तक वे इस कार्य से आर्थिक लाभ नहीं उठाते और केवल उसे आत्मानन्द के लिए करते हैं, तब तक उनके इस प्रयत्न को हम श्रम के अन्तर्गत नहीं मान सकते। कुछ लोग कुश्ती लड़ते, क्रिकेट और फुटबाल खेलते हैं। यद्यपि इसमें वे थक भी जाते हैं, तो भी अर्थशास्त्र की दृष्टि से वे श्रम नहीं करते। हाँ, अगर वे लोग अपनी ऐसी कोई टीम बना लें, जो इन खेलों को व्यावसायिक दृष्टि से खेलने का प्रदर्शन करे, तो उस दशा में उसके इस प्रयत्न को श्रम कहा जायेगा।

मोहन—किन्तु अब तो मज़दूरों के श्रम को भी अधिक कष्ट-साध्य न रखने का प्रयत्न किया जा रहा है। कहीं कार्य के घंटे कम किये गये हैं, कहीं बीच में विश्राम का अवसर दिया जा रहा है। यह भी हो रहा है कि पूरे दिन एक ही प्रकार का कार्य न करना पड़े, काम का प्रकार भी बीच में बदल दिया जाय। इस तरह स्पष्ट जान पड़ता है कि श्रम के कष्टों का निवारण करने की इस चेष्टा में मनोरंजन का भाव बढ़ रहा है।

चाचा—किन्तु चाहे जो हो, अगर किसी शारीरिक अथवा मानसिक प्रयत्न का उद्देश्य धनोत्पत्ति है, तो वह श्रम ही माना जायगा। किन्तु यहाँ इस बात को विशेष स्पष्टरूप से बता देने की आवश्यकता है कि श्रम मनुष्य ही करता है।

मोहन—किन्तु मनुष्य के इस प्रयत्न में पशु और यन्त्र भी तो सहायक रहते हैं। हमने माघमेले में एक आदमी के लिए एक चिड़िया को शकुन-विचार में सहायता पहुँचाते देखा है। उन दिनों वह भी दिनभर में दस-बारह आने पैसे पैदा कर लेता था।

चाचा—किन्तु पशु अथवा यन्त्र से काम में सहायता लेने का मुख्य उद्देश्य रहता है थोड़े समय में अधिक काम करना। जिसका अर्थ है धनोत्पत्ति। और चूँकि मनुष्य ने उसे संचित द्रव्य से प्राप्त किया है, अतएव अर्थशास्त्र में उसे श्रम न मानकर पूँजी माना जायगा। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत वही प्रयत्न श्रम माना जाता है, जिसे केवल मनुष्य करता है।

मोहन—किन्तु श्रम भी तो कई प्रकार के होते हैं। कुछ लोगों को मेहनत बिलकुल नहीं पड़ती, बैठे-बैठे दो-चार पत्र लिख दिये, या टाइपराइटर खटका दिया। अध्यापक हुए, तो क्लास में जाकर दो-चार घंटे थोड़ा-बहुत पढ़ा दिया। दूसरी ओर मेहनत-मज़दूरी करनेवालों को आठ-दस घंटे इतना कठिन और कष्ट-साध्य काम करना पड़ता है कि पसीने से नहा जाते हैं।

चाचा—हाँ, तुम्हारा कहना ठीक है। कुछ कामों में मानसिक श्रम की प्रधानता रहती है तो कुछ में शारीरिक श्रम की। अर्थशास्त्र की दृष्टि से मज़दूर और शिल्पी दोनों ही श्रमजीवी माने जाते हैं।

मोहन—लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति कोई काम करना चाहता है और वह उसकी तैयारी करता रहता है। पर कुछ दिनों बाद परिस्थिति बिल्कुल बदल जाती है और उसका सोचा और प्रारम्भिक रीति से किया हुआ सारा प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है। अर्थात् उससे उत्पत्ति का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, तब उस प्रयत्न को क्या आप श्रम नहीं कहेंगे?

चाचा—श्रम तो वह होगा, किन्तु उसे अनुत्पादक श्रम कहेंगे। जिस श्रम में धनोत्पत्ति के कार्य्य में सिद्धि प्राप्त होती है, वह उत्पादक श्रम कहलाता है।

मोहन—लेकिन अकसर देखा गया है कि एक ही प्रकार का श्रम एक के लिए धनोत्पत्ति-कारक और दूसरे के लिए धनोत्पत्ति कम करने वाला हो जाता है। आगरे में ताजमहल देखने जब हम लोग गये थे, तो एक गाइड साथ हो

गया था। उसने हरएक वस्तु परिचय देते हुए दिखलाई थी। हम लोग भी चाव से देख रहे थे। दोनों तरह के लोगों ने प्रयत्न लगभग एक ही-सा किया। पर उसको तो आपने दो आने पैसे दिये थे। इस तरह उसका श्रम उत्पादक रहा।

चाचा—लेकिन तुम्हारा यह उदाहरण ठीक नहीं रहा। गाइड का मुख्य कार्य वस्तुओं को देखना नहीं था, वरन् उनका परिचय देकर हम लोगों से प्रसन्नता-पूर्वक कुछ पुरस्कार पाना था। इसीलिए उसका श्रम उत्पादक हुआ। किन्तु हमने जो कुछ देखा है अगर उसको कहीं लिखने, अथवा बतलाने से हमें कुछ पैसे मिल जायँ, तो उस दिन के संचित ज्ञान के रूप में उसका श्रम हमारे लिए उत्पादक हो जायगा।

मोहन—लेकिन कुछ आदमी एक कुवाँ खोदते हैं। कुवाँ खोदकर वे नित्य अपनी पूरी मज़दूरी ले लेते है। उनका यह श्रम उत्पादक है। किन्तु अन्त में उस कुवे का पानी खारी निकल जाता है। उसे कोई नहीं पीता। जिस चन्दे के धन से उसे खोदवाया गया था, वह व्यर्थ चला जाता है। इस तरह समाज के लिए वह श्रम अनुत्पादक हुआ।

चाचा—हाँ, तुम्हारा कहना ठीक है। कुछ श्रम ऐसे भी हैं, जो व्यक्ति के लिए लाभकर हैं, उत्पादक हैं, किन्तु समाज के लिए हानिकर और अनुत्पादक। जैसे आतिशबाज़ी, मुक़दमेबाज़ी आदि। चोर चोरी करता है। व्यक्ति के लिए उसमें लाभ है, पर समाज के लिए हानि। व्यक्ति के लिए वह उत्पादक है, किन्तु समाज के लिए अनुत्पादक। किन्तु सरकार उसके लिए दंड का विधान रखती है। पर आतिशबाज़ी अथवा मुक़दमेंबाज़ी में समाज की हानि होती है, तो भी सरकार उसमें कोई आपत्ति नहीं करती। उसके लिए वह दंड का कोई विधान नहीं रखती। बल्कि मुक़दमेबाज़ी को तो, सरकार से, परोक्ष रूप से प्रोत्साहन-सा मिलता है। अध्यापक, डाक्टर, वकील, पुरोहित, ज़मीदार या कोई भी श्रमजीवी अपने प्रयत्नों से व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करते हुए समाज को हानि पहुँचा सकते हैं।

किन्तु साथ-ही-साथ यहाँ यह भी समझ लेने की बात है कि इसके विपरीत

उदाहरण भी आख़िरकार मिल ही जाते हैं। आजकल धर्म का ह्रास हो गया है, लोगों में परोकारवृत्ति का अभाव ज़ोर पकड़ रहा है। तो भी कुछ ऐसे महात्मा, उपदेशक और संत लोग अब भी मिल ही जाते हैं, जो अपना स्वार्थ नहीं देखते, जिनके श्रम का उद्देश्य धनोत्पत्ति नहीं होता। वे अपना जीवन जाति, समाज और देश के हितों के लिए अर्पण कर देते हैं। वे कष्ट उठाते हैं, किन्तु उन्हें उससे आनन्द का अनुभव होता है। विशेष स्थितियों में उन्हें भोजन, वस्त्र, सरदी, गरमी, वर्षा तथा द्रव्याभाव का कष्ट भी हो जाता है, किन्तु एक मात्र उनका ध्यान जनता-जनार्दन की सेवा में लगा रहता है। समाज का दुख उनसे देखा नहीं जाता। अतएव अपना दुख वे भूल जाते हैं। यही उनकी तृप्ति होती है—यही उनका आनन्द होता है। ऐसे विशिष्ट महात्मा लोगों का श्रम व्यक्ति के लिए अनुत्पादक और समाज के लिए उत्पादक कहलाता है।

मोहन—तभी तो उत्पादन के अन्य साधनों को देखते हुए श्रम का महत्त्व भी अधिक है।

चाचा—महत्त्व अधिक होते हुए भी श्रम प्रतिक्षण नाशवान है। दूसरी वार वह काम नहीं देता। प्रत्येक वार उसका प्रादुर्भाव नये सिरे से करना ही पड़ता है। भूमि स्थिर और संचित रहती है। पूँजी बरावर धनोत्पत्ति की वृद्धि करती रहती है। उसके प्रति संसार सदा चाव से आँखें गड़ाये रहता है। किन्तु श्रम तो संचित किया नहीं जा सकता। अगर कोई व्यक्ति एक दिन श्रम न करे, तो संभव है, वह दूसरे दिन कुछ अधिक श्रम कर सके, पर अगर दस दिन न करे, तो अगले दस दिनों में बीस दिनों का श्रम वह कभी नहीं कर सकता। किन्तु जब कोई मज़दूर वेकार रहता है, तब भी उसे भोजन तो करना ही पड़ता है, मकान भाड़ा तो देना ही पड़ता है। तभी अपना श्रम हर घड़ी वेचने को उसे तैयार रहना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसे ख़रीदार के आगे झुकना पड़ता है। वह चाहता है कि वेकारी के दिनों के लिए भी कुछ अधिक पा जाय। किन्तु पिछले दिनों की वेकारी, ज़िल्लत, भूख और उससे उत्पन्न दीनता उसका मुख वन्द रखती है। वह मज़दूरी की दर पर डट नहीं सकता, अड़ नहीं सकता। श्रमजीवी लोगों ने जहाँ मिलकर कुछ

संगठन किया है, वहाँ श्रम की दरें वैयक्तिक रूप से निश्चित न होकर सामूहिक रूप से हुई हैं।

मोहन—लेकिन श्रमजीवी प्रायः अशिक्षित होते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना उन्हें स्वीकार नहीं होता। घर के नज़दीक रहने का मोह भी उनमें काफ़ी होता है। इसीलिए वे उन्नति नहीं कर पाते।

चाचा—हाँ, होता असल में यह है कि उपयोगिता-वृद्धि के उन स्थानों पर जहाँ उनकी कमी होती है वहाँ वे जाना नहीं चाहते। इसके प्रतिकूल जहाँ उनकी संख्या अधिक है, किन्तु उपयोगिता कम, वहीं वे रहना चाहते हैं। इसीलिए उन्हें निम्न कोटि की मज़दूरी की दरें स्वीकार करनी पड़ती हैं। लेकिन इन सब बातों के होते हुए कुछ असुविधाएँ तो हमारे सामाजिक संगठन, आचार-विचार के प्रान्तीय भेद, खान-पान और जलवायु की प्रतिकूलता के कारण होती ही हैं। इसके बदले उन्हें जब मिल-मालिकों की व्यावहारिक सहानुभूति भी न मिले, तो वे टिक ही कैसे सकते हैं। कुछ बाधाएँ धार्मिक तथा साम्प्रदायिक भी हैं। पर जीवन-संघर्ष की वृद्धि और एक स्थान से दूसरे स्थानों को आवागमन की सुविधाएँ इस विषय में उनकी कुछ सहायक हो सकती हैं।

मोहन—अपने गाँव में जो लोहार रहता था, वह चाक़ू अच्छे बनाता था। उसके चाक़ुओं की माँग भी यथेष्ट परिमाण में रहती थी। जब वह मर गया, तो उसके लड़के ने लोहारी का और तो सब काम किया, किन्तु चाक़ू बनाना छोड़ दिया। उसका कहना था कि बाबू को इसका शौक़ था। उन्हें इसमें सफलता भी मिली थी। पैसे अगर उन्हें कम भी मिलते थे, तो नाम होने के कारण वे उसे सहन कर लेते थे। लेकिन मैं क्यों ऐसा करूँ। जब लोगों को मेहनत भर भी देना स्वीकार नहीं है, तो मैं क्यों यह झगड़ा पालूँ।

चाचा—उसने श्रम की उपयोगिता के इस मर्म को नहीं समझा कि उसके पिता का नाम होने में दिन कितने लगे थे। नाम तो धीरे-धीरे होता है। फिर जब एक बार हो जाता है, तो सदियों तक चलता है। उसे उससे लाभ उठाने का अवसर तो अब उसके जीवन में आया था, जिसे उसने महत्व न देकर त्याग दिया। बहुधा श्रमजीवी लोग जब अपना पैतृक

व्यवसाय त्याग देते हैं, तो वे श्रम की परोक्ष उपयोगिता-वृद्धि को हानि ही पहुँचाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि श्रम में लगा हुआ रुपया कभी-कभी बहुत देर में वसूल होता है। फिर ऐसे व्यक्तियों को नये व्यवसाय सीखने में जो श्रम तथा पूँजी ख़र्च करनी पड़ती है, वह प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की हानि होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से समाज की हानि होती है।

इधर चाचा-भतीजे कमरे में बैठे हुए ये बातें कर ही रहे थे कि उधर सड़क पर वही लड़का आ निकला। तब मोहन ने उसे बुलाकर चाचा से उसका परिचय कराया। तदनन्तर वह बोला—रायसाहब ने उस दिन मुझे पाँच रुपये इनाम दिये थे। क्या इस शहर में और भी कोई ऐसा धनी-मानी व्यक्ति है, जो कुछ दे सके?

उसकी यह बात सुनकर मोहन चाचा की ओर देखने लगा।

कौन कह सकता है कि वह यह नहीं सोच रहा था कि अब उसका यह प्रयत्न केवल मनोरंजन न होकर श्रम हो गया है?

छब्बीसवाँ अध्याय

जन-संख्या वृद्धि

रात का समय है। दस बजने वाला है। मोहन खाना खाकर चारपाई पर जा ही रहा था कि चाचा ने पूछा—गाँव में रामाधीन शुक्ल का क्या हाल-चाल है ?

मोहन—हाल-चाल अच्छा ही है। अब परिवार बढ़ गया है। परिवार बढ़ने से खर्च का बढ़ना स्वाभाविक ही है। खेतों में पैदावारी जितनी पहले होती थी, अब उतनी मुश्किल से हो पाती है। इसका यह फल हुआ है कि घर में रात-दिन छोटी-छोटी बातों पर पहले औरतों में और फिर आदमियों में भी कहा-सुनी हो जाती है। इधर कई महीने से बड़े लड़के को क्षय हो गया है। देहात में चिकित्सा का प्रबन्ध जैसा होता है, आपसे छिपा नहीं है। ईश्वर ही मालिक है। घर में वह एक ही मेहनती और कमाऊ लड़का है। उसी की दम से किसी तरह गृहस्थी सम्हल रही है। अगर उसे कुछ हो गया, तो उनका सारा खेल बिगड़ जायगा।

दोनों चारपाइयों पर बैठ गये।

चाचा ने कहा—गाँव में एक रामाधीन क्यों, और भी तो कुछ ऐसे लोग होंगे, जिनका परिवार बढ़ गया होगा और जो पहले की अपेक्षा ख़राब हालत में होंगे।

मोहन—आप यह बात कैसे कह सके, मुझे आश्चर्य हो रहा है। सच-मुच बड़ा ख़राब समय आ गया है। मेरे देखते-देखते कई परिवारों का यही हाल हुआ है। पहले बाल-बच्चे बढ़ते हैं। फिर ग़रीबी आती है। और

कभी-कभी जो किसी बीमारी का झोंका आ गया, तो बच्चे ही नहीं, गिने-चुने लोग तक चल बसते हैं। यों मरना-जीना तो लगा ही रहता है। अगर बहुत छोटे बच्चे अथवा बुड्ढे आदमी काम आयें, तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। किन्तु उस समय ऐसी बात नहीं होती। ईश्वर की इच्छा ही कुछ ऐसी है। यही लाचार होकर कहना पड़ता है।

चाचा—योरप में मालथस नामक एक बड़ा अर्थशास्त्री हो गया है। उसका कहना था कि जब जनता बढ़ने लगती है, तो या तो ग़रीबी बढ़ती है, अथवा ईश्वरीय विधान द्वारा जन-संख्या की अवनति होती है। तरह-तरह की बीमारियाँ फैलती हैं और बालक अधिक संख्या में मरने लगते हैं।

चाचा की बात सुनकर मोहन हक्का-बक्का रह गया। बोला—अब ग़ज़ब हो गया। अर्थशास्त्र से इन बातों का क्या मतलब? बड़ी अजीब बात जान पड़ती है!

चाचा—आश्चर्य्य की इसमें कोई बात नहीं है। उत्पत्ति के साधनों में श्रम का महत्त्व कितना है, यह तुम्हें मालूम ही है। और श्रम की वृद्धि दो कारणों से हो सकती है। एक तो श्रमिक समुदाय अधिक योग्य हो, दूसरे जन-संख्या की वृद्धि की जाय। अतएव श्रम के साथ (अर्थात् अर्थशास्त्र के साथ) जन-संख्या का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध होना सर्वथा स्वाभाविक है।

मोहन—हाँ, इस तरह से तो जन-संख्या-वृद्धि वास्तव में अर्थशास्त्र का ही विषय हो जाती है। अच्छा तो मालथस साहब ने किस आधार पर अपने इस मत को प्रकट किया है?

चाचा—उनका कहना था कि अगर कोई विशेष विघ्न न उपस्थित हो, तो देश की जन-संख्या उस परिमाण की अपेक्षा अधिक बढ़ेगी, जिस परिमाण में वहाँ खाद्य-पदार्थों की वृद्धि हुई है। इसके लिए उन्होंने "जन-संख्या का सिद्धान्त" विषय पर एक पुस्तक लिखी थी।* उसमें उन्होंने यह सिद्ध किया है कि जन-संख्या की वृद्धि रेखागणित के अनुसार होती है। अर्थात् १ से २, २ से ४, ४ से ८ अथवा १ से ३, ३ से ९, ९ से २७।

---

*Essay on the Principle of Population

यह सुनकर मोहन हँसने लगा। बोला—वाह! ये लोग भी विचित्र खोपड़ी के होते हैं! क्या बात खोज निकाली है! सचमुच मैं इन लोगों को उस्ताद मानता हूँ।

चाचा—इतना ही नहीं। उसका कहना था कि खाद्य-पदार्थों की वृद्धि गणित के हिसाब से होती है। जैसे—१,२,३,४,५,६,७,८,९,१० अथवा १,३ ५,७,९,११,१३ इत्यादि।

मोहन—वाह-वा-वा! कमाल है चाचा जी!

चाचा—और इसी आधार से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जब किसी देश की जन-संख्या के अनुकूल खाद्य-सामग्री उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए वह कम उत्पन्न होती है, तो वहाँ मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है। अन्त में खाद्य-सामग्री के परिमाण के अनुसार जन-संख्या फिर जहाँ-की-तहाँ पहुँच जाती है।

मोहन—मुझे तो मालथस साहब का यह कथन बिल्कुल ठीक जान पड़ता है। आपकी क्या राय है?

चाचा—पहले पूरी बातें तो सुन लो।

हाँ, तो उनका कहना है कि जन-संख्या की वृद्धि पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध लगते हैं, तब उसका नियमन होता है। प्रथम प्रतिबन्ध है नैसर्गिक। और इसे प्रकृति लगाती है। दुर्भिक्ष इसी के द्वारा पड़ते हैं। युद्ध करने की प्रवृत्तियाँ समाज तथा राष्ट्रों में इसी के कारण भड़कती और जन-संहार करती हैं। बच्चों की मौतें, इन्फ्लुएंज़ा, हैज़ा, प्लेग आदि बीमारियाँ इसी कारण होती हैं। और इन विविध आकस्मिक आपत्तियों के कारण लाखों की संख्या में ऐसी मृत्युएँ होती हैं, जो स्वाभाविक नहीं कही जा सकतीं। अर्थात् उनके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे अकारण हुई हैं, मनुष्यों ने अपनी पूरी ज़िन्दगी पाकर भी उसे प्राप्त नहीं किया है।

दूसरा प्रतिबन्ध कृत्रिम उपायों से सम्बन्ध रखता है। बड़ी अवस्था में विवाह करना, संयम-पूर्वक रहना और ब्रह्मचर्य्य पूर्वक जीवन व्यतीत करना।

उनका कथन है कि जहाँ जन्म-संख्या कम होती है, वहाँ मृत्यु-संख्या भी कम होती है। अतएव अगर किसी देश की मृत्यु-संख्या को कम करना है,

तो वहाँ की जन्म-संख्या को पहले कम करना पड़ेगा। इसके लिए जनता को अपने ऊपर ऐसे प्रतिबन्ध लगाने चाहिए जिससे सन्तान एक अवधि तक उत्पन्न न हो। इससे जन्म-संख्या की वृद्धि से सम्भव होनेवाले कष्टों से आपही आप बचाव हो जायेगा। किन्तु अगर इन उपायों से जन्म-संख्या वृद्धि को घटाने की चेष्टा किसी देश में नहीं होती, तो दुर्भिक्ष, महामारी और युद्ध होना वहाँ के लिए अनिवार्य्य है। इन्हें कोई रोक नहीं सकता।

इसी क्षण मोहन बोल उठा—मैंने पहले ही अपना मत दे दिया था। और मैं अब भी उसी पर स्थिर हूँ। अब आप अपनी राय दीजिये।

चाचा—बात यह है कि जो देश सम्पन्न और उन्नत हैं, वहाँ जो जन-संख्या की वृद्धि होती है, वह धनोत्पत्ति के औसत के अनुसार नहीं होती। इसलिए वहाँ जन-संख्या की वृद्धि होने का कोई भय नहीं है। किन्तु कुछ देशों में जन-संख्या की वृद्धि के लिए नैसर्गिक और कृत्रिम दोनों प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हैं। इस कारण उन सभ्य देशों पर मालथस के इस सिद्धान्त का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

अब भारत और चीन आदि देशों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि इन देशों में जनता के रहन-सहन का दर्जा निम्न कोटि का है। बस्तियाँ सघन हैं और कृषि-जन्य तथा अन्य खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति पर 'क्रमागत-ह्रास नियम' का दौर-दौरा है। उद्योग-धंधों की भी विशेष उन्नति नहीं देख पड़ रही है। पर्य्याप्त शिक्षा के अभाव के कारण जनता में जन्म-संख्या की वृद्धि को रोकनेवाले मनुष्य-कृत उपायों के अवलम्बन का भी प्रचार नहीं है। इसीलिए जहाँ एक ओर जन्म-संख्या की वृद्धि हुई है, तो दूसरी ओर उसे रोकने के लिए प्रकृति ने दुर्भिक्ष, महामारी तथा अन्य आकस्मिक आपत्तियों का अवलम्ब भी ग्रहण किया है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि इस समय तो समस्त संसार में ऐसी परिस्थिति नहीं उत्पन्न हुई कि जन्म-संख्या को देखते हुए कृषि-जन्य अथवा अन्य प्रकार के खाद्य-पदार्थों की उत्पत्ति में कमी हो। क्योंकि यदि एक स्थान पर कमी हुई भी है, तो दूसरे स्थान की वृद्धि से उसकी पूर्ति हो गयी है। किन्तु भविष्य के लिए यह एक विचारणीय प्रश्न अवश्य है। क्योंकि योरप में इस

समय जो युद्ध चल रहा है, संसारव्यापी शान्ति और सुख की भित्तियाँ इसके द्वारा एक वार कम्पित हो उठी हैं। राष्ट्रों का परस्पर सौहार्द नष्ट हो गया है। और आश्चर्य्य नहीं कि यातायात के साधनों के सुलभ रहने पर भी एक समय ऐसा आजाय, जब जन्म-संख्या-वृद्धि की ओर ध्यान न देनेवाले देश, मालथस के सिद्धान्तानुसार, प्रकृति द्वारा प्राप्त होनेवाली आपत्तियों के शिकार होते रहें, जैसा कि इस समय प्रत्यक्ष रूप से देख पड़ रहा है।

मोहन—पर यह तो हुई जगवीती। अब आपवीती कहिये। मेरा मतलब यह है कि अपने देश की स्थिति इस समय, इस सम्बन्ध में, आपको कैसी जान पड़ती है?

चाचा—अपना देश गर्म है। कृषि ही यहाँ का एकमात्र धन्धा है। साधारण जनता अशिक्षित है। अर्ध-पुरातन कुप्रथाओं और रूढ़ियों का प्रचलन उनमें अभी तक बना हुआ है। एक ओर कन्या का विवाह यदि अनिवार्य्य समझा जाता है तो दूसरी ओर कहा जाता है कि पुत्र-लाभ के विना गति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। सर्द देशों की अपेक्षा, अपने इस गर्म देश में, सन्तानोत्पत्ति की योग्यता भी जल्दी हो जाती है। इन वातों का दुष्परिणाम—जन्म-संख्या की वृद्धि—यहाँ अनिवार्य्य है।

मोहन—पर हमारे देश में जनन-शक्ति की सम्पन्नता जहाँ जल्दी होती है, वहाँ वह जल्दी ह्रास को भी प्राप्त हो जाती है।

चाचा—इसके सिवा हमारे यहाँ विधवा-विवाह अभी प्रचलित नहीं हो पाया है। जनता में पुरातन संस्कारों का प्रभाव अभी तक क़ायम है। और एक तरह से जन-संख्या की वृद्धि में देश-काल-परिस्थिति और संस्कार-जन्य निषेध एक प्रतिवन्ध है। तो भी हमारे देश में जन-संख्या की वृद्धि हो रही है। पर सर्द देशों में विवाह वड़ी उम्र में होते हैं। वहाँ जनन-शक्ति भी गर्म देशों की अपेक्षा अधिक काल तक रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि वहाँ की जन्म-संस्था स्थिर रहती है। जो वालक जन्म ग्रहण करते हैं, वे मरते बहुत कम हैं। फिर वहाँ स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा और स्वाभाविक विकास के साधन भी सुलभ हैं। वे सभ्य, धनी, व्यवसायी और ऊँचे दर्जे के रहन-सहन में हमारे

देश की अपेक्षा बहुत आगे हैं। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि जन्म-संख्या की अपेक्षा वहाँ पर मृत्यु-संख्या और भी कम होती है। तात्पर्य यह कि जहाँ जन्म-संख्या में कमी होगी, वहां मृत्यु-संख्या में, अनुपात से, और भी कमी होगी। यह राष्ट्र का एक बहुत बड़ा लाभ है। एक ओर इससे अपव्यय नहीं होने पाता और दूसरी ओर नारी-शक्ति की क्षीणता और उसके कष्टों का परिमाण कम होने से जन-स्वास्थ्य में जो वृद्धि होती है, वह देश की उन्नति में बहुत सहायक होती है।

मोहन—देश की स्वतंत्रता भी जन-संख्या-वृद्धि पर असर डालती होगी।

चाचा—हाँ, देश की राजनैतिक परिस्थिति का प्रभाव इस वृद्धि पर थोड़ा-बहुत तो पड़ता ही है। देश यदि स्वाधीन होगा, तो जनता के लिए आजीविका के साधन पराधीन देशों की अपेक्षा अधिक सुलभ होंगे। शिक्षा की उन्नति, स्वास्थ्य रक्षा और चिकित्सा के साधन भी वहाँ पर्याप्त मात्रा में हो सकते हैं। जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी होने का असर उसके रहन-सहन पर पड़ता ही है। इन सब बातों का फल यह होता है कि वहाँ जन-संख्या का अनुपात पराधीन देशों की अपेक्षा कम होता है। सरकार अगर चाहे, तो देशोन्नति की दृष्टि से, जन-संख्या की वृद्धि पर विविध करों द्वारा हतोत्साह करके अप्रत्यक्ष रूप से आवश्यक प्रतिबन्ध भी लगा सकती है।

इसके सिवा कभी राजनैतिक आन्दोलन शुरू हो जाते हैं, तो लाखों की संख्या में जनता जेल में रहती है। कहीं-कहीं उपद्रव होते हैं, तो स्वतंत्रता के लिए राष्ट्र-कर्मी अपना जीवन भी उत्सर्ग कर देते हैं। स्त्रियाँ भी जेल जाती हैं। ऐसे अवसरों पर जनन की न तो विशेष सुविधाएँ रहती हैं, न ऐसे समय सस्ते भावावेगों की गुंजाइश ही अधिक रहती है। इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने की परिस्थिति में स्वभावतः जन-संख्या की वृद्धि रुक जाती है।

मोहन—परन्तु देश की जन-संख्या की वृद्धि को रोकना क्या सर्वथा लाभदायक ही होता है?

चाचा—इस विषय में सब से अधिक विचारणीय बात यह है कि अधिक सन्तान पैदा करके मृत्यु-संख्या की वृद्धि करने की अपेक्षा राष्ट्र का हित इसमें

कहीं अधिक है कि सन्तान चाहे कम पैदा हों, पर जो हों, वे नीरोग, स्वस्थ शिक्षित और वीर हों। इसके लिए, हमें नाशकारी अर्ध-पुरातन परम्पराओं को, दमन करना चाहिए। बाल-विवाह को रोकने की ओर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है। हमारे यहाँ विशेष रूप से स्त्रियाँ सन्तान-सुख के लिए बहुत लालायित रहती हैं। उन्हें इतना शिक्षित बनाने की आवश्यकता है कि वे स्वास्थ्य-रक्षा की ओर विशेष ध्यान दें और संख्या में चाहे कम प्रकार में हृष्ट-पुष्ट तथा वीर सन्तानों की जननी बनें। हमारे यहाँ धनी-मानी समुदाय में बहु विवाह की प्रथा प्रचलित है। परन्तु संसार के सभ्य देशों के सम्पन्न पुरुष अपने रहन-सहन का दर्जा उन्नत रखकर स्वच्छन्द जीवन बिताते और व्यवसाय, शिल्प तथा कला-कौशल की ओर ध्यान देकर राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाने में अग्रसर होते हैं। उन्नत देशों में जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के लिए राजकीय प्रतिबन्धों की भी शरण ली गयी है। वहाँ पर क़ानून द्वारा उन लोगों को, जो मानसिक तथा शारीरिक महाव्याधियों के शिकार हैं और जिनके सम्बन्ध में यह भय रहा है कि उनकी सन्तान अत्यन्त कमज़ोर तथा रोगी होगी, सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य बना दिया गया है। कहा जाता है कि जर्मनी में यह प्रयोग सब से पहले किया गया था। बहुतेरे आदमियों की परीक्षा की गयी और जो लोग इस दृष्टि से योग्य, स्वस्थ और नीरोग सन्तान पैदा करने में अयोग्य सिद्ध हुए, उन्हें सर्वथा नपुंसक कर दिया गया।

पर यह प्रयोग जहाँ एक ओर देश की आर्थिक और नैतिक हानि की रक्षा के लिए उचित कहा गया है, वहाँ दूसरी ओर कुछ विद्वानों का मत है कि इस तरह इजन-संख्या की वृद्धि को कृत्रिम प्रतिबन्धों से रोकना समाज के लिए कम हानिकर भी नहीं है।

आश्चर्य्य से उछलकर मोहन बोल उठा—अच्छा! यह बात वे किस आधार से कह पाये?

चाचा—उनका कहना यह है कि स्वच्छन्द जीवन बिताने की लालसा का यह दुष्परिणाम होना सर्वथा स्वाभाविक है कि लोग बड़ी उम्र में, उस समय विवाह करें, जब वे सन्तान के लिए अधीर हो जायँ। स्वभावतः तब उनके जो बच्चे होंगे, उनका लालन-पालन इस तरह किया जायगा कि वे

बहुत सुकुमार होंगे। उनमें उचित साहस और धनोत्पादन की योग्यता भी कम होगी। इसका प्रभाव साधारण जनता के लिए अहितकर होगा। जन्म-संख्या की वृद्धि को कृत्रिम प्रतिबंधों द्वारा रोकने से व्यभिचार की वृद्धि होने की भी संभावना रहती है।

इसके सिवा राष्ट्र की रक्षा के लिए भी एक भीषण समस्या कभी न कभी अवश्य उपस्थित हो सकती है। यदि जन-संख्या की वृद्धि यकायक रुक जाय, तो सैनिक शक्ति की वृद्धि में बहुत बड़ी अड़चन उपस्थित हो जायगी। एक ओर देश विलास-प्रिय हो जायगा, दूसरी ओर वह सैनिक शक्ति में पूर्ण समर्थ न होने के कारण दूसरे देशों का सामना भी न कर सकेगा।

मोहन—हाँ, इस दृष्टि की ओर इस समय मेरा ध्यान ही नहीं था।

चाचा—पर जन-संख्या-वृद्धि का एक उपाय और है। वह है—आवास-प्रवास। अर्थात् देश से बाहर जाकर बसनेवाली संख्या से उन लोगों की संख्या का अधिक होना, जो विदेशों से आकर अपने देश में बस जाते हैं। स्वभावतः आदमी अपने ही देश में अपने ही बन्धु-बान्धवों के सामने रहकर उन्नति करना चाहता है। पर कभी केवल शिक्षा और भ्रमण के लिए, और कभी द्रव्योपार्जन के लिए वह विदेश भी जाता है। इन्हीं लोगों में कुछ लोग वहाँ जाकर पहले कुछ काल के लिए और फिर सदा के लिए बस जाते हैं। कुछ लोग धर्म-प्रचार और देश की राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने के उद्देश्य से भी जाते हैं। इनमें से धर्म-प्रचार करनेवालों को तो वहाँ बस जाना भी पड़ता है। इसका फल यह होता है कि वे स्वदेश छोड़कर विदेश की जन-संख्या बढ़ाने लगते हैं। ऐसी स्थिति में अगर बाहर से आकर बसनेवाले व्यक्ति, देश से बाहर जानेवालों की संख्या से अधिक हों, तो जन-संख्या की वृद्धि का क्रम भंग नहीं होगा। परन्तु तब एक असुविधा और हो सकती है। जो लोग बाहर से आकर बसते हैं, उनके स्वार्थ उस देश के मूल निवासियों से भिन्न होते हैं। प्रारम्भ में वे लोग अपना स्थान जमाने के उद्देश्य से कुछ दबे रहते हैं। पर कालान्तर में ज्योंही वे शक्तिमान हो जाते हैं, त्योंही उस देश की मूल जनता की उन्नति और धनोत्पत्ति में बाधक सिद्ध होते हैं।

मोहन—जान पड़ता है, इसी भय की आशंका से कुछ देश बाहरवालों

के लिए प्रवेश-निषेध करने पर तत्पर हो गये हैं। किन्तु दोनों पक्ष की बातों को तो आपने बतला दिया। पर अब यह जानना मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि आख़िरकार जन-संख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में आर्थिक आदर्श क्या है।

चाचा—तुम्हारा मतलब शायद यह है कि देश में आर्थिक दृष्टि से कितनी जन-संख्या होनी चाहिये।

मोहन—हाँ।

चाचा—बात यह है कि जन-संख्या कम होने पर भी वैज्ञानिक प्रयोगों और आविष्कारों के कारण धनोत्पत्ति की मात्रा बढ़ती जा सकती है। दूसरी ओर वह भूकम्प तथा बाढ़ से नष्ट भी हो सकती है। इसलिए निश्चित रूप से सदा के लिए तो यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक देश की इतनी जन-संख्या होनी चाहिए। किन्तु साधारण रूप से इतना कहा जा सकता है कि एक निश्चित समय और निश्चित परिस्थिति में किसी देश की जन-संख्या उतनी होनी चाहिए कि देशवासियों की प्रतिव्यक्ति औसतआय अधिक-से-अधिक हो सके।

मोहन—ज़रा और स्पष्ट करके कहिए।

चाचा—अर्थात् जिस हद तक यह ज्ञात रहे कि जन-संख्या बढ़ने से प्रति-व्यक्ति औसतआय बढ़ती रहेगी, उस हद तक जन-संख्या बढ़ने देना उचित है।

मोहन—मतलब यह कि जब जन-संख्या इतनी अधिक हो जाय कि लोगों को अपनी आर्थिक उन्नति करने में बाधा प्रतीत हो, और स्पष्ट जान पड़ने लगे कि अब आगे ख़तरा है, तब लोगों को चाहिए कि वे धनोत्पत्ति की ही ओर विशेष रूप से ध्यान दें और जन-संख्या की वृद्धि को तत्काल रोक दें।

चाचा—हाँ, अब तुम समझ गये।

मोहन—अच्छा तो, अब जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?

चाचा—अ—जनता में इस बात के ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार होने की आवश्यकता है कि रहन-सहन का दर्जा उन्नत बनाने, साफ़ मकानों में रहने, उत्तम भोजन पाने, स्वच्छ वस्त्र पहनने और अपनी सन्तान को शिक्षित, सभ्य, वीर और साहसी बनाने की ओर विशेष ध्यान दें।

ब—बालक-बालिकाओं को अपनी संस्कृति के अनुसार ऐसी उच्च ि
देने का आयोजन किया जाय जिससे वयस्क होने पर वे अपने उत्तरदायित
परिचित हों। वे संयमी और दूरदर्शी बनें और अधिक संतान न पैदा
कुछ थोड़ी संतान पैदा करें, ताकि वे नीरोग, स्वस्थ, साहसी और वीर हों

स—बालक-बालिकाओं के विवाह की आयु बढ़ा दी जाय। साथ ही
निश्चित आयु के पश्चात् विवाह करना कानूनन अवैध कर दिया जाय।

द—ऐसे कमज़ोर, पुश्तैनी रोगी, अत्यन्त दीन, पागल तथा शारीरिक
मानसिक विकार-ग्रस्त लोगों का विवाह क़ानून से वर्जित कर दिया जाय कि
संतान स्वस्थ तथा योग्य होने की कम सम्भावना हो।

इ—उन्हीं बाहिरी लोगों को अपने देश में रहने और बसने की अ
दी जाय, जो इसी देश की धनोत्पत्ति में अपना हित अनुभव करने को
हों और जिनकी योग्यता तथा शक्ति से हमारे देश की श्री-समृद्धि की
की सम्भावना हो।

उस दिन यह वार्तालाप यहीं समाप्त हो गया। किन्तु दूसरे दिन आये
पत्र द्वारा मोहन ने अपने चाचा को बतलाया कि रामाधीन का जो
लड़का बीमार था, उसका स्वर्गवास हो गया!
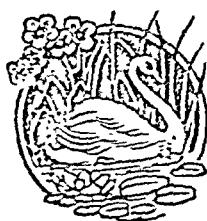
सत्ताईसवाँ अध्याय

श्रम की कुशलता

गदाधर एक मल्लाह है। गंगा के किनारे उसकी नाव पड़ी रहती है। वह उस पर यात्रियों की प्रतीक्षा में सवेरे से तीसरे पहर तक बैठा रहता है। जब कोई यात्री आकर सैर करना चाहता है तो उससे अपनी मेहनत ले करके वह उसे इच्छानुसार गङ्गा की धारा पर घुमाता है। आज उसी की नाव पर बैठकर मोहन और उसके चाचा, दोनों गंगा की सैर करने निकले हैं।

साढ़े पाँच बजने का समय है। इरादा है कि दोनों कम-से-कम एक घंटा घूमेंगे और संध्या होते-होते घर लौट आयेंगे।

गदाधर दोनों हाथों से डांड़ खे रहा है। घाट से उत्तर की ओर जाते हुए अभी थोड़ी देर हुई होगी, किन्तु गदाधर के मस्तक, गले, कंधे और बाहुओं से पसीना छूट रहा है। मोहन ने ज्योंही उसे इस दशा में देखा, त्योंही उसने कह दिया—चाचा, मल्लाह को वास्तव में श्रम पड़ रहा है। देखिये, कितनी जल्दी पसीना आ गया।

चाचा बोले—हाँ, श्रम तो फिर पड़ता ही है। पैसा भी तो श्रम से ही मिलता है। श्रम न पड़े, तो लोग पैसा क्यों दें? किन्तु अर्थशास्त्र में इस प्रकार के श्रम को साधारण श्रम माना गया है।

मोहन—अच्छा, तो कोई श्रम अर्थशास्त्र में असाधारण भी माना जाता होगा!

चाचा—प्रारम्भ में श्रम के जो दो भाग किये गये हैं। इनमें पहला साधारण श्रम है, दूसरा कुशल श्रम। जिस श्रम के करने में किसी विशेष शिक्षा अथवा अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसे साधारण श्रम और

जिस प्रकार के श्रम से कोई ऐसा काम किया जाता है, जिसमें विशेष योग्यता आवश्यक होती है, उसे कुशल श्रम कहते हैं।

मोहन—आपका अभिप्राय शायद यह है कि जिस श्रम में मानसिक शक्तियाँ अधिक मात्रा में लगती हैं, उसे हम कुशल श्रम कह सकते हैं। जैसे मोटर चलाने वाला ड्राइवर। उसे भीड़ में से मोटर निकालनी पड़ती है। यन्त्रों पर अधिकार रखने के साथ-साथ उसे सड़क की स्थिति की ओर भी ध्यान रखना पड़ता है।

चाचा—किसी हद तक तुम्हारा अनुमान सही है। किन्तु यहाँ साधारण और कुशल दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। इनका कोई निश्चित अर्थ नहीं है। देश और काल का भेद साधारण श्रम को कुशल और कुशल श्रम को साधारण बना देता है। अपने देश के मामूली नगरों और क़स्बों में मोटर-ड्राइवर को लोग कुशल श्रमजीवी कहते हैं। किन्तु कलकत्ता, बम्बई जैसे विशाल नगरों तथा पश्चिमी देशों में यह कार्य साधारण श्रम की श्रेणी में माना जायगा।

मोहन—किन्तु फिर भी श्रम की कुशलता का कुछ-न-कुछ आधार तो होगा ही।

चाचा—यह बड़ा पेचीदा प्रश्न है। एक ही देश, जाति, स्थान तथा घर तक के निवासियों में, कार्य करने की कुशलता के सम्बन्ध में, प्रायः बहुत भेद पाया जाता है। कोई अधिक कुशल होता है, कोई कम। पर ऐसा क्यों होता है, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह प्रतिभा और गुण बहुत कुछ प्रकृति-दत्त होता है। फिर भी साधारण रूप से यही कहा जा सकता है कि यह कार्य-कुशलता श्रमजीवियों के शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक तथा नैतिक गुणों के अनुसार होती है। इसके सिवा जलवायु का भी थोड़ा-बहुत सम्बन्ध रहता है।

मोहन—जलवायु का भी कार्य-कुशलता से सम्बन्ध होता है, यह अजीब बात आपने बतलाई।

चाचा—बात यह है कि एक तरह से यह मान लिया गया है कि अधिक गर्मी या सर्दी जिन देशों में पड़ती है, वहाँ कार्य कम होता है। इस दृष्टि

से सम शीतोष्ण जलवायु अधिक श्रेयस्कर मानी जाती है। पाश्चात्य लेखक मानते हैं कि गर्म जलवायु वाले देशों में शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विशेषताओं का ह्रास हो जाता है और वहाँ के श्रमजीवियों की कार्य-कुशलता साधारणतया मन्द रहती है। किन्तु यह बात अतिरंजन से पूर्ण है। गर्म देशों के कितने ही निवासी ऐसे कठोर परिश्रमी होते हैं कि समशीतोष्ण जलवायु के व्यक्ति कभी उतना काम कर नहीं सकते। बात यह है कि कोई व्यक्ति कितना काम कर सकता है, यह बहुत कुछ उस व्यक्ति की प्रकृति, उसके अभ्यास और उस स्थान के वातावरण पर निर्भर करता है।

मोहन—जलवायु की दृष्टि से नगरों की अपेक्षा ग्राम फिर भी अच्छे होते हैं।

चाचा—हाँ, तुम्हारा कहना ठीक है। किन्तु आजकल 'ग्राम' शब्द से हमारा ध्यान देहात की उन गंदी गलियों की ओर जा पहुँचता है, जहाँ न तो सफ़ाई देख पड़ती है, न अच्छे, साफ़-सुथरे और हवादार मकान मिलते हैं। गलियों में जिस स्थान से लोग आते-जाते हैं, प्रायः वह स्थान भी बदबूदार नाली के कीचड़ से भरा मिलता है। घरों के पास ही लोग कूड़ा डालते हैं। पशुओं के बाँधने की जगहें विशेष रूप से बहुत गंदी होती हैं। इस कारण सच पूछो तो हमारे ग्रामों का जलवायु भी उतना उत्तम नहीं हो सका है, जितना होना चाहिए। किन्तु फिर भी जो ग्राम बड़े-बड़े नगरों के समीप हैं, वहाँ की जलवायु वास्तव में उत्तम है। सम्पन्न लोग प्रायः वहीं अपने सुन्दर मकान बनवाकर रहते हैं। यहाँ तक कि अनेक श्रमजीवी लोग भी काम शहर में करते हैं, किन्तु रहते ग्राम में हैं। और इस कारण उनमें कार्य-कुशलता उचित मात्रा में रहती है। किन्तु जलवायु के सिवा जातीय रहन-सहन और स्वास्थ्य का भी कार्य-कुशलता से विशेष सम्बन्ध रहता है।

मोहन—अच्छा, जातीय रहन-सहन भी कार्य-कुशलता में सहायक हो सकता है!

चाचा—प्रायः हम देखते हैं कि किसी एक जाति का श्रमजीवी, दूसरी जाति के श्रमजीवी की अपेक्षा कुछ कार्य-कुशलता अधिक रखता है। मुख्यरूप इसका कारण जान पड़ता है उसकी वह प्रतिभा और परिश्रमशीलता है, जो उसके पूर्वजों में स्वास्थ्य और योग्यता के कारण रहती आयी है। इसके

साथ-साथ रुचिकर पौष्टिक भोजन तथा रहन-सहन का भी इसमें बहुत कुछ भाग रहता है। अकसर देखा गया है कि जो लोग दरिद्र हैं, जिन्हें भरपेट भोजन नहीं मिला, गंदे स्थानों में रहने के कारण जिनका स्वास्थ्य नष्ट हो चुका है, उनकी सन्तान न तो परिश्रमी ही उतनी होती है, न योग्य, जितनी उन लोगों की, जिन्हें समय पर पौष्टिक भोजन मिला है और जो स्वास्थ्यकर स्थान में रहे हैं। शीतप्रधान, उष्णप्रधान तथा समशीतोष्ण प्रधान प्रदेशों के उन निवासियों को, जो शारीरिक अथवा मानसिक श्रम करते है, सच पूछो तो भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजनों (खाद्य-पदार्थों) के ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। हमारे ही देश में अधिकांश श्रमजीवी लोग बिना सोचे-समझे, केवल रसना की तृप्ति के लिए ऐसे गरम मिर्च-मसाले से पूर्ण शाक, दाल तथा चटनी खाते हैं, जो उनके स्वास्थ्य के लिए सर्वथा हानिकारक होती है। अनेक मिठाइयाँ भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं। असल में भोजन के सम्बन्ध में हमारा मुख्य ध्यान इस बात की ओर रहना चाहिए कि वह हमारे शरीर और मस्तिष्क की शक्ति के लिए पुष्टिकारक हो, जो जल्दी हज़म हो जाय और सब प्रकार से हमारी कार्य-गति की वृद्धि में सहायक हो। केवल भोजन ही नहीं, वस्त्रों के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि फ़ैशन और प्रदर्शन की ओर न होकर शरीर-रक्षा, सभ्यता और स्वच्छता की ओर रहनी चाहिए।

मोहन—किन्तु जब तक लोग शिक्षित नहीं होते, तब तक वे इन बातों की ओर ध्यान देंगे, इसमें सन्देह है।

चाचा—हाँ, तुम्हारा कहना ठीक ही है। धनोत्पत्ति में श्रमजीवी की मानसिक क्षमता बड़ी सहायक होती है। यों तो थोड़ी बहुत मानसिक योग्यता सभी कार्यों के लिए आवश्यक होती है। परन्तु शिल्प तथा व्यवसाय की उन्नति तो इसके बिना सम्भव नहीं है। बात यह है कि इन कार्यक्षेत्र ही ऐसा है कि इसमें विचार करने, याद रखने और अनेक समकक्ष अवस्थाओं में से एक को चुनकर निर्णय देने की आवश्यकता इसमें विशेष रूप से पड़ा करती है। और जब तक श्रमिक को यथेष्ट शिक्षा नहीं मिली रहती, तब तक उसमें इन गुणों का उदय होना असम्भव है।

परन्तु शिक्षा भी दो प्रकार की होती है। एक साधारण—दूसरी विशेष। मानसिक शक्तियों के विकास और नैतिक गुणों की वृद्धि के लिए साधारण शिक्षा तो सब के लिए आवश्यक है। किन्तु श्रमिक के कार्य-क्षेत्र को देखते हुए उस विषय की विशेष शिक्षा का प्रबन्ध होना तो और भी अधिक आवश्यक है। किसान, व्यापारी, कारीगर, शिल्प-कार तथा लेखक आदि सब की शिक्षा का प्रबन्ध जब तक पृथक्-पृथक् और समुचित रूप से न होगा, तब तक धनोत्पत्ति-सम्बन्धी कार्य-कुशलता की वृद्धि होना अत्यन्त कठिन है। इस समय प्रत्येक सभ्य देश में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य है। किन्तु कितने खेद की बात है कि इस समय भी हमारे देश का अधिकांश भाग इस आवश्यकीय लाभ से वंचित है।

इसके सिवा धनोत्पत्ति के लिए श्रमिकों में नैतिक गुण होने की भी बड़ी आवश्यकता है।

मोहन—अर्थात्, आप यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक श्रमजीवी को अपने जीवन में साधु प्रकृति का होना चाहिए।

चाचा—नहीं, मेरा मतलब यह है कि श्रमिक अगर अपने तईं सच्चा और ईमानदार होगा, तो वह जो भी कार्य करेगा, मन लगा कर करेगा। और इसका परिणाम यह होगा कि अपने काम में सफल होकर धनोत्पत्ति की वृद्धि में सहायक होगा। प्रायः देखा गया है कि श्रमिक लोग निरीक्षक की उपस्थिति में तो अच्छी तरह काम करते हैं, पर उसके पश्चात् फिर उनकी गति मन्द पड़ जाती है। पर यदि वे सच्चे होंगे और अपनी जिम्मेदारी का अनुभव कर सकेंगे, तो निरीक्षकों की कोई विशेष आवश्यकता ही न रह जायगी। इसका फल कारख़ाने को उस निरीक्षक पर ख़र्च होनेवाली रक़म की बचत के रूप में मिलेगा। इस तरह वे कारख़ाने के मालिक का विश्वास तथा उसकी सहानुभूति पाने के अधिकारी होंगे और अन्त में ये बातें देश की (और उनकी व्यक्तिगत) धनोत्पत्ति में अवश्य सहायक होंगी।

मोहन—किन्तु प्रश्न यह है कि जब तक श्रमिकों को अपनी आय से सन्तोष नहीं होता, तबतक उनमें इतनी नैतिकता कैसे आ सकती है!

चाचा—आयके प्रति सन्तोष रहना तो मुख्य है। किन्तु श्रम के सम्बन्ध

में, जहाँ वे कार्य करने को विवश किये जाते हैं, अर्थात् जो बेगार में कार्य करते हैं, उनका कार्य उत्तम कैसे हो सकता है ! संसार में जितने भी सभ्य देश हैं, इस समय लगभग सभी जगह बेगार की प्रथा उठा दी गयी है। किन्तु बड़े खेद की बात है कि हमारे देश में अब भी यह प्रथा समूल नष्ट नहीं की गयी ! मनुष्यता का यह सब से बड़ा अपमान तो है ही। इसके सिवा धनोत्पत्ति की दृष्टि से भी यह प्रथा कम हानिकारक नहीं है।

मोहन—बेगार में काम करनेवाला श्रमिक कभी कोई काम तबियत से कर ही नहीं सकता।

चाचा—बात यह है कि जबतक श्रमिक को इस बात की आशा नहीं होती कि इस कार्य को अच्छी तरह करने से मुझे यह लाभ होगा, मेरी इस तरह उन्नति होगी, तब तक श्रमिक न तो परिमाण में अधिक कार्य करेगा, न गुण की दृष्टि से उत्तम। जबतक उसे यह मालूम रहेगा, उसमें यह बात समायी रहेगी कि मैं चाहे जितना अच्छा, सुन्दर से सुन्दर कार्य करूँ, मेरी स्थिति में सुधार होना सम्भव नहीं है, तब तक वह उत्तम कार्य कभी कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि जिन लोगों को एक निश्चित वेतन मिलता है, वे उतना ही काम करते हैं जो चाहे जितना घटिया या कम हो, पर नौकरी बनी रहने के लिए यथेष्ट हो। इसीलिए सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी अनेक संस्थाओं, कार्यालयों और कारख़ानों में काम के प्रकार और परिमाण को देखकर वेतन, विशेष पुरस्कार, प्राविडेंट फंड अथवा पेंशन की व्यवस्था की जाती है। प्रेस के काम, मकान तथा सड़क बनवाने और नहरों की खुदाई करवाने में, जब कभी काम के परिमाण को ध्यान में रखकर मज़दूरी दी जाती है, तब काम अधिक अच्छा और जल्दी होता है।

मोहन—किन्तु मकान अथवा सड़क बनवाने में ठेकेदार लोग अक्सर सामान ख़राब और सस्ता लगाकर कार्य-कुशलता को हानि भी तो पहुँचाते हैं।

चाचा—तभी तो इसके निवारण के लिए अनेक व्यक्ति सामान अपना देते हैं और ठेका केवल श्रम का रहता है।

किन्तु इस विषय में हमारे देश के किसानों की हालत वास्तव में शोचनीय है। वे श्रम करते हैं, किन्तु बहुधा बेमन से। सदियों से वे दरिद्रता,

बेबसी और अत्याचारों की चक्की में पिसते चले आये हैं। उनमें उत्साह नहीं है। मरभुखी के कारण अपनी शिकायतों तक को ठीक ढङ्ग से कह सकने की शक्ति उनमें नहीं रह गयी है। सालभर की मेहनत के बाद जो थोड़ा-बहुत वे पैदा कर पाते हैं, वह ऋण के भुगतान के रूप में खलिहान से ही सीधा ज़मीदार अथवा महाजन के यहाँ उठ जाता है। एक ओर ज़मीदार उन्हें पीसते हैं, दूसरी ओर सरकार। सरकार को भी उनकी दशा में सुधार करने की न तत्परता है, न छुट्टी। ऐसी दशा में कार्य-कुशलता की वृद्धि की आशा उनसे क्या की जा सकती है ? श्रमिक को अपने श्रम का प्रतिफल जब तक शीघ्र और उचित परिमाण में मिलने की आशा नहीं रहती तब तक उसकी कार्य-कुशलता कभी बढ़ नहीं सकती। इस दृष्टि से आवश्यकता इस बात की है कि भूमि पर मूलतः किसानों का अधिकार रहे।

गदाधर मोहन तथा उसके चाचा को वासुकी नाग के बराबर तक ले आकर लौट रहा था और नाव अब फिर लगभग उसी स्थान पर आ रही थी, जहाँ उसने उन्हें बैठाया था। अतएव मोहन के चाचा ने कहा—बस श्रम की कुशलता-वृद्धि के सम्बन्ध में अब केवल दो बातें हमें और बतलानी हैं। एक तो कार्य-क्रम की विभिन्नता और दूसरी संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली। बात यह है कि दिन पर दिन, मास पर मास, साल दर साल एक ही प्रकार की कार्य-शैली रखने के कारण जीवन में एकरूपता जन्य नीरसता आ जाती है। इससे भी कार्य-कुशलता का ह्रास ही होता है। इसीलिए कल-कारख़ानों में बीच में घन्टे आध घन्टे की छुट्टी की व्यवस्था की जाती है। आफ़िसों में ऐसी व्यवस्था अगर नहीं है, तो काम करने के घण्टे तो कम होते हैं। इसके सिवा वहाँ के बाबू लोग जब चाहें तब दस-पाँच मिनट के लिए वार्तालाप तथा जलपान करने की स्वतंत्रता तो रखते ही हैं। एक ही प्रकार का कार्य करने की नीरसता के निवारण के लिए यह भी आवश्यक है कि श्रमिक जिस काम को कर सके, उस प्रकार का कोई दूसरा कार्य, उसी से मिलता-जुलता हुआ, उसे दे दिया जाय। इस तरह भी श्रम की कुशलता की वृद्धि हो सकती है।

अब रह गयी संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली। सो, इससे यह एक लाभ तो

अवश्य होता है कि जिनके माता-पिता नहीं रहते, उनका भी भरण-पोषण हो जाता है। किन्तु सब से बड़ा एक दोष इसमें यह होता है कि परिवार में कोई एक व्यक्ति अच्छी आमदनी करने लगता है, तो अन्य लोग, आलसी, ग़ैर ज़िम्मेदार और निकम्मे हो जाते हैं। अतएव रुपया-पैसा पैदा करनेवाला व्यक्ति उदाराशय और परोपकार-वृत्ति का न हुआ, तो वह कार्य-कुशल उचित अंशों में नहीं रह पाता। इन्हीं सब कारणों से, जिनमें आर्थिक दृष्टिकोण मुख्य है, आजकल हमारे देश से संयुक्त कुटुम्ब प्रथा का लोप होता जा रहा है।

मोहन के चाचा ने उतरकर साढ़े तीन आने पैसे गदाधर के हाथ पर रख दिये। पैसा देते हुए उन्होंने कहा—दो पैसे इनाम के हैं। तुमने हमको खूब घुमाया।

गदाधर इकटक इन लोगों को देखता रह गया। ऐसा अवसर उसके जीवन में कम आया था।

घर की ओर चलते हुए मोहन ने कहा—चाचा, आपने तो कहा था कि इसका श्रम साधारण है; किन्तु इनाम देकर तो आपने उसे कार्य-कुशल बना दिया।

चाचा ने उत्तर दिया—बस, ये दो पैसे मैंने तुमसे यही बात सुनने के अभिप्राय से उसे दिये हैं।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

श्रम-विभाग
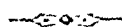
बद्रीनाथ जी के यहाँ और तो सब प्रबन्ध अच्छा था, पर एक बात की फिर भी कमी थी। और वह यह कि परोसनेवाले केवल रामदयाल ही थे। वे जबतक एक चीज़ इधर से उधर तक परोस पाते थे, तब तक इधरवाले व्यक्तियों के पास कोई-न-कोई चीज़ समाप्त हो जाती थी। वे बैठे रहते थे और कभी एक-दूसरे का मुँह ताकते थे और कभी परस्पर फुसफुसाने लगते थे। मैंने कहा भी कि मैं आपकी मदद कर दूँ। किन्तु वे बोले—नहीं, मैं परोस लूँगा। कौन बहुत भारी जमाव है।

बिहारी—यह उनकी भूल थी। असल बात यह है कि उन्हें श्रम-विभाग के लाभालाभ का ज्ञान नहीं है।

राजाराम—आपकी तरह वे कोई अर्थशास्त्री तो हैं नहीं। उन्हें क्या पता कि श्रम-विभाग नाम किस चिड़िया का है!

बिहारी—वे तो नासमझ हैं ही। तुम भी कम अबोध, नहीं हो। श्रम-विभाग कोई आम नहीं है, जो अनावश्यक रूप से किसी मुसाफ़िर के मुँह पर टपका हो। आदिकालीन मनुष्य समाज जब जंगल का रहना त्यागकर घर बनाकर रहने लगा, तो धीरे-धीरे वहाँ छोटी-मोटी बस्तियाँ बनीं। फिर वही बढ़कर गाँव हो गये। पहले वह केवल अपनी बनाई हुई वस्तुओं से काम चला लेता था। परन्तु फिर उसने अनुभव किया कि दूसरों की बनाई हुई वस्तुओं को लिये बिना उसका काम नहीं चल सकता। तब वह धीरे-धीरे एक ही तरह का काम करने लगा। उससे जो पदार्थ वह पैदा करता

वह विविध व्यक्तियों को देकर उनकी पैदा की हुई वस्तुएँ, अपनी आवश्यकता के अनुसार, उनसे लेने लगता। इस तरह समाज में कई प्रकार के पेशे प्रचलित हो गये। पीछे फिर उन पेशों में भी कई-कई भाग और उपविभाग होते गये। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति किसी एक पेशे के एक भाग का कार्य करता है, वे एक-एक विभाग अपने आप में पूर्ण होते हैं। वह जो चीज़ तैयार करता है, वे चीज़ें उससे आगे आनेवाले विभाग के व्यक्तियों के लिए कच्चे माल का काम देती हैं। इस तरह अ का पक्का माल ब का कच्चा माल हो जाता है। फिर ब जो माल तैयार करता है वह उसके लिए पक्का होकर स के लिए कच्चा होकर मिलता है। इसी तरह अनेक उपविभागों के द्वारा कच्चा माल पक्का होते-होते अन्त में अभीष्ट वस्तु तैयार हो जाती है। आज कल कल-कारख़ानों में यही काम बड़ी से बड़ी तादाद में होता है। उसमें श्रम-विभाजन और भी अधिक सूक्ष्म हो गया है। केवल कपड़े बुनने की बात को लो, तो तुम्हें पता चलेगा कि यह कार्य लगभग अस्सी उपविभागों में विभक्त है। अस्तु, ऐसे युग में जो आदमी साधारण काम-काज के अवसर पर श्रम-विभाग का लाभ नहीं उठाता, वह जंगली है।

राजाराम—बद्रीनाथ जी को कोई कारख़ाना तो खोलना नहीं था, जो वे आपके कथनानुसार श्रम-विभाग करने बैठते। एक मामूली-सी दावत थी, सो हो गई। यों वह आध घण्टे में समाप्त होती। इस तरह एक घंटा लग गया। इसमें उनका क्या बिगड़ गया? बल्कि उनको तो कुछ मालूम भी न हुआ होगा। वे उस समय दातून करने के लिए उठे होंगे! दस बजे तो उनकी सुबह होती है!

बिहारी—इसीलिए कहना पड़ता है कि ये सब असभ्यता के अंग हैं। श्रम-विभाग से दूसरों को ही लाभ नहीं होता, अपने को भी होता है। उसका अभिप्राय ही यह है कि कार्य को ऐसे बहुत से उपविभागों में बांट दिया जाय जिससे काम जल्दी हो, अच्छा हो और उसकी उपयोगिता पूरे समाज को मिले।

राजाराम—अब तक तो मैं मज़ाक कर रहा था। लेकिन अब मैं वास्तव में श्रम-विभाग के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहता हूँ।

बिहारी—साधारणतः इसके तीन रूप होते हैं। १—विविध पेशों अथवा कार्यों का पृथक्-पृथक् होना २—एक-एक पेशे अथवा कार्य के ऐसे विभाग करना, जो प्रत्येक अपने आप में पूर्ण हो। ३—फिर प्रत्येक में ऐसे उप-विभाग करना, जो अपने आप में पूर्ण हों। फिर उद्योग-धन्धों का स्थानीय करण होता है। इसमें एक पेशे वाले बहुत से लोग विशेष जगह पर रहकर काम करते हैं। और जब भिन्न-भिन्न पेशे वाले लोग एक स्थान पर बस जाते हैं, तब वही स्थान क़स्बा और नगर बन जाता है। उस विशेष वस्तु को तैयार करने का वह एक केन्द्र कहलाता है। जैसे कपड़े तैयार के केन्द्र बंबई, अहमदाबाद तथा कानपुर हैं।

राजाराम—हाँ, यह तो ठीक है। किन्तु इन शहरों का नाम तो अभी कुछ ही समय से अधिक हो गया है।

बिहारी—लेकिन श्रम-विभाग फिर भी अति प्राचीन है। यह जो अपने यहाँ आज भी स्त्रियाँ घर गृहस्थी का कार्य सम्हालती, बच्चों का पालन-पोषण और सारे परिवार के लिए भोजन बनाती हैं और यह जो पुरुष केवल जीविका सम्बन्धी कार्यों में ही निरन्तर डूबा रहकर द्रव्योपार्जन करता है, बता सकते हो, यह कब से प्रचलित है?

राजाराम—हाँ, यह तो मेरा ख़याल है, सनातन से चला आ रहा है।

बिहारी—और अपने यहाँ जो वर्ण-व्यवस्था प्रचलित है कि शूद्र समाज की सेवा करे, वैश्य कृषि और वाणिज्य से समाज की सम्पत्ति बढ़ायें, क्षत्रिय समाज की रक्षा करें और ब्राह्मण ईश्वराराधान, ज्ञान-चर्चा और शिक्षक का कार्य करें, यह कब से प्रचलित है?

राजाराम—यह भी पुरातनकाल से चला आ रहा है।

बिहारी—तो यह भी एक तरह से श्रम-विभाग ही है। इसका उद्देश्य प्रारम्भ में यही था। समाज को चार विभागों में बाँट दिया और प्रत्येक वही कार्य करें, जिसको वह अच्छी तरह से कर सकता है। हमारे यहाँ ये केवल चार ही वर्ण हैं। कार्य-कुशलता और प्रकृति के अनुसार इनका विभाजन हुआ था। बाद में जो व्यक्ति जिस घर में उत्पन्न हुआ, वह उसी जाति का कहलाया, चाहे कार्य-कुशलता और प्रकृति में वह अपने पूर्वजों से थोड़ा-बहुत

भिन्न ही क्यों न रहा हो। धीरे-धीरे इन वर्गों में जातियों की संख्या बढ़ती गयी। और अब छोटी-बड़ी सब मिलाकर हज़ारों जातियाँ, उप-जातियाँ हो गई हैं। कहा जाता है कि अब भी कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जिनकी संख्या कुछ सैकड़े तक ही सीमित है। केवल स्थानान्तरित हो जाने के कारण कालान्तर में लोग विजातीय हो गये हैं। उनमें रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं होता।

राजाराम—लेकिन कहा जाता है कि इतना जाति-भेद तो सामाजिक संगठन और एकता के लिए बाधक है।

बिहारी—यह बाधा पुरातन नहीं है, नयी है और रोटी-बेटी का सम्बन्ध न रहने के कारण है। लेकिन विचार करके देखो तो पता चलेगा कि वर्ण-व्यवस्था के द्वारा जो श्रम-विभाजन हुआ था, वह कितना उत्तम था! आज भी जो हम ब्राह्मण लोग स्वभावतः ज्ञानचर्चा में लीन रहते हैं, केवल सत्यासत्य का अनुसन्धान हमें पसन्द आता है, क्या यह उसी श्रम-विभाग का फल नहीं है, जो वंशानुक्रम से हमारे रक्त, गुण और कर्म में झलकता है?

राजाराम—हाँ, यह तो आप ठीक कहते हैं।

बिहारी—जाति में जितने भी आदमी होते हैं, वे सब मिलकर मानो एक संघ बन गये हैं। कितनी सहानुभूति वे सजातीय होने के कारण एक दूसरे से रखते हैं! यद्यपि अशिक्षा के कारण इससे कुछ हानियाँ भी हुई हैं। लोग आवश्यकता होने पर भी प्रायः स्थान और पेशा बदलना स्वीकार नहीं करते। जो लोग नीच जाति के मान लिये गये हैं, वे ऐसे कार्यों में लगा दिये जाते हैं, जिन्हें वे अपनी इच्छा से करना नहीं चाहते। कल-कारख़ानों में काम करनेवाले लोगों में अकसर जो विरोध उत्पन्न होते हैं, उसका आधार भी जातिगत विरोध होता है। और इस प्रकार उनकी कार्य-कुशलता का उपयोग नहीं हो पाता।

राजाराम—अच्छा, एक बात तो बतलाइये कि यह श्रम-विभाग होता कैसे है?

बिहारी—जब काम करनेवाला कोई एक आदमी न होकर, व्यक्तियों का एक समूह होता है, और उसके कुछ आदमी अलग-अलग हिस्सों में बँट कर, अपने-अपने भाग का एक तरह का कार्य, अलग-अलग करते हुए अन्त

में उस कार्य को पूरा कर डालते हैं।

राजाराम—जैसे कुछ लोग मिलकर छप्पर बनाते अथवा कहा जाय कि पेड़ काटते हैं।

बिहारी—नहीं, उस अवस्था में तो सब लोग एक ही काम करते हैं। उनके भिन्न-भिन्न विभागों में जो कार्य होते हैं, उन्हें दल के रूप में अलग-अलग नहीं करते।

राजाराम—क्यों, छप्पर छाने में भी अनेक काम होते हैं। पहले कुछ आदमी फूस घास तिन बाँस इत्यादि लाते हैं। फिर डोरी लेकर बाँधते हैं और फिर कई आदमी मिलकर उसे दीवाल पर चढ़ा देते हैं।

बिहारी—बात यह है कि काम के विभाग करने पर भी यदि उन विभागों का कार्य करने वाले वे ही व्यक्ति हों तो अर्थशास्त्र में उसे श्रम-विभाग नहीं कहते। श्रम-विभाग तो वह तभी कहा जायगा, जब कार्यकर्ता कई हों और अनेक भागों में बँटकर लगातार आदि से अन्त तक उस कार्य में लगकर उसे पूरा उतार दें। इसके सिवा श्रम-विभाग तभी होता है, जब एक दल के श्रमिक प्रतिदिन एक ही प्रकार का काम करते हैं। किन्तु जब ऋतु अथवा स्थिति-परिवर्तन से वे अपना कार्य बदल डालें, तो वह श्रम-विभाग न होगा।

राजाराम—तो भाई, हमारे यहाँ की खेती में तो श्रम-विभाग हो नहीं सकता। इसमें तो एक ही आदमी को कई प्रकार के कार्य पृथक्-पृथक् करने पड़ते हैं। खेत लम्बे-चौड़े और दूर-दूर होते हैं। उन सब के लिए अलग-अलग आदमी कैसे मिल सकते हैं?

बिहारी—हाँ, वर्तमान-स्थिति में खेती के कार्य में अच्छा श्रम-विभाग जरा कठिन है। बड़े-बड़े खेतों में श्रम-विभाग अधिक मात्रा में होता है। वह कल-कारखानों में ही अधिक सफलता के साथ देखने में आता है। वह थोड़े से स्थान में होता और नित्य एक ही ढंग से चलता है।

राजाराम—और यह श्रम-विभाग चलता किस हद तक है?

बिहारी—जो वस्तुएँ पैदा की जाती हैं उनकी माँग जैसी होती है, उसी के अनुकूल श्रम का विभाजन किया जाता है। अगर किसी वस्तु की

माँग इतनी कम है कि उसे एक ही आदमी तैयार कर सकता है, तब श्रम-विभाग करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। किन्तु जब माँग बढ़ी हुई होती है, तब कार्य को समूहों में बाँट दिया जाता है। श्रम-विभाग जब बढ़ जाता है, तब वस्तु का उत्पादन-व्यय औसत से कम पड़ता है। किन्तु जब श्रम-विभाग से उत्पादन बहुत अधिक बढ़ जाया करता है, तो उस वस्तु की खपत करने के लिए एक ऐसा नया बाज़ार खोजने की आवश्यकता होती है, जहाँ तब तक वह वस्तु पहुँच न पायी हो। पर संयोग से अगर वह वस्तु वहाँ पहुँची हुई होती है, तो इस नये माल को उसकी प्रतियोगिता में सस्ता करके बेचना होता है। ऐसा यदि नहीं किया जाता तो नया तैयारशुदा माल बिना बिक्री के पड़ा रहता है। और इसका परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति का परिमाण घट जाता है। ऐसी दशा में प्रायः श्रम-विभाग से होनेवाली उपयोगिता बहुत सीमित कर देनी पड़ती है। अतः जिन कारणों से उस वस्तु का बाज़ार बढ़ जाता है, उनसे श्रम-विभाग को लाभ अधिक पहुँचता है।

राजाराम—लेकिन श्रम-विभाग से हमको लाभ भी तो कुछ होता होगा।

बिहारी—क्यों नहीं ? लाभ वास्तव में बहुत होता है। बात यह है कि किसी वस्तु के सम्पूर्ण उत्पादन का ज्ञान प्राप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिए बड़ा कठिन होता है। किन्तु उसी कार्य का कोई एक छोटा-सा भाग, कार्य करते-करते, जब पूर्ण रूप से हृदयङ्गम हो जाता है, तो एक तरह से वह व्यक्ति उसका विशेष ज्ञाता बन जाता है। किसी भी एक कार्य की किसी विशेष शाखा में बराबर काम करते-करते मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्ति में इतना विकास हो जाता है कि उसे करने में उसे किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती। उस कार्य में वह इतना अभ्यस्त हो जाता है कि बिना विशेष प्रयास के करता रहता है। इससे कार्य-शक्ति में निपुणता की वृद्धि तो होती ही है, समय की बचत भी कम नहीं होती।

राजाराम—किन्तु यन्त्रों के उपयोग में तो एक आदमी थोड़े ही समय में बहुतेरे कार्य निपटा देता है।

बिहारी—ठीक है। किन्तु कार्य जब कई प्रकार के होते हैं, तब उनको करने में श्रमिक वे सुविधाएँ नहीं पाता, जो किसी एक में लगे रहने पर प्राप्त कर लेता है। ऐसे कुछ कार्य तो बहुत पेचीदा भी हो सकते हैं। और उनको करने में वह अनेक यंत्रों का उपयोग पूरी सफलता के साथ कर भी नहीं सकता। किन्तु श्रम-विभाग द्वारा जब वह किसी उपविभाग के कार्य पर लगा दिया जाता है, तब उसकी कार्य-गति उसके लिए अत्यन्त सुगम हो जाती है। उस विशेष कार्य से सम्बन्ध रखनेवाली मेशीनों का उपयोग वह बहुत आसानी से कर लेता है। इससे उसे श्रम भी कम पड़ता है और कार्य भी जल्दी हो जाता है। रेल तथा जहाज़ आदि का कार्य तो श्रम-विभाग के बिना चल ही नहीं सकता।

इसके सिवा एक बात और है। निरन्तर कोई एक विशेष कार्य करते-करते श्रमिक उसकी क्रिया में इतना दक्ष हो जाता है कि कभी-कभी उसे उस कार्य के सम्बन्ध में कहीं पर कोई एक ख़ास त्रुटि मालूम हो जाती है। वह उसको दूर करने की चेष्टा करता है। और यदि इसमें सफल हो गया, तब तो एक तरह से उसका यह एक आविष्कार हो जाता है। तब उससे प्रत्येक श्रमिक लाभ उठाता है और उसका लाभ धनोत्पत्ति में सहायक होता है। किन्तु ऐसा कोई भी वैज्ञानिक या यन्त्र-सम्बन्धी आविष्कार तभी होता है, जब उसका कर्त्ता श्रम-विभाग द्वारा किसी एक विशेष उपविभागीय कार्य पर नियुक्त होता है।

राजाराम—अच्छा हाँ, और ?

बिहारी—श्रमिक कई प्रकार के होते हैं। किसी में शारीरिक शक्ति प्रबल होती है, किसी में मानसिक। इसके सिवा श्रमिकों में बच्चे से लेकर बुड्ढे तक होते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो इनमें अन्धे और लँगड़े तक पाये जाते हैं। अब विचार करने की बात है कि अगर श्रम-विभाग न हो, तो इस तरह सभी प्रकार के श्रमिकों को उनकी योग्यता अथवा क्षमता के अनुसार कार्य कैसे दिया जा सकेगा ? अगर एक

आदमी ऐसे सब कार्य करना भी चाहे, तो वह अपनी कुशलता का पूरा उपयोग भी नहीं कर सकेगा। इसके सिवा जो किसी अन्य कार्य के लिए विशेष उपयोगी और कुशल होगा, वह उस कार्य के लिए अयोग्य और अकुशल सिद्ध होगा। इस तरह अधिक योग्यता और कुशलता का कार्य ऐसे आदमी के जिम्मे पड़ जा सकता है, जो उसे अच्छी तरह सुगमता से न कर सके और साधारण कार्य ऐसे आदमी के जिम्मे पड़ सकता है, जिसकी योग्यता उसकी अपेक्षा अधिक ऊँचे दरजे का काम करने की हो। इससे धनोत्पत्ति में हानि की अपेक्षा लाभ की सम्भावना नहीं है।

इसके सिवा श्रम-विभाग में प्रत्येक श्रमिक को कुछ थोड़े से औज़ारों की ही आवश्यकता पड़ती है। अवकाश मिलने पर वह उसे सम्हाल कर रख सकता है। किन्तु यदि उसे कई उपविभागों में काम करना पड़े, तो कभी वह एक से काम लेगा, कभी दूसरे से। इस तरह सारे यन्त्रों को सम्हाल-कर रखना उसके लिए दुष्कर हो जायगा। इस तरह श्रम-विभाग में औज़ारों की विशेष रक्षा होती है जो एक तरह से धन की बचत है।

राजाराम—अच्छा, श्रम-विभाग से सभ्यता पर भी क्या कोई प्रभाव पड़ता है?

बिहारी—क्यों नहीं? आपस के सहयोग पर ही समाज का संगठन निर्भर करता है। कोई एक व्यक्ति अगर चाहे कि वह अपनी ही बनायी हुई वस्तुओं से निर्वाह कर ले तो ऐसा नहीं हो सकता। दूसरों की बनायी हुई वस्तुओं का उपयोग उसे करना ही पड़ता है। और तब यह आवश्यक हो जाता है कि उसके बदले में अपनी बनायी वस्तुओं का उपभोग वह दूसरों को भी करने का अवसर दे। इस तरह आपस का सहयोग बढ़ता है। श्रम-विभाग में एक उपविभाग का कार्य दूसरे उपविभाग से संलग्न रहता है। इस प्रकार एक उपविभाग के श्रमिक दूसरे उपविभाग के श्रमिकों पर अवलंबित रहते हैं। इससे भी आपस में सहयोग बढ़ता है। यह मानी हुई बात है कि श्रम-विभाग के द्वारा वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं और साधारण लोग भी उन वस्तुओं का उपभोग करने लगते हैं, जो पहले उनसे वंचित थे। इस तरह उनके रहन-सहन का दर्जा उन्नत होता है। और सहयोग की

वृद्धि तथा एकता से ही सभ्यता की उन्नति होती है।

राजाराम—अच्छा, क्या श्रम-विभाग के द्वारा धनोत्पत्ति की मात्रा में कोई वृद्धि हो सकी है ?

बिहारी—अवश्य। पहले एक आदमी अगर दिन भर में चालिस पिन बना सकता था, तो अब हज़ारों की संख्या में बनाता है। इसके सिवा पहले पिन इतने सुन्दर नहीं बनते थे, जैसे अब बनते हैं। इस प्रकार अन्य वस्तुओं के उत्पादन में भी इससे आशातीत उन्नति होती है। इस तरह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि धनोत्पत्ति की मात्रा श्रम-विभाग के द्वारा अवश्य बढ़ती है।

किन्तु ये सब तो लाभ-ही-लाभ मैंने बतलाये हैं। श्रम-विभाग से हानियाँ भी होती हैं।

राजाराम—(आश्चर्य्य से) अच्छा !

बिहारी—हाँ, श्रमिक लोग जब एक ही प्रकार का कार्य करते हैं, तब उनका जीवन नीरस हो जाता है। प्रत्येक श्रमिक एक ही प्रकार के कार्य में विशेष अभ्यस्त और दक्ष होता है। वह कार्य अगर बन्द हो जाय, तो उसे बेकार हो जाना पड़ता है। श्रमिक लोग प्रायः घनी बस्तियों में रहते हैं। वे मैली, गन्दी और तंग होती हैं। इससे उनके स्वास्थ्य की हानि होती है। किन्तु इन असुविधाओं को धीरे-धीरे दूर किया जा रहा है। ये ऐसी भी नहीं हैं कि इन्हें दूर न किया जा सके। श्रम-विभाग पुरातन काल से आज तक की उन्नति का फल है। अतएव उससे मुँह मोड़ना जंगली सभ्यता की ओर जाना है। कल-कारख़ानों के अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे श्रमिकों की असुविधाओं को समझें और उन्हें दूर करें, तभी वे उचित लाभ और संतोष प्राप्त करते हुए अपने समाज और देश को ऊँचा उठा सकते हैं।

अन्त में बिहारी ने कहा—इस प्रकार तुम्हारे बड़े बाबू के यहाँ का प्रबन्ध श्रम-विभाग के विरुद्ध था।

उन्तीसवाँ अध्याय

पूँजी के भेद

"तुम्हारे गाँव में एक लाला जी थे। उनका नाम था शायद किशोरी-लाल। आजकल वे क्या करते हैं?"

"करते क्या हैं! उनके पास धन की कमी तो है नहीं। वे आजकल रुपया ब्याज पर उठाते हैं, किश्त पर देते हैं। ज़रूरत पड़ने पर, बीज के लिए, अनाज भी किसानों को सवैया पर देते हैं। निर्वाह तो घिलवे में होता है। धन बराबर बढ़ता ही जाता है।"

अपने स्वाभाविक रूप से बिहारी मुसकराने लगा।

तब राजाराम ने कहा—जान पड़ता है, मेरी इस बात में आपको मेरे अज्ञान का ही भान हुआ। अच्छा तो फिर बतलाइये, मैंने क्या भूल की?

बिहारी—तुमने धन का तो ठीक अर्थ समझ लिया! परन्तु अब तुमको यह जानना चाहिये कि जो रुपया धन के उत्पादन में लगाया जाता है और जिससे धन की वृद्धि होती है, अर्थशास्त्र में वह पूँजी कहलाता है।

राजाराम—अच्छा, धन को पूँजी किस दशा में कहते हैं?

बिहारी—यदि कोई व्यक्ति अपने धन को किसी भी वस्तु की उत्पत्ति में लगाता है, तो उसका वह रुपया धन तो है ही, पूँजी भी कहलाता है।

राजाराम—तो आपका मतलब शायद यह है कि धन की उत्पत्ति में पूँजी का एक विशेष स्थान है।

बिहारी—क्यों नहीं? पुरातन काल में जीवन का संघर्ष ऐसा प्रबल नहीं

था। मनुष्य थोड़े में संतोष कर लेता था। उस समय पूँजी के बिना भी लोग धनोत्पत्ति करते ही थे। परन्तु अब ऐसा नहीं है। अब तो धनोत्पत्ति में पूँजी का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। एक-एक कारख़ाना चलाने में लाखों रुपये लग जाते हैं। पहले कारख़ाने के लिए इमारत चाहिए। फिर कर्मचारियों-श्रमिकों को साप्ताहिक मज़दूरी देने के लिए रुपये चाहिए। इसके सिवा कच्चे माल का संग्रह, खपत करने के लिए विज्ञापन, फिर माल की निकासी का आयोजन। इन सब कामों में बहुत अधिक रुपया लगता है। वही व्यक्ति अथवा कम्पनी धनोत्पत्ति कर सकती है, जिसके पास यथेष्ट पूँजी हो। जब लोग छोटी पूँजी से कभी ऐसा लाभ उठाने का साहस करते हैं, तो वे प्रायः असफल होते हैं। धन की उत्पत्ति करना दूर रहा, सच पूछो तो वे उसे खो बैठते हैं। एक तो वे बड़े कारख़ानों के समान माल तैयार नहीं कर पाते। दूसरे उनका माल भी उतना सस्ता नहीं पड़ता। प्रतियोगिता में वे हार जाते हैं। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि आजकल धनोत्पत्ति के क्षेत्र का राजा पूँजीपति होता है। वह उत्पत्ति के साधनों पर शासन करता है। छोटी पूँजीवालों को सदा उसके आगे झुकना पड़ता है।

राजाराम—तो छोटी पूँजी के आधार पर कोई काम नहीं करना चाहिए। यही आप कहना चाहते हैं।

बिहारी—बात यह है कि कभी-कभी पूँजी की कमी के कारण लोगों को किफ़ायतशारी सूझती है। वे ऐसी मैशीनें ले लेते हैं, जो पुरानी होती हैं—और पुरानी मैशीनें कभी-कभी ऐसी बिगड़ जाती हैं कि उनका सुधरवाना कठिन हो जाता है। बहुधा ऐसा होता है कि जितना व्यय पुरानी मैशीनों के दुरुस्त कराने में लगता है, उससे कुछ ही अधिक और ख़र्च करने से नयी मैशीनें मिल जाती हैं। कभी-कभी किसी नये आविष्कार के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि पुरानी मैशीनों से जो माल तैयार होता है, उसमें पड़नेवाला व्यय, नयी आविष्कृत मैशीन की अपेक्षा इतना अधिक पड़ता है कि प्रतियोगिता में हानि होती है। तब उसे नयी मैशीन भी खरीदनी पड़ती है। ऐसी दशा में पुरानी मैशीनों पर लगी पूँजी अनुत्पादक हो जाती है। जिस तरह श्रम

अनुत्पादक होता है, उसी तरह पूँजी भी।

राजाराम—हाँ, फिर पूँजी कोई ऐसी चीज़ तो है नहीं, जो स्थिर रह सकती हो। जानेवाली होती है, तो चली जाती है।

बिहारी—लेकिन मैं तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से देखता हूँ। जो पूँजी एक बार के ही उपयोग में आती और थोड़े ही समय में ख़र्च हो जाती है, उसे चल-पूँजी कहते हैं। जैसे खेत में बीज डाल दिया जाय, तो पूरा-का पूरा चला गया समझना चाहिए। फिर उसका दूसरी बार उपयोग सम्भव नहीं है। मज़दूरों अथवा कर्मचारियों को जो वेतन दे दिया जायगा, वह फिर पूँजीपति के दुबारा क्या काम देगा? कल-कारख़ानों में कच्चा माल लगता है, रेल में कोयला दिया जाता है। यह ख़र्च जो एकबार हो गया, सो हो गया। फिर दुबारा तो उसका कोई उपयोग होने को नहीं है। यह सब चल-पूँजी है। बात यह है कि इस पूँजी का प्रतिफल इकट्ठा और तुरन्त मिल जाया करता है। इस दशा में पूँजी लगानेवाला यह सोच लेता है कि जो पूँजी लगायी जाय, उसका प्रतिफल पूँजी से हर हालत में अधिक मिले। कर्मचारियों को वेतन देते क्षण भी यही विचार रहता है कि उनसे, जो काम लिया जाता है, उसका मूल्य वेतन से अधिक हो।

इसके विपरीत जो पूँजी एक बार जाकर बार-बार लौट-लौट कर आती है, वह पूरी की पूरी ख़र्च नहीं हो जाती, वह अचल पूँजी कहलाती है। कारख़ानों की इमारतें, मशीनरी, औज़ार खेती के काम में आने वाले बैल, हल गाड़ी इत्यादि वस्तुएँ इसी अचल पूँजी में गिनी जाती हैं।

पर इस स्थान पर एक बात और जान लेने की है। वह यह कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी एक दशा में जो चल-पूँजी है वही किसी दूसरी दशा में अचल भी हो जाती है। मान लो कि आटा पीसने की कोई चक्की है। जिस कारख़ाने में वह तैयार हुई है वह उसके लिए चल पूँजी है। कारख़ानेवाला उस चक्की का उपयोग आटा पीसने के लिए तो नहीं करता। उसने तो उसे बेचने के लिये ही तैयार की है और उसे वह एक ही बार बेच सकता है। इस तरह कारख़ानेवाला उसे चल-पूँजी समझता है। वह उसे बेच डालता है। परन्तु जो व्यक्ति उसी मशीन का

उपयोग करके उससे आटा पीसने का काम लेता है और उसे इस ढङ्ग से चलाता है कि वह सम्भवतः अधिक समय तक काम दे जाय, और वह उससे बराबर साधारण रूप से द्रव्योपार्जन करता जाय, तो वे ही मशीनें उसके लिए अचल-पूँजी हो जाती हैं।

राजाराम—चल और अचलपूँजी के लाभ में अन्तर भी तो होता है।

बिहारी—हाँ, अन्तर होना तो सर्वथा स्वाभाविक है। अचलपूँजी का लाभ कुछ स्थायी होता है और देर में मिलता है। इसलिए अचलपूँजी में लगाये हुए रुपये के लिए यह विचार करना आवश्यक होता है कि वह पूँजी कितने समय तक काम देगी और उससे कितना लाभ हो सकेगा।

राजाराम—क्या अचलपूँजी का उपयोग सदा बढ़ता रहना अच्छा है?

बिहारी—हाँ, एक सीमा तक अचलपूँजी का बढ़ना लाभदायक है, किन्तु उद्योग-धन्धों में केवल अचलपूँजी ही काम नहीं देती, चलपूँजी भी लगानी पड़ती है। यद्यपि प्रत्येक उत्पादक यही चाहता है कि मेरी चलपूँजी अचल हो जाय। सदा उसका ध्यान इसी बात पर रहता है कि श्रमिकों की संख्या कम हो और उत्पत्ति की वृद्धि होती जाय। तब मैशीनरी की वृद्धि अगर हो जाती है, तो स्वभावतः श्रमिकों को घटाना पड़ता है और वे बेकार हो जाते हैं।

पर कुछ लोग पूँजी को भौतिक और वैयक्तिक इन दो भेदों में बाँटते हैं। भौतिकपूँजी में उन पदार्थों की गणना की जाती है, जो विनिमय-साध्य होते हैं। और वैयक्तिक पूँजी वह होती है, जिसमें श्रमिकों की व्यक्तिगत कार्य-कुशलता का मूल्य आंका जाता है। श्रमिकों का यह गुण विनिमय-साध्य नहीं होता। यद्यपि इसमें पूँजी अधिक लगती है। श्रमिकों को इस कार्य-कुशलता से अपनी आय बढ़ाने का अवसर मिलता है।

पर इसमें एक दोष भी है। एक तो व्यक्तिगत कार्य-कुशलता की उपयोगिता का मूल्य अनिश्चित-सा होता है, दूसरे किसी व्यक्ति के मर जाने पर उस पूँजी का नाश हो जाता है। और चूँकि यह विनिमय-साध्य नहीं होता, इसलिए अर्थशास्त्र में इसकी गणना पूँजी में नहीं की जाती।

राजाराम—किन्तु औज़ार, मशीन आदि वस्तुओं से धन की उत्पत्ति होती है और वही धन वैयक्तिक कार्य-कुशलता की वृद्धि में सहायक होता है।

बिहारी—हाँ, तुम्हारा यह कथन ठीक है। पर पूँजी के दो भेद और किये जाते हैं, उत्पत्तिपूँजी और उपभोगपूँजी। तुम्हारे विचार के अनुसार मैशीन, औज़ार आदि पदार्थ उत्पत्तिपूँजी के अन्तर्गत माने जाते हैं। कुछ लेखक 'उत्पत्ति-पूँजी' का नाम 'व्यापार-पूँजी' भी रखते हैं। पर व्यापार-पूँजी में उन सब वस्तुओं की गणना की जाती है जो व्यापार के काम में आती हैं। जैसे—बिक्री के लिए वस्तुएँ तथा श्रमिकों के भोज्य पदार्थ। उपभोगपूँजी में उन वस्तुओं को शामिल किया जाता है, जो अप्रत्यक्षरुपेण उत्पत्ति में सहायता पहुँचाती हैं; परन्तु प्रत्यक्ष-रूप से उपभोग में आकर आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। जैसे—श्रमिकों को दिये जानेवाले भोजन तथा वस्त्र। उद्योग-धन्धों में उत्पत्तिपूँजी तथा उपभोग-पूँजी इन दोनों की आवश्यकता पड़ती है। सभ्य और उन्नत देशों में उपभोग-पूँजी की मात्रा बढ़ी रहती है। वहाँ श्रमिकों के भोजन, वस्त्र तथा मकानों पर अधिक व्यय किया जाता है।

राजाराम—आपने तो पूँजी के बहुत से भेद कर डाले।

बिहारी—यही तो अर्थशास्त्र की विशेष दृष्टि है। एक भेद है—वेतन-पूँजी और सहायकपूँजी। वेतनपूँजी अपने नामानुरूप श्रमिकों के वेतन में लगायी जाती है, शेष सारी पूँजी सहायक या साधकपूँजी कहलाती है। जब श्रमिकों को घटाकर मैशीनों की वृद्धि की जाती है, तब सहायकपूँजी की मात्रा बढ़ जाती है और वेतन-पूँजी का परिमाण घट जाता है। आजकल कारखानेवालों की प्रवृत्ति इसी ओर है।

इसके सिवा भेद हैं—व्यक्तिगत, सार्वजनिक और राष्ट्रीयपूँजी। व्यक्तिगतपूँजी वह मानी जाती है, जो पूर्ण रूप से किसी एक व्यक्ति की होती है। जैसे—किसी व्यक्ति ने कोई दुकान खरीदी है अथवा अपना द्रव्य लगाकर बनवाई है। सार्वजनिक या सामाजिकपूँजी वह होती है, जिसका [illegible] [illegible] सम्बन्ध किसी समाज अथवा जनता से होता है—जैसे धर्मशाला, अनाथालय, सरकारी दफ्तरों की इमारतें।

रह गयी राष्ट्रीयपूँजी, सो उसके अन्तर्गत राष्ट्र की समस्त पूँजी की गणना की जाती है।

राजाराम—किन्तु अगर किसी पूँजी पर दो राष्ट्रों का अधिकार हो, तो?

बिहारी—तब वह पूँजी अन्तर्राष्ट्रीय कहलाती है। प्रायः ऐसी रेलवे लाइनें तथा नहरें जिन्हें दो राष्ट्र परस्पर सहयोग से बनाते हैं, अथवा ऐसे समुद्री विभाग, जिन पर दो राष्ट्रों का अधिकार होता है, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के अन्तर्गत माने जाते हैं।

राजाराम—यह सब तो हो गया, पर 'कृषि-पूँजी' नाम अभी तक नहीं आया?

हँसते हुए बिहारी बोला—बस, अब उसी का नम्बर है। जो देश कृषि-प्रधान हैं, उनकी अधिकांश पूँजी वास्तव में कृषि-पूँजी ही तो होती है। हल, बैल, खुर्पी, कुदाली, फडुहा, पानी खींचने का चरसा, बोने का बीज, खाने के लिए अन्न; यही उनकी पूँजी है। किन्तु हमारे देश के कृषक बहुत हीन अवस्था को प्राप्त हैं। जिनके पास बैल नहीं होते, वे भैंसों से काम चलाते हैं। भैंसों के अभाव में वे उन्हें दूसरों से माँगकर खेती करते हैं। गायों से बछड़े मिलते हैं, दूध अलग। परन्तु वे गाय तक नहीं पाल सकते। अच्छी नस्लों की गायों के अभाव में साधारण गायें पालते भी हैं, तो उनको खिलाने के लिए पर्याप्त चारा नहीं दे पाते। परिणाम यह होता है कि जिन्हें वे धार्मिक दृष्टि से माता कहते हैं, उनका केवल चमड़ा बेचकर संतोष कर लेते हैं। किसानों के पास भैंसे बहुत कम होती हैं। जो भैंस रखते भी हैं, वे घी बनाकर उसे बेंच डालते हैं। इससे शक्ति का क्षय होता है। बच्चों को दूध के बजाय प्रायः मट्ठा ही मिलता है।

किसानों की असली पूँजी तो पशु हैं। परन्तु उनके लिए चरागाहों का अभाव है। गोबर के कडे (उपली) बनाकर जलाना भी पूँजी का क्षय है। अगर वे इसका उपयोग खाद के लिए करें, तो अन्न की उत्पत्ति में वह बहुत सहायक हो।

राजाराम—सुना है, ये जो कम्पनियाँ होती हैं, इनमें कोई एक व्यक्ति रुपया नहीं लगाता। बल्कि सैकड़ों आदमी उसके साझीदार होते हैं। अच्छा, तो उन साझीदारों की जो पूँजी लगी रहती है, उसके लिए भी तो कोई शब्द होगा।

बिहारी—बेशक। उसे व्यवसाय-पूँजी कहते हैं। लोग सौ-सौ अथवा हज़ार-हज़ार रुपये के शेयर ख़रीदते हैं। इन शेयरों का रुपया भी प्रारम्भ में इकट्ठा नहीं, बल्कि दो या तीन किश्तों में लिया जाता है। कुछ लोग अधिक हिस्से भी ख़रीदते हैं। जब कम्पनी का काम चल निकलता है, और लाभ होने लगता है, तो शेयरों का मूल्य भी बढ़ जाता है। कभी-कभी तो सौ-सौ वाले हिस्से कई सौ में बिकते हैं। किन्तु जब कम्पनी का काम शिथिल रहता है, तब उन हिस्सों का मूल्य घट भी जाता है। आवश्यकता पड़ने पर कम्पनियाँ ऋण भी लेती हैं। जिनकी अच्छी साख होती है, उन्हें कम सूद देना पड़ता है।

राजाराम—और सरकार जो ऋण लिया करती है, उसका क्या होता है?

बिहारी—यों साधारण रूप से सरकार का काम करों, शुल्कों तथा जुरमाने की रक़मों से चलता है। लेकिन जब सरकारी कोष में अनुमान से कम आमदनी होने के कारण कुछ कमी आ जाती है, या उसे किसी देश अथवा बलवाइयों से युद्ध अथवा मुक़ाबला करना पड़ता है, तब वह ऋण लेती है। कभी-कभी किसी विशेष व्यवसाय के लिए भी वह ऋण लेती है। इस ऋण पर अदायगी की अवधि के अनुसार सूद निश्चित रहता है। यह ऋण प्रायः विशेष व्यक्तियों से लिया जाता है। किन्तु जब आवश्यकता अधिक होती है तब वह सर्वसाधारण जनता से भी ऋण लेती है। इन ऋण-पत्रों में रक़म और सूद की दर, कुल रुपया तथा अदायगी का समय निश्चित रहता है।

राजाराम—लेकिन इसकी क्या जिम्मेदारी है कि सरकार रुपया दे ही देगी। समाज में लोग जब रुपया नहीं देते, तब तो उसे अदालत रुपया दिलवाती है, किन्तु सरकार पर कार्रवाई ही क्या की जा सकती है?

बिहारी—यह ठीक है कि सरकार अपनी रिआया का कर्ज़ न चुकाये, तो उसका कोई कुछ कर नहीं सकता। पर प्रायः ऐसा होता नहीं है। कोई भी सरकार अपनी साख खोना नहीं चाहती। इसीलिए जनता का उसपर पूरा विश्वास रहता है। यहाँ तक कि दूसरे देश तक उसे ऋण देने में गौरव का अनुभव करते हैं। इससे उनकी मैत्री जम जाती है और विशेष दशाओं में व्यापारिक तथा राजनैतिक हितों की रक्षा होने की भी सम्भावना रहती है।

राजाराम—अच्छा, जब विदेशी पूँजी अपने यहाँ के व्यवसायों में लग जाती है, तब क्या होता है?

बिहारी—जब आवश्यकता के अनुसार पूँजी देश में न मिले, तो विदेशी की पूँजी लगाने में कोई बुराई नहीं है। परन्तु उस दशा में यह देखना आवश्यक हो जाता है कि विदेशी पूंजीपतियों का प्रभाव अपने देश के व्यवसाय पर न पड़ने पाये। इसीलिए उस समय ऋण की शर्तों को खूब सोच-समझकर स्वीकार करना होता है। कभी-कभी इससे देश का अत्यधिक अहित भी हो जाता है। जहाँ तक सम्भव हो, धनोत्पत्ति के लिए देशी पूँजी का ही प्रयोग करना उचित है।

तीसवाँ अध्याय

पूँजी की वृद्धि

"इधर तीन वर्षों के अन्दर, देखता हूँ, तुमने पूँजी की वृद्धि पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया।"

"पूँजी की वृद्धि खेती में कितनी हो सकती है, यह जानते हुए भी आप ऐसा कहेंगे, इसका मुझे विश्वास न था।"

"यह बात नहीं है राजाराम। तुम्हारी स्थिति से मैं परिचित हूँ। लेकिन मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि पूँजी की वृद्धि किन बातों पर निर्भर रहती है। मुझे विश्वास है कि उन बातों के मालूम होने पर तुम अपनी ग़लती अवश्य स्वीकार कर लोगे।"

"अच्छा तो बतलाइये" राजाराम ने उत्तर दिया।

बिहारी—साधारणतया (१) संचय करने की शक्ति, (२) इच्छा तथा (३) सुविधा—इन तीन बातों पर पूँजी की वृद्धि निर्भर करती है। पहले संचय करने की शक्ति को लेता हूँ। आदमी जितना रुपया पैदा करता है, अगर उतना सब का सब वह ख़र्च कर डाला करे, तो संचय वह कभी कर ही न सके। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है उत्पत्ति का पला उपभोग की अपेक्षा भारी रहे। पर उत्पत्ति अधिक तभी हो सकती है जब उसकी विधियाँ उत्तम, उसके साधन सुलभ और श्रेष्ठ हों। किन्तु यह मानते हुए भी यह तो कहना ही होगा कि यदि कोई व्यक्ति अपनी धनोत्पत्ति को उसी मात्रा में रखता है, जितना उसके जीवन-निर्वाह के लिए चाहिए, तो संचय की आशा उससे की नहीं जा सकती।

राजाराम—हम लोगों में संचय की शक्ति तभी आ सकती है, जब उत्पत्ति के साधन सुलभ होंगे।

बिहारी—उत्पत्ति के साधनों की उन्नति के बिना साधारण जनता धनोत्पादन में सफल नहीं हो सकती। किन्तु यह एक समष्टिगत सिद्धान्त की बात हुई। व्यावसायिक उन्नति की दृष्टि से तो हमें यही कहना पड़ेगा कि यदि तैयारशुदा माल का निर्यात अपने देशवासियों द्वारा हो, यदि जहाज़ों में उन्हीं की पूँजी लगी हो तो धनोत्पत्ति में साधारणरूप से अनेक सुविधाएँ मिल जाती हैं। बैंकों, बीमा-कम्पनियों तथा साझेदारी के अन्य व्यवसायों से भी साख की वृद्धि होती है। मुद्रा की स्थिरता तथा निर्दोषिता से अर्थ-संचय की शक्ति बढ़ती है। साथ ही रेल, तार, डाक तथा जहाज़ की उन्नति तथा उनकी वृद्धि अर्थ-संचय में बहुत सहायक होती है।

ग़रीबी यों तो देशव्यापी है ही। पर ग़रीब लोग दुर्व्यसनों में थोड़ा-बहुत अपव्यय तो फिर भी करते ही हैं। मध्यवित्त के लोग साधारण रूप से सन्तोष का जीवन बिताते हैं। खाने-पीने की उन्हें कमी नहीं रहती। अच्छे साफ़ मकानों में वे रहते हैं। विलासिता की वृद्धि करने के साधनों का भी उनके लिए अभाव नहीं रहता। सारा काम उनका विधिवत् चला जाता है। तो भी इस वर्ग के बहुतेरे लोग अर्थ-संचय नहीं करते। यदि ऐसे लोगों की आय बढ़ भी जाय, तो व्यय भी उसी अनुमान से बढ़ाये बिना वे मान नहीं सकते। इन सब बातों की ओर ध्यान देते हुए अन्त में हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि इन लोगों में अर्थ-संचय की इच्छा ही नहीं होती।

राजाराम—इसका कारण ?

बिहारी—बात यह है कि संचय करना मनुष्य की निजी विचार-धारा पर बहुत कुछ निर्भर करता है। यों तो सभी लोग चाहते हैं कि बीमार होने पर चिकित्सा आदि के लिए हाथ में काफ़ी रुपया रहे और वृद्धावस्था आने पर भी ख़र्च की दिक़्क़त न हो। जिनके संतान होती है, वे उसके लिए भी कुछ-न-कुछ जीविका छोड़ ही जाना चाहते हैं। किन्तु इन बातों को समझते हुए भी जो लोग संचय नहीं करते, कहना होगा, उनमें दूरदर्शिता का अभाव है।

राजाराम—पर संचय लोग अन्यान्य कारणों से भी करते जाते हैं। कुँवर

जी की सदा यही इच्छा बनी रहती है कि लोग उनके विषय में यह कहते पाये जाँय कि पिता के गिरते ज़माने की दशा को उन्होंने बहुत शीघ्र और बहुत अच्छी तरह सम्हाला और उनकी अपेक्षा कुछ अधिक उन्नति कर दिखलायी।

विहारी—हाँ, तुम्हारा विचार ठीक है। अर्थ-संचय में सम्मान की इच्छा बड़ा महत्त्व रखती है। लोग समाज में आदर पाने के लिए प्रायः अर्थ-संचय करते पाये जाते हैं। उनकी आन्तरिक अभिलाषा रहती है कि पूर्वजों की अपेक्षा हमारी आर्थिक स्थिति अच्छी हो और समाज हमारा सम्मान करे।

कुछ लोग जीवन-संग्राम में केवल सफल होने की आशा लेकर अर्थ-संचय करते हैं। वे चाहते हैं कि चाहे जितना आर्थिक संकट क्यों न आ जाय, व्यवसाय में लाभ की अपेक्षा चाहे कभी हानि ही क्यों न होती रहे, किन्तु कारोबार और रहन-सहन में कोई अन्तर न आये। ऐसे लोग वीर हृदय होते हैं। समाज की धनोत्पत्ति के लिए, ऐसे दृढ़ संकल्प वाले व्यक्तियों की बड़ी आवश्यकता रहती है। ऐसे लोग प्रायः सफल होते हैं। उनका अर्थ-संचय करना सार्थक हो जाता है।

राजाराम—लेकिन कुछ लोग केवल सूद खाने के इरादे से संचय करते हैं।

विहारी—हाँ, विशेष रूप से तब, जब सूद की दर ऊँची होती है। बात यह है कि नौकरीपेशा के लोग अधिकतर अपना रुपया बैंकों में जमा रखते हैं। उनकी प्रबल इच्छा रहती है कि वृद्धावस्था आने से पूर्व वे सूद की रकम से इतना रुपया संचय कर लें कि उससे अपना निजी खर्च चलता जाय। मूलधन को ये लोग संतान के लिए छोड़ जाना चाहते हैं।

किन्तु कभी-कभी सूद की दर कम रहने पर भी आदमी संचय करने को विवश होता है। अक्सर देखा गया है कि लोग इतना रुपया संचय कर लेना चाहते हैं कि उसके सूद से उनके लड़के को, पढ़ते समय, कम से कम पचास रुपये मासिक मिलते रहें।

राजाराम—किन्तु कुछ लोग स्वभावतः कंजूस होते हैं।

विहारी—हाँ, होते हैं। वे न स्वयं खर्च कर सकते हैं, न परिवार में किसी को करने देते हैं। वस्त्र पहनने, खाना खाने तथा रहन-सहन के अन्य रूपों में भी उनका एकमात्र उद्देश्य [illegible] संचय रहता है। [illegible] मकान में रहेंगे और

अत्यन्त हीन जीवन व्यतीत करेंगे, स्वास्थ्य चाहे चौपट हो जाय, किन्तु पैसा ख़र्च न हो। परोपकार तथा दान-पुण्य में वे लोग एक पैसा तक नहीं देते, समाज को उनसे लाभ पहुँचने की अपेक्षा प्रायः हानि ही पहुँचती है। एक तो ये लोग बुरा आदर्श स्थापित करते हैं, दूसरे इस तरह संचय किया हुआ धन बहुत हानिकारक होता है। वह कार्य कुशलता को क्षीण करता और धनोत्पत्ति के मूल उद्देश्य के विरुद्ध होकर हमारे सामाजिक संगठन में अन्तर पैदा करता है। कभी-कभी ऐसे लोग जब सूदख़ोर हो जाते हैं, तब ग़रीबों का शोषण और सर्वनाश सबसे अधिक यही लोग करते हैं। ये लोग समाज में अनादर के भी पात्र बन जाते हैं। यहाँ तक कि लोग कहने लगते हैं कि उनका तो सवेरे मुँह देखना भी पाप है।

किन्तु इसके विपरीत मिलनेवाले उदाहरण भी हैं। कुछ लोग स्वभावतः परोपकारी होते हैं। परिवार और उसकी आवश्यकताएँ एक ओर बनी रहती हैं किन्तु तो भी वे आयका एक अंश केवल परोपकारार्थ संचय करते रहते हैं। लोगों को पहले कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, किन्तु अन्त में जब उनका जीवनान्त निकट आ जाता है, तो वही लोग शिक्षा-संस्थाओं, अनाथालयों, सेवा-सदनों, मातृ-मन्दिरों, स्त्री-चिकित्सालयों, शिशु-चिकित्सालयों तथा अन्यान्य सार्वजनिक-हितों के लिए सहस्रों, लाखों रुपये की सम्पत्ति दान कर जाते हैं। इस प्रकार परोपकार-वृत्ति भी अर्थ-संचय में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

राजाराम—कुछ लोग बीमा कराकर रुपया संचय करते हैं।

बिहारी—बात यह है कि समाज में एक वर्ग ऐसा भी होता है जो अपने पेशे के कारण हमेशा जीवन-संकट अपनी हथेली पर लिये रहता है। पहाड़ी प्रान्तों के मोटर ड्राइवर, जहाज़ अथवा स्टीमरों के कर्मचारी, वायुयान-चालक आदि व्यक्ति ऐसे हैं, जो किसी भी क्षण अपनी जान खो सकते हैं। ऐसे लोगों की स्वाभाविक मृत्यु भी सम्भवतः कम ही होती है। इसीलिए ऐसे व्यक्ति अपने लिए नहीं, वरन् अपनी सन्तान के लिए बीमा करा लेते हैं। और इस प्रकार सन्तान की ओर से वे इस क्षेत्र में निश्चिन्त रहने के लिए बीमा करा लेते हैं। आजकल लोग एक निश्चित अवधि तक अर्थ-संचय कर लेने के लिए भी बीमा कराते हैं।

राजाराम—कुछ सन्तों ने अर्थ-संचय के ख़िलाफ़ भी आवाज़ उठाई है। उनका कहना है कि जीवन तो अनिश्चित है। कौन जानता है, कब प्राणान्त हो जाय। कोई किसी का नहीं होता। सभी मिथ्या है। सब कुछ तो यहीं पड़ा रह जाता है। तब संचय क्यों किया जाय?

बिहारी—किन्तु ऐसे लोग, अर्थशास्त्र की दृष्टि से, समाज के लिए हानि-कारक हैं। वे निराशावादी होते हैं, समाज में निरुत्साह, अकर्मण्यता और हीनता की विषमय भावना फैलाने के वही ज़िम्मेदार हैं। और यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जिस समाज में ऐसे व्यक्ति यदि अनियंत्रित होंगे, वह समाज अथवा देश अर्थ-संचय अपेक्षाकृत अवश्य ही कम कर पायेगा।

राजाराम—कुछ हो, हम तो एक सीधी बात जानते हैं कि कभी-न-कभी आदमी के जीवन में ऐसा समय ज़रूर आता है, जब वह बहुत चाहने पर भी संचय कर नहीं पाता।

बिहारी—बात यह है कि संचय करने की इच्छामात्र से तो वह हो नहीं सकता। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि देश में शान्ति और सुव्यवस्था हो और जनता को अनुकूल सुविधाएं प्राप्त हों। जब मनुष्य देखता है कि उसके प्रयत्नों का फल उसे अवश्य मिलेगा और वह उसका भोग कर पायेगा, तब उसकी स्वाभाविक प्रेरणा अर्थ-संचय की ओर हो जाती है। पर जब देश में अराजकता फैली हो, जब शान्ति का जीवन जनता के लिए एक स्वप्न से नष्ट ही हो गया हो, जब सरकारी शोषण नीति का दौर-दौरा तीव्र गति से हो, तब अर्थ-संचय बहुत कम मात्रा में होगा। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि जिन देशों में गड़ा हुआ धन अधिक पाया जाता है, वे देश प्रायः वही होते हैं, जिनमें अशान्ति और कुव्यवस्था का राज्य हुआ करता है। उस दशा में आभूषणों में भी रुपया लगा देने की इच्छा बलवती हो जाती है। लोग सोचने लगते हैं कि चोरी, लूटमार, भगदड़ के अवसरों पर जो आभूषण शरीर पर रह जायेंगे, वही धन संकट में हमारा साथ देगा। पर आभूषण बनवाने में सबसे बड़ा दोष यह है कि उनमें लगी हुई सम्पत्ति का, गढ़ाई, घिसाई के रूप में, ह्रास ही होता रहता है। गड़ा हुआ धन जितना सुरक्षित

रहता है, घटने की उसमें जो कम गुंजाइश होती है, तो सबसे बड़ा दोष उसका यह भी है कि वह कभी-कभी धोखा बहुत देता है। हमारे देश में धन गाड़ने की प्रथा पुरानी है। प्रायः लोग ज़मीन में दरवाज़ा अथवा दीवाल के नीचे रुपया गाड़ देते हैं। जीवनकाल में तो वे अपनी संतान को इसलिए नहीं बतलाते कि उन्हें भय लगा रहता है, कहीं जान लेने पर वे लोग उसे अभी ही उड़ा न डालें। इसका परिणाम प्रायः यह होता है कि लोग चट्-पट् जीवन-यात्रा समाप्त कर चल देते हैं। और संतान को गुप्त धन बताने की बात गुप्त ही पड़ी रह जाती है। हमारे देश में इस प्रकार गड़ा हुआ मालूम नहीं कितना धन अभी तक गुप्त है। और अर्थशास्त्र की दृष्टि से देश की धनोत्पत्ति के लिए यह प्रथा सर्वाधिक विघातक एवं नाशकारी साबित हो चुकी है।

राजाराम—आपने एक दिन बतलाया था कि पहले आदमी जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं का ही संचय करता था। जैसे—अनाज, तेलहन, गुड़, कपड़ा, लकड़ी आदि। उस समय मुद्रा का आविष्कार ही नहीं हुआ था। लेकिन उस समय लोगों को इन वस्तुओं का संचय करने में कितनी असुविधा होती होगी। इस दृष्टि से हम लोग आज अर्थ-संचय करने में कितनी सुविधा प्राप्त किये हुये हैं!

बिहारी—हाँ, सोचने की बात है कि उस ज़माने में इन जीवनोपयोगी वस्तुओं की रक्षा करने में कितनी जगह घिरती होगी, और उनको चोरों से बचाकर रखना कितना कठिन होता होगा! इसके सिवाय वस्तुएँ अधिक काल तक अच्छी दशा में रह भी तो नहीं सकती। जल्दी ही ख़राब हो जाने का भय सदा बना ही रहता होगा। किन्तु फिर इसी स्थिति में जब सुधार हुआ, तब सोने-चांदी आदि धातु के टुकड़ों के रूप में धन जमा किया जाने लगा। मुद्रा का आविष्कार इसके भी बाद की चीज़ है।

लेकिन संचय की सुविधाएँ तभी अधिक हो सकती हैं, जब देश में व्यापार और उद्योग-धन्धों की यथेष्ट उन्नति हो। महाजनी अथवा बैंकिंग-प्रणाली से भी लोगों को पूँजी वृद्धि करने में सुविधा मिलती है। पुराने ज़माने में लोग जिन महाजनों के यहाँ जो रुपया जमा करते थे, वे केवल रुपये को मांग के वक्त देने का उत्तरदायित्व लेते थे। बाद में वे फिर थोड़ा

सूद भी देने लगे। पर अब तो जगह-बजगह बैंक खुल गये हैं और उनमें रुपया जमा करने से वह सुरक्षित तो रहता ही है, निश्चित दरों के अनुसार उन पर सूद भी कम नहीं मिलता।

राजाराम—अच्छा, जिन देशों में प्रायः भूकम्प आया करते हैं, वहाँ लोग पूँजी की वृद्धि कैसे करते हैं?

बिहारी—जहाँ भूकम्प, बाढ़, महामारी आदि प्राकृतिक संकट प्रायः उपस्थित होते रहते हैं, जहाँ मृत्यु और विनाश मिलकर नग्न नृत्य दिखलाते हैं, वहाँ धन का संचय अपेक्षाकृत कम होना स्वाभाविक ही है।

बस, अब पूँजी की वृद्धि के सम्बन्ध में केवल एक विषय ऐसा रह गया है, जो तुम्हें जानना आवश्यक है। और वह है मैशीनों का प्रयोग। इस युग में पूँजी का सर्वाधिक भाग मैशीनों के रूप में आगया है। यहाँ तक कि इस युग को लोग मैशीनयुग कहने लगे हैं। व्यवसाय और उद्योग-धंधों द्वारा पूँजी की वृद्धि जैसी तीव्र गति से हो रही है, उससे दूरदर्शी अर्थशास्त्रियों को यह आशंका हो उठी है कि एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब देश के अधिकांश मज़दूर बेकार हो जायँगे, तो भी कल-कारख़ाने चलते रहेंगे। वास्तव में यह स्थिति भयावह है। मैशीनों की वृद्धि यदि मनुष्य को निकम्मा, बेकार, व्यर्थ और हीन बनाने जा रही है, तो सबसे अधिक पतन उन मिल-मालिकों, कल-कारखानेवालों का होगा, जिन्होंने यह समझ रक्खा है कि मैशीन ही पूँजी है। जिस मनुष्य के मस्तिष्क ने मैशीन का आविष्कार किया है, वही मनुष्य-उन अवशिष्ट श्रमिकों के भीतर भी हुंकार कर सकता है, जिनके बल पर वे अधिकांश मज़दूरों का जीवन व्यर्थ कर डालने का सपना देख रहे हैं मनुष्य समवेदनशील प्राणी है। मानवता की रक्षा के नाम पर वह कभी भी अपने कर्तव्य-भाव से दबकर ऐसा सामूहिक संगठन कर सकते हैं कि सारी की सारी मैशीनरी खड़ी रहे और जिसे वे पूँजी समझ बैठे हैं, वह मिट्टी हो जाय।

राजाराम—(आश्चर्य्य से) आप यह कह क्या रहे हैं! क्या ऐसा भी कभी सम्भव हो सकता है?

बिहारी—क्यों नहीं? अगर प्रत्येक भारतवासी आज इस प्रतिज्ञा का पालन करने लगे कि वह खद्दर ही पहनेगा, तो जानते हो, इसका क्या नतीजा हो!

राजाराम—(हँसता हुआ) यही कि मिलों में सियार बोलते और कबूतर घोंसला बनाते नज़र आयें।

बिहारी—किन्तु हमें विश्वास है, ऐसा होगा नहीं। श्रमिक चेतेंगे और व्यवसायी लोग भी। मैशीन की वृद्धि के साथ ही साथ मज़दूरों की सुविधा और मज़दूरी की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जाने लगेगा।

राजाराम बोल उठा—आज तो आपने मुझे इतनी बातें पूँजी की वृद्धि के सम्बन्ध में बता दी हैं कि मेरा हृदय ज्ञान और उसके आनन्द से भर गया है। मैं इसे पूँजी के रूप में संचित करके रक्खूँगा।

इकतीसवाँ अध्याय

प्रबन्ध

मोहन अपने चाचा के साथ कानपुर आया हुआ है। आज वह चाचा के साथ जनरलगञ्ज गया हुआ था। उसको एक धोतीजोड़ा लेना था और एक कुरता बनवाना था। कल उसे पंडित सत्यदेव पांडेय के लड़के की बारात में जाना है। दोनों एक बजाज़ की दूकान पर बैठे कपड़ा देख रहे थे। दूकान पर भीड़ ज़्यादा थी। परन्तु एक तो कपड़ा निकालनेवाले लड़कों की संख्या कम थी, दूसरे जो माल दिखलाने के लिए एक बार ग्राहक के सामने फैला दिया जाता था वह ज्यों का त्यों पड़ा रहता था। बाद में उसके ऊपर अन्य थान आ जाते थे। इसका फल यह होता था कि जो कपड़ा दूकान में मौजूद भी रहता था, वह कभी-कभी अन्य कपड़ों के ढेर में इस तरह छिप जाता था कि फिर आपही आप दिखलाई न देकर मुश्किल से खोजने पर मिलता था।

कई एक धोतीजोड़े मोहन ने देखे, किन्तु उसे पसन्द एक भी न आया। किसी का कपड़ा पसन्द आया, तो किनार नहीं अच्छी लगी। और जो कहीं किनार पसन्द भी आयी, तो कपड़ा नहीं जंचा। अन्त में जो दूकानदार उसे कपड़ा दिखा रहा था, वह बोला—नम्बर ४९५३ का धोतीजोड़ा निकालना।

मोहन प्रतीक्षा में था कि ४९५३ नम्बर का धोतीजोड़ा अब आता है, अब आता है। परन्तु जोड़ा न आया। कपड़ा निकालनेवाला लड़का उसे बराबर खोज रहा था। पर वह मिलता न था। बात यह थी कि एक दूसरा

लड़का उसे निकालकर एक अन्य ग्राहक को दिखलाने के लिए उसे दूकानदार को पहले ही दे चुका था।

चाचा बोले—मुझे देर हो रही है। आपके यहाँ अगर उस नंबर का धोतीजोड़ा न हो, तो फिर कोई दूसरा ही दिखलाइये।

दूकानदार उस लड़के पर बिगड़ उठा। बोला—ए गोपी, ४९५३ का धोतीजोड़ा नहीं निकाला अब तक! इस तरह काम नहीं चलने का। मुझे अब तुमको जवाब देकर दूसरा आदमी रखना पड़ेगा।

गोपीनाथ—लालाजी, बहुत ढूँढ़ा, पर मिलता जो नहीं है।

चाचा उठ खड़े हुए। वे यह कहने ही वाले थे कि अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ। पर उसी क्षण एक और साहब आ गये। वे अलग उलहना देने लगे। बोले—देखिये साहब, चार अदद कपड़ा जो मैंने ख़रीदा था घर जाने पर मैंने जो बण्डल खोला तो मालूम हुआ, कि उसमें की एक साड़ी मेरी यहीं रह गयी और उसकी जगह पर यह ४९५३ नम्बर का धोती जोड़ा चला आया।

दूकानदार बोल उठा—ये लोग बिल्कुल अन्धे बनकर काम करते हैं, बाबू साहब। मैं तो इनसे आजिज़ आ गया। माफ़ कीजियेगा। कैसी साड़ी आपने पसन्द की थी?

ग्राहक ने कहा—वह रही, जिसमें किनारी पर हंसों की पांत है।

दूकानदार ने उस साड़ी को, जो पास ही अब भी पड़ी हुई थी, उठाकर एक नौकर से कहा—इसे बण्डल की तरह बांधकर दे झट से।......और तब उसने मोहन के चाचा से कहा—लीजिये, वह जोड़ा यही है। भूल से यह बाबू साहब के बण्डल में चला गया था।

जोड़ा मोहन के पसन्द आ गया और दाम चुकाकर चाचा के साथ वह वापस चला आया।

जब दोनों वापस चल रहे थे, तब मोहन के चाचा ने कहा—यह दूकान बहुत जल्दी घाटे के कारण उठ जायगी। इसका प्रबन्ध बहुत गड़बड़ है। धनोत्पत्ति में प्रबन्ध का बहुत बड़ा स्थान है। जो व्यवसायी प्रबन्ध-कुशल नहीं है, वह कभी सफल हो नहीं सकता।

घर निकट ही था। मोहन रास्ते में तो कुछ नहीं बोला। पर ज्यों
निवास-स्थान पर आया, त्योंही उसने वही विषय फिर छेड़ दिया। बोला
आपने कहा था कि धनोत्पत्ति में प्रबन्ध का बहुत बड़ा स्थान है। किन्तु प
आपने बतलाया कि धनोत्पत्ति के मुख्य साधन हैं—भूमि, श्रम और पूँजी।

चाच—हाँ, गत शताब्दि तक तो धनोत्पत्ति के ये तीन साधन ही म
जाते थे। पर अब इनके सिवा दो और बढ़ा लिये गये हैं। पहला प्रब
दूसरा साहस।

मोहन—लेकिन प्रबन्ध भी एक तरह का श्रम ही तो है। दो तरह
श्रम होता है—शारीरिक और मानसिक। प्रबन्ध को हम मानसिक श्रम
ले सकते है।

चाचा—किन्तु श्रमिक तो वही कार्य करता है, जो उसे दिया जाता है
कार्य करने में वह स्वतंत्र नहीं होता। प्रबन्धक की स्थिति इससे ऊपर है
वह तो अनेक प्रकार के श्रमिकों से, उनकी योग्यता के अनुसार, ठीक ढंग
काम लेनेवाला व्यक्ति होता है। उसे पहले स्थान अथवा भूमि चुननी हो
है, फिर वह श्रम-विभाग के सिद्धान्त के अनुसार श्रमिकों को इकट्ठा कर
है। नवीन ढंग के, आधुनिक तथा उपयोगी यंत्रों और औज़ारों का उपय
करके उत्पत्ति की वृद्धि करना उसी का काम है। कारख़ाने के लिए कच्चे म
को उचित मात्रा में, उपयुक्त समय पर, उचित मूल्य पर, ले रखना उसी
कार्य है। 'लागत कम और उत्पत्ति अधिक'—इस सिद्धान्त की ओर निरन
दृष्टि रखकर चलना उसके लिए आवश्यक है। बाज़ार-भाव का ज्ञान, अ
मूल्य पर माल की निकासी के क्षेत्रों का पता रखना उसका प्रमुख कार्य है
इतना ही नहीं, जन-साधारण की रुचि के क्रमिक विकास का अध्ययन क
रहना भी उसके लिए अत्यन्त आवश्यकीय है।

मोहन—बहुत अधिक जिम्मेदारी का काम है।

चाचा—ज़िम्मेदारी का तो है ही, किन्तु अधिकांश में समझदारी का है
लेकिन प्रबन्धक में और भी कई गुण होने चाहिए। जैसे—

१—साधारण ज्ञान और अनुभव।

२—कौन व्यक्ति कैसा है, किस हद तक विश्वसनीय है, उसमें कितनी योग्यता और कार्य-कुशलता है, चटपट इसका निर्णय कर लेने की क्षमता।

३—व्यवहार-कुशलता; ताकि सब उससे सन्तुष्ट रहें, उसके प्रभाव से काम करें और उसके आदेशानुसार चलें।

४—देश-विदेश की आवश्यकताओं, रुचियों और फ़ैशनों के परिवर्तनों का ज्ञान।

५—माँग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार कार्य का आयोजन करने की क्षमता।

६—नवीन यंत्रों तथा वैज्ञानिक आविष्कारों का पूर्ण ज्ञान।

७—देश-विदेश की औद्योगिक स्थिति का बराबर परिचय रखना, जिससे अवसर आने पर वह अपने माल को अच्छे-से-अच्छे दाम पर निकाल सके।

मोहन—आपने तो प्रबन्धक के लिए इतने गुण बता दिये, जितने किसी व्यक्ति में मिलना दुर्लभ है।

चाचा—समस्त गुण न होने पर अधिकांश गुण रखनेवाला व्यक्ति भी अपेक्षाकृत अधिक अच्छा प्रबन्धक हो सकता है। परन्तु अभी एक गुण तो बाक़ी ही है। और वह यह कि उसे विज्ञापक बहुत उच्चकोटि का होना चाहिए।

मोहन—यह गुण तो अपने देशवासियों में अब बहुत तेज़ी के साथ आ रहा है। स्टेशनों पर देखिये, कितने आकर्षक विज्ञापन देखने को मिलते हैं! ट्रेन पर दवाइयों के एजण्ट जब अपनी किसी वस्तु की प्रशंसा करने लगते तब ऐसा जान पड़ता है, मानो धनवन्तरि महाराज का अवतार हो गया है और अब शारीरिक व्याधि नाम की चीज़ दुनियाँ से उठ ही जायगी! अख़बार-पत्रों के आधे से अधिक पृष्ठ विज्ञापन से ही रँगे रहते हैं। सड़कों से गुज़रने पर इधर-उधर दीवालों पर महाकाय अक्षरों में इतने बड़े-बड़े विज्ञापन देख पड़ते हैं कि सहसा दृष्टि उनपर चली ही जाती है। मेलों अथवा उत्सवों पर कितने अधिक नोटिस हमारे हाथों में पड़ जाते हैं।

चाचा—हाँ, इस क्षेत्र में हमारे यहाँ उन्नति अवश्य हुई है। पर विज्ञापन देने में अत्युक्ति करना उचित नहीं है। इससे ग्राहकों को बहुत धोखा होता है।

लेकिन विज्ञापन का एक दूसरा पहलू भी है। और वह यह कि विज्ञापन का असली उद्देश्य है अपने माल की प्रशंसा अधिक से अधिक व्यक्तियों तक पहुँचाना। वस्तु का जितना अधिक प्रचार होगा, उतनी ही अधिक उसकी बिक्री होगी। बिक्री की वृद्धि का अर्थ है माँग की वृद्धि। और माँग की वृद्धि उत्पत्ति के लिए सब से अधिक प्राण-पोषक स्थिति है। इस युग में उत्पत्ति बड़े दायरे पर की जाती है। जो माल तैयार किया जाता है, यह आवश्यक नहीं है कि उसकी खपत केवल स्थानीय ग्राहकों तक सीमित रहे। वरन् सबसे अच्छा और कुशल उत्पादक तो वह होता है जो अपने माल की खपत का क्षेत्र संसार भर में फैला हुआ देखना चाहता है। जितने भी देश वाणिज्य-व्यवसाय में उन्नत हैं, उनकी औद्योगिक संस्थाओं के प्रबन्धक अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करने में इतने कुशल हैं कि उन्होंने विज्ञापन को एक कला बना दिया है। वे लोग विज्ञापन पर लाखों-करोड़ों रुपये ख़र्च करते हैं। अभी हमारे यहाँ इस कला की महत्ता की ओर उतना ध्यान नहीं गया, जितना अन्य उन्नत देशों में है। विदेशों में अपने देश की वस्तुओं का प्रचार करना अभी हमने कहाँ अपनाया है।

मोहन—हमारे पास इसके लिए उपयुक्त साधन भी तो नहीं हैं। यातायात के अधिकांश साधन मुख्यतया विदेशी व्यापारियों के ही हाथों में हैं।

चाचा—तुमने यह विषय बहुत उपयुक्त अवसर पर उपस्थित किया। वास्तव में यातायात के साधनों का प्रबन्ध के साथ बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। जो प्रबन्धक अपनी वस्तुओं के प्रचार तथा निकासी में यातायात के साधनों का मितव्ययिता के साथ उपयोग करना नहीं जानता, आज की प्रतियोगिता-शील दुनियाँ में, वह, व्यावसायिक उन्नति की दृष्टि से, कभी अग्रसर नहीं हो सकता। यातायात के साधनों के उपयोग का अर्थ है अपने पदार्थों को कम-से-कम ख़र्चे में ऐसे स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना, जहाँ तत्काल उसकी अधिक-से-अधिक माँग हो, अथवा शीघ्र होने की सम्भावना हो। सोचने की बात है कि जिस माल के बनाने में भूमि, श्रम और पूँजी का उपयोग अधिकाधिक परिमाण में किया जा चुका है, यदि वह जहाँ-का-तहाँ स्थिर

रह गया और मंडियों में समयानुसार नहीं पहुँचाया जा सका, तो उस माल को तैयार करना व्यर्थ ही तो हो जायगा।

मोहन—किन्तु यातायात के साधन हैं रेल, डाक, तार, समुद्री तथा हवाई जहाज़। और इन पर अधिकार है, या तो हमारी सरकार का, अथवा विदेशी व्यापारियों का। इस कारण महसूल कितना अधिक देना पड़ता है और यातायात की असुविधाएँ कितनी अधिक हैं!

चाचा—पर पहले तो सड़कों, नहरों तथा नदियों से ही यातायात होता था। उसमें कितना अधिक समय और श्रम लगता था? तो भी माल के सर्वथा सुरक्षित रहने की कोई गारंटी नहीं थी। केवल समाचार आने-जाने में हफ़्तों और महीनों लग जाते थे। अब तो तार तथा फ़ोन से ही सौदे तै हो जाते हैं और माल का आर्डर और भुगतान तक कर दिया जाता है। समुद्री तथा हवाई जहाज़ों के द्वारा माल को दूसरे देशों में पहुँचाने की कितनी सुविधा हो गई है। हाँ, एक बात ज़रूर है कि आजकल पोस्टेज बढ़ गया है। पार्सल से माल भेजने में अधिक पोस्टेज लगाना पड़ता है। इसी प्रकार जहाज़ का किराया अधिक देना पड़ता है। व्यावसायिक उन्नित के मार्ग में यह एक बड़ी बाधा है! माना कि यातायात के इन आधुनिक साधनों के द्वारा धनोत्पत्ति के प्रबन्ध में कुछ सुविधाएँ हो गई हैं, किन्तु जब तक इन साधनों से हमारी जनता की सुविधाओं का घनिष्ट सम्बन्ध न होगा, तब तक व्यावसायिक दृष्टि से हम धनोत्पत्ति में पूर्ण सफलता कैसे प्राप्त कर सकते हैं।

मोहन—किन्तु प्रबन्धक के सामने एक कठिनाई भी तो रहा करती है। यह निश्चय करना कितना कठिन कार्य है कि भूमि, श्रम, पूँजी तथा प्रबन्ध आदि उत्पत्ति के साधनों में से किस पर बहुत अधिक व्यय करे और किस पर कम।

चाचा—बेशक, यह निर्णय करना कम चतुरता का काम नहीं है। किन्तु इसके लिए अर्थशास्त्र में एक नियम ही अलग निर्धारित कर दिया गया है। उसे 'प्रतिस्थापन सिद्धान्त' कहते हैं। इसके द्वारा प्रबन्धक यह विचार करता है कि किस साधन के परिमाण को घटाने और किसकी मात्रा को बढ़ा देने से अभीष्ट लाभ अधिकतम होगा। वह चेष्टा करता है कि सभी साधनों

बत्तीसवाँ अध्याय

साहस

मोहन अपने चाचा के साथ गंगा-स्नान के लिए बग़ल में धोती दबाये हुए सरसैया-घाट की ओर धीरे-धीरे बातें करते हुए जा रहा है। एक ओर फ़ुटपाथ पर स्त्रियों के आने-जाने का मार्ग बना हुआ है। उसी से लगी हुई सड़क है। स्नानार्थी लोगों की संख्या इतनी अधिक है कि एक मेला-सा जान पड़ता है। इक्के, तांगे, मोटरें आदि सवारियों पर लोग बराबर इधर-से-उधर आ जा रहे हैं।

मोहन इसी समय बोल उठा—चाचा, क्या आज कोई पर्व है? स्नान करनेवाले लोग यहाँ इतनी अधिक संख्या में क्यों देख पड़ते हैं! अगर सम्हलकर चलने में ज़रा-सी भी असावधानी हो जाय, तो सवारियों से कुचल जाने में देर न लगे। और सड़क के एक ओर से दूसरी ओर जाना तो और भी ख़तरनाक है।

चाचा—इस समय यहाँ हमेशा इसी तरह की भीड़ रहती है। सड़क के किनारे-किनारे चलने में कोई विशेष दिक्क़त नहीं होती। क्योंकि यहाँ स्नानार्थी पैदल ही चलते हैं। किन्तु बीच सड़क में चलने पर ज़रूर विशेष सावधानी की ज़रूरत पड़ती है। जब वहाँ सवारियाँ इधर-से-उधर काफ़ी तादाद में आ-जा रही हैं, तब सड़क के एक ओर से दूसरी ओर जाना ठीक भी तो नहीं है।

मोहन—तो भी ज़रूरत पड़ने पर लोग पार तो करते ही हैं। सचमुच चाचा ये लोग बड़े साहसी हैं। मैं तो ऐसी दशा में सड़क पार करते हुए कभी इधर से उधर नहीं जा सकता। यह बहुत बड़े साहस का काम है।

नर के लिये चुप हो रहे।

। पूछा—क्या सोच रहे हैं ?

ा—पंडित सत्यदेव पाँडेय के स्वभाव की एक ऐसी ही बात का मुझे
याद हो आया।

मोहन—बतलाइये।

चाचा—एकबार पाँडेयजी अपने कई मित्रों के साथ बैठे हुए बातें कर रहे थे। विषय यह उपस्थित था कि ऐसा कौन-सा व्यापार किया जाय, जिसमें आमदनी स्थायी हो। कालिकाप्रसाद ने कहा—एक डेरी-फ़ार्म खोला जाय और दूध की सप्लाई का काम किया जाय। अच्छी दुधार गायें पाली जायँ। दूध का दूध होगा और बछड़े होंगे सो अलग। बस लाभ-ही-लाभ होगा। तीन वर्ष में मूलधन अलग निकल आयेगा। फिर सारा खेल मुनाफ़े में चलेगा।

इसपर लालताप्रसाद बोले—हाँ, यह व्यवसाय सब से अच्छा है।

लेकिन पाँडेयजी कुछ सोच-विचार में पड़ गये। बोले—लाभ तो ज़रूर हो सकता है, लेकिन…।

कालका ने पूछा—लेकिन क्या ?

पाँडेयजी बोले—लेकिन यही कि कभी-कभी पशुओं को ऐसी-ऐसी भयंकर बीमारियाँ हो जाया करती हैं कि दो-चार दिनों के अन्दर ही सारे-के-सारे मर-मरा जाते हैं। कोई आदमी बीमार पड़ जाय, तो उसकी दवा तो हम .खुद कर लेते हैं, पर इन पशुओं की बीमारियों का ज्ञान हममें से कितने लोगों को होता है ? सो भाई, इस व्यापार में लाभ जैसा है, ख़तरा उससे कम नहीं है।

इसपर थोड़ी देर तक फिर बातचीत बन्द रही। अन्त में लालताप्रसाद ने सुझाया—अच्छा, अगर कपड़े की दूकान की जाय, तो ?

पाँडेयजी बोले—कपड़े की दूकान में और तो सब ठीक ही ठीक है; पर उधार-खाता बहुत चलता है। सारी रक़म डूब जाती है। मान-मुलाहजे में किसको-किसको इनकार किया जाय ?

कालका बोले—हाँ, तुमने ठीक सोचा। इस व्यापार में कम ख़तरा नहीं है।

तब कालका बाबू ने ही प्रस्ताव किया—अच्छा तो फिर लकड़ी का टाल

क्यों न खोला जाय ? थोड़े समय में रुपये दूने होते हैं। लकड़ी चार-पाँच मन के भाव से देहात से आती है, और यहाँ दो मन के भाव से बिकती है। चिराने भर की मज़दूरी का ख़र्चा पड़ता है।

लालता उछल पड़े। बोले—बस, यही ठीक रहा।

पर पाँडेयजी की तबियत तब भी नहीं भरी। बोले—और तो सब ठीक ही ठीक है; पर जो कहीं लकड़ी के टाल में आग लग गई, तो ?

तब लालता और कालका दोनों एक साथ कहने लगे—हाँ, यह बात तो है ! आग अकसर लकड़ी के टाल में ही लगती है ! दोस्त-दुश्मन तो फिर हरएक आदमी के होते ही हैं। कौन जाने, कब क्या हो !

इस तरह ये पाँडेयजी महाराज भी कम साहसी नहीं हैं !

और इतना कहकर चाचा मुसकराने लगे !

मोहन—पर इस उदाहरण से आपका मतलब क्या है, इसको थोड़ा-सा स्पष्ट भी तो कीजिये।

चाचा—ये लोग मूल ही में कितनी बड़ी ग़लती कर रहे थे ! तुम्हें मालूम है, भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध—ये चार धनोत्पत्ति के साधन हैं। पर इनके सिवा, ऐसा ही आवश्यक एक साधन और भी है। और वह साहस है। जीवन में अगर साहस ही नहीं है, तो मनुष्य की उन्नति की कोई आशा नहीं की जा सकती। धनोत्पत्ति में भी साहस की ऐसी ही उपयोगिता है। मान लो कि धनोत्पत्ति के जितने भी अन्य साधन हैं, किसी व्यक्ति के पास उनकी यथेष्ट व्यवस्था है। भूमि, श्रम और पूँजी का काफ़ी संगठन है। प्रबन्ध भी वह कर सकता है। पर उसके मन में एक तरह का भय बना हुआ है कि कहीं ऐसा न हो कि इसमें लाभ होने के बजाय हानि हो। वह ख़ूब सोच-विचारकर काम करता है। प्रत्येक पैसे की उपयोगिता पर उसकी दृष्टि रहती है। पर वह हानि उठाने के लिए तैयार नहीं है। वह एक निश्चित आय चाहता है। मासिक वेतन लेना भी उसे स्वीकार है। पर वह इस झंझट से दूर रहना चाहता है कि अगर हानि हो तो उसको सहन करना उसके लिए अनिवार्य्य हो जाय। सोचने की बात है कि इस प्रकार अन्य समस्त साधनों के होते हुए भी धनोत्पत्ति का आयोजन कार्य-रूप में परिणत हो नहीं सकता।

मोहन--हाँ, साहस के बिना तो ऐसा सम्भव नहीं है।

चाचा—क्योंकि धनोत्पत्ति तो तभी होती है, जब किसी व्यक्ति में इतना साहस होता है कि वह हानि-लाभ का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है। अर्थशास्त्र में इस जिम्मेदारी को जोखिम कहते हैं।

मोहन—किन्तु जो लोग कारख़ाना खोलते और चलाते हैं, वे हानि-लाभ सहने की हिम्मत भी रखते हैं। और ऐसा तभी हो सकता है जब कोई एक ही व्यक्ति भूमि, श्रम और पूँजी लगाकर धनोत्पादन की पूर्ण व्यवस्था करले······।

बात काटते हुए चाचा बोले—व्यवस्था शब्द के बजाय यहाँ तुम्हें प्रबन्ध शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए। पारिभाषिक शब्दों को बदलना ठीक नहीं होता।

मोहन—अच्छा, प्रबन्ध ही सही। हाँ, तो वह अगर हानिलाभ की जोखिम भी उठा ले, तब तो साहस का कोई विशेष महत्व न रह जायगा।

चाचा बोले—जोखिम उठाने की शक्ति का ही दूसरा नाम साहस है। फिर यह उदाहरण उत्पत्ति की साधारण स्थिति के लिए ही लागू हो सकता है। पर आजकल तो धनोत्पत्ति का कार्य इतने बड़े दायरे से होता है कि उसमें हजारों श्रमिक लगते हैं और करोड़ों रुपया व्यय होता है। बहुतेरे पूँजीपति ऐसे कार्य में अपना रुपया लगाने को तैयार रहते हैं। पर वे अपने रुपये के लिए एक निश्चित सूद की आय की गारंटी चाहते हैं। वे इस तरह का जोखिम नहीं उठाना चाहते कि उनके मूलधन में ही कमी पड़ जाय। वे ऐसे व्यक्ति को इस धनोत्पत्ति के काम में सम्मिलित करना चाहते हैं, जिसके पास उत्पादन में लगाने के लिए थोड़ी-बहुत निजी पूँजी अवश्य हो और जिसमें इतनी योग्यता हो कि वह प्राप्त पूँजी का उपयोग धनोत्पत्ति के लिए ऐसे उत्तम ढंग से करे, ऐसे-ऐसे साधनों से काम ले और जोखिम सहने की उसमें इतना दम हो कि कारख़ाने की हानि का सब जोखिम अपने ऊपर ले-ले और यदि विशेष मुनाफ़ा हो तो उसे भी लेले। इस प्रकार धनोत्पत्ति में प्रबन्ध के होते हुए भी साहस अपना एक अलग महत्व रखता है।

मोहन—लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि प्रबन्धक साहस से काम लेना

जानता ही न हो। जिस प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि साहस रखते हुए कोई व्यक्ति प्रबन्ध करने की योग्यता से रहित ही हो।

चाचा—सिद्धान्तरूप से तो तुम्हारा यह कथन यथार्थ है। पर प्रायः देखा यही जाता है कि प्रबन्धक अगर साहसी व्यक्ति से पृथक् होता है, तो प्रायः वह वैतनिक होता है। और उस दशा में उसके साथ उसका मालिक और नौकर का-सा सम्बन्ध रहता है। इसके सिवा साहसी और प्रबन्धक में मूलतः एक भेद है। पूँजीपति प्रायः साहसी व्यक्ति से भिन्न होता है। साहसी को तो यह आश्वासन रहता है कि अगर कारख़ाना चलेगा, तो मुझे लाभ का अंश मिलेगा। अतएव वह बहुत अंशों में दूरदर्शी और बुद्धिमान होता है। पर पूँजीपति को इस बात से कोई प्रयोजन नहीं रहता कि कारख़ाना चले ही। उसे तो अपने रुपये के सूद से मतलब है, कारख़ाना चले, चाहे बन्द हो जाय। और इसलिए उसके सूद को चुकाते रहने की जिम्मेदारी सदा साहसी पर होती है।

मोहन—तब तो साहसी का काम सब से अधिक जिम्मेदारी का है।

चाचा—निस्सन्देह। किन्तु एक सब से बड़ी बात उसके पक्ष में भी है। उत्पत्ति के अन्य जितने भी साधन हैं, सबके प्रतिफल निर्धारित रहते हैं। भूमि के लिए लगान—अथवा मकान के लिए किराया—निश्चित रहता है। श्रमिक के लिए वेतन, पूँजी के लिए सूद और प्रबन्धक के लिए वेतन भी सदा निश्चित रहता है। पूर्व निश्चित इन साधनों में न अधिक रुपया दिया जा सकता है, न कम। किन्तु साहसी के लाभ की तो सीमा नहीं है। वह सदा अस्थायी, अनिश्चित और अनिर्धारित रहता है।

मोहन—तब तो उसे कभी-कभी अपने घर से देना पड़ता होगा।

चाचा—क्यों नहीं ? उसे तो सब से पहले अन्य साधनों का ख़र्च चुकाना पड़ता है। अगर कुछ बचता है, तो भले ही वह उसे ले सके; अन्यथा लेखा बराबर करना ही सब से पहले उसके लिए आवश्यक होता है। अन्य साधन सदा उससे माँगते हैं। किन्तु वह किसी व्यक्ति से न माँगकर अपनी उत्पत्ति से माँगता है। इसीलिए वह सदा इस बात की चेष्टा किया करता है कि उत्पत्ति के अनुपात के अनुसार अन्य साधनों पर होनेवाला व्यय अपेक्षाकृत

कम रहे। कम-से-कम रुपया ख़र्च करके अधिक-से-अधिक उत्पत्ति करने की योग्यता होना उसके लिए बहुत आवश्यक है।

मोहन—तब तो ऐसे व्यक्ति को बहुत विचारवान होना चाहिए।

चाचा—विचारवान ही क्यों, उसे तो बात का धनी, प्रकृति का दृढ़, हृदय का सच्चा, उत्साही, सदाचारी, प्रभावशाली और जनता का विश्वासपात्र होना चाहिए।

मोहन—आपने तो इतने अधिक गुण बतला दिये कि मैं तो डर गया।

चाचा—एक भी ऐसा गुण मैंने नहीं बतलाया, जो अनावश्यक हो। अगर वह प्रकृति का दृढ़ न होगा, तो हानि की सम्भावना होने पर विचलित हो जायगा। तब उसमें वह उत्साह ही न रह जायगा, जिसके द्वारा वह नयी-नयी बातें सोचता और उन्हें कार्यरूप में परिणत करता है। यदि वह बात का धनी न होगा, तो पूँजीपति लोग सूद पर उसे रुपया कैसे देंगे?—उसके अधीनस्थ कर्मचारी उससे सन्तुष्ट और प्रसन्न कैसे रहेंगे! अगर वह प्रभावशाली और सदाचारी न होगा तो अच्छे और योग्य सहायक उसके आज्ञाकारी न होंगे। इसके सिवा इन गुणों के कारण सर्वसाधारण जनता का विश्वासपात्र भी वह बराबर बना रहेगा। कोई भी काम वह नया चालू करेगा, तो लोग उसकी सफलता पर सहज ही विश्वास कर लेंगे। इस प्रकार ऐसा व्यक्ति अनुभवी तथा विचारवान होना चाहिए।

मोहन—पर ऐसे व्यक्ति बहुत मुश्किल से मिलते हैं।

चाचा—हाँ, जब देश में ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम होती है, तब उसका बहुत-सा धन बेकार पड़ा रहता है। लोग उसे उत्पत्ति के कार्यों में लगाकर, उसे बढ़ाने के मार्ग पर न चलाकर, बिल्कुल स्थिर और जड़ बना डालते हैं। या तो ज़मीन में गाड़कर रखते हैं, या आभूषण बनवा लेते हैं।

मोहन—लेकिन आभूषण बनवा लेने से तो उसकी मात्रा और कम हो जाती है। क्योंकि उनकी गढ़ाई का मूल्य उसी में खप जाता है।

चाचा—पर वे सोचते यह हैं कि यह हानि फिर भी उस हानि से किसी

क़दर कम ही है, जो उस रुपये को किसी ऐसे काम में फँसा देने से होगी, जो कुछ ही समय तक चलकर बन्द हो जानेवाला है। इसके विपरीत जिन देशों में साहसी व्यक्ति अधिक होते हैं, वहाँ धन का सदुपयोग सदा उत्पत्ति के कार्यों में होता है। उससे व्यवसाय की वृद्धि होती है। लोग कार्यशील और कर्तव्यपरायण बनते हैं। व्यवसाय की वृद्धि से सभ्यता, शिक्षा और स्वास्थ्य रक्षा के साधनों की उत्तरोत्तर उन्नति होती है। हमारे देश में तो ऐसे युवकों की बहुत अधिक आवश्यकता है, जो साहसी हों और हानि-लाभ का जोखिम उठाकर नाना प्रकार के व्यवसायों का योग्यतापूर्वक संचालन करने की जिनमें अद्भुत शक्ति हो। देश की उन्नति का स्वप्न देखनेवाले नेताओं का यह सबसे पहला कर्तव्य है कि वे युवकों में साहस का संचार करने की ओर पहले ध्यान दें और उनकी शिक्षा विशेषरूप से ऐसे ढंग की हो, जो उन्हें साहसी और वीर बनाये।

रास्ता तै हो गया था। दोनों अब घाट के निकट आ गये थे। गंगा के किनारे आकर घाट पर के तखत पर बैठकर चाचा ने कहा—उद्योग-धंधों, व्यवसायों तथा व्यापारिक क्षेत्रों में साहस का कैसा महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह जानने के लिए पहले इन बातों के ज्ञान की आवश्यकता है कि कौन-कौन वस्तुएँ कहाँ से आती हैं, कैसे बनती हैं, किसी प्रकार के कारख़ाने के लिए कच्चा माल कहाँ से आता है, माल की निकासी का प्रबन्ध किस तरह किया जाता है, कब माल मँहगा होता है, कब सस्ता, कारख़ाने को संकट से बचाने, हड़तालों के प्रभाव से उसे सुरक्षित रखने के लिए कैसे प्रबन्ध अथवा अनुशासन की आवश्यकता होती है।

पर ये ऐसी बातें हैं, जिनकी शिक्षा स्कूलों तथा कालेजों में प्रायः नहीं मिला करती। इसके लिए तो आवश्यकता इस बात की है कि हमारे देश के सम्पन्न उत्साही नवयुवक शिल्प-क्षेत्रों तथा कल-कारख़ानों में जाकर, कुछ दिन विभिन्न विभागों में काम करके उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करें। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक हमारे देश की व्यावसायिक उन्नति आजकल की आवश्यकता के अनुरूप उच्च शिखर पर कभी पहुँच नहीं सकती।

हँसते हुए मोहन तब बोल उठा—चाचा, घर पहुँचने पर मैं पांडेय जी से कहना चाहता हूँ कि बारात तो लिये चलते हो, पर अगर कहीं रास्ते में डाका पड़ गया तो ?

चाचा खिलखिला कर हँस पड़े।

तैंतीसवाँ अध्याय
उत्पत्ति के नियम

राजाराम अभी विहारी के घर आया ही था कि उसने खेती-बारी का हाल चाल जानने की इच्छा से पूछा—कहो राजाराम, प्रसन्न तो हो, अच्छी तरह से तो रहे !

राजाराम ने रुखाई के साथ उत्तर दिया – हाँ, आपकी कृपा से, जैसा कुछ हूँ अच्छा ही हूँ।

विहारी—तो इसका मतलब यह है कि प्रसन्न नहीं हो। जान पड़ता है, इस वर्ष खेती की उपज औसत से भी कम रही। क्यों, है न यही बात ?

राजाराम—केवल इसी साल ऐसी कोई ख़ास बात होती, तब तो शिकायत की गुंजाइश ही न थी। परन्तु मैं तो इधर कई साल से बराबर यही देख रहा हूँ कि चाहे जितनी कोशिश करूँ, लागत लगाने में भी चाहे एक की जगह डेढ़ ख़र्च करूँ, परन्तु उपज बढ़ना दूर रहा, उतनी भी नहीं होती, जितनी पिछले वर्ष हुई थी। ऐसा जान पड़ता है, मानो हमपर कोई ईश्वरीय कोप हो।

विहारी—केवल तुम्हारे ही खेतों की उपज का यह हाल है या गाँव के अन्य किसानों की भी यही दशा है।

राजाराम—भीतरी हाल क्या है, यह तो मैं नहीं कह सकता। लेकिन रोना सभी इसी तरह रोते हैं। अलबत्ता कुछ नये किसान ज़रूर ऐसे हैं; जिनके खेतों की उपज बढ़ी है। पर सम्भव है, इसका एक कारण यह भी हो कि उन्हें ज़मीन भी नयी मिली है।

बिहारी—ख़ैर, नयी ज़मीन की तो बात ही दूसरी है। उसमें अगर उपज अधिक होती है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु तुम्हारे खेतों की उपज में अगर कमी आगयी है, तब यह सोचना पड़ेगा कि कहीं उत्पत्ति में 'क्रमागत ह्रास नियम' तो लागू नहीं हो रहा है।

राजाराम—मैं समझा नहीं। आपके इस कथन का यह अभिप्राय तो नहीं है कि अर्थशास्त्र का कोई ऐसा भी नियम है जिसमें यह बतलाया गया हो कि एक ऐसा भी समय आता है, जब भूमि की उपज बढ़ने के बजाय, स्थिर भी न रहकर, उल्टे और घटने लगती है।

बिहारी ने मुसकराते हुए कहा—बहुत कुछ यही बात है। किसी भी खेत की उपज के सम्बन्ध में ऐसा अवसर अवश्य आता है, जब लागत का ख़र्च बढ़ाये जाने पर पहले तो उत्पत्ति में उन्नति होती जाती है; परन्तु कुछ काल बाद ऐसा अवसर आजाता है कि जिस अनुपात में उत्पत्ति का लागत ख़र्च बढ़ाया जाता है, उसके अनुसार उत्पत्ति में वृद्धि नहीं होती। लागत-ख़र्च बढ़ता जाता है, तो उत्पत्ति की वृद्धि उसी अनुपात में होती है। कुछ काल तक यही क्रम चलता है। परन्तु एक निश्चित अवधि के अनन्तर पुनः ऐसा अवसर आता है, जब उत्पत्ति पर लागत-ख़र्च बढ़ाते रहने पर भी सीमांत उत्पत्ति का बराबर रहना दूर रहा, वह उल्टे और घटने लगती है। पहले जिस सीमा तक लागत का ख़र्च बढ़ता जाता है, उसी अनुपात से सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती जाती है। उस दशा में उसपर 'क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि-नियम' लागू होता है। उसके अनन्तर उस सीमा से जिस सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति स्थिर रहती है, उस सीमा तक *क्रमागत-उत्पत्ति-समता-नियम* लागू होता है। और जब सीमान्त उत्पत्ति कम होने लगती है, तब 'क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास नियम, लागू होता है।

राजाराम—बड़े आश्चर्य्य की बात है कि लागत का ख़र्चा तो बढ़ता रहे, पर सीमांत उत्पत्ति घटती जाय।... अच्छा, खेती पर ही उत्पत्ति के ये 'क्रमागत वृद्धि', 'क्रमागत-समता' और 'क्रमागत ह्रास' नियम लागू होते हैं, या कारख़ानों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी ऐसा कोई नियम है?

बिहारी—हरएक चीज़ पर, फिर चाहे वह खेती से उत्पन्न हो, अथवा किसी कारख़ाने में तैयारी कराई जाती हो, लागत-ख़र्च क्रमशः बढ़ाते रहने पर ही

यह तीनों नियम लागू होते हैं। पर खेती में 'क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम' कारख़ानों की अपेक्षा जल्दी लागू होता है। कारख़ानों में लागत-ख़र्च बढ़ाने पर बहुत काल तक 'क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम' चलता है। परन्तु एक अवधि के बाद उसमें भी 'क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम' लागू हो जाता है।

राजाराम—अर्थशास्त्रियों ने इस विषय में कोई हिसाब भी लगाया होगा।

बिहारी—ज़रूर। भला प्रमाण पाये अथवा अनुभव किये बिना ऐसी बातें सिद्धान्त रूप में कैसे स्थिर हो सकती हैं? मान लो, एक ऐसा खेत है, जिसमें लागत-ख़र्चा २५) है, और उसमें १०५ मन अनाज पैदा होता है। शुरू में उसकी सीमान्त-उत्पत्ति १०५ ही रहेगी। परन्तु जब लागत-ख़र्चा बजाय २५) के पचास कर दिया जायगा उत्पत्ति की मात्रा तो २२५ होगी, पर सीमान्त-उत्पत्ति उस दशा में १२५ ही होगी। अर्थात् पहले २५) की लागत में सीमान्त-उत्पत्ति १०५ थी, परन्तु जब लागत ५०) कर दी गई, तब बजाय १०५ सीमान्त-उत्पत्ति के १२५ हुई। अब आगे इसी क्रम के अनुसार ७५) लागत-ख़र्च में उत्पत्ति की मात्रा ३६५ और सीमान्त-उत्पत्ति १४५, १००) लागत-ख़र्च में उत्पत्ति की मात्रा ५१५ और सीमान्त-उत्पत्ति १५५, फिर १२५) लागत-ख़र्च होने पर उत्पत्ति की मात्रा ६६५ और सीमान्त-उत्पत्ति १५५ होगी। अब यहाँ देखना यह है कि लागत-ख़र्च २५) से लगाकर जब तक वह १००) रहा है, सीमान्त-उत्पत्ति बराबर बढ़ती आयी है। किन्तु उसके बाद जब लागत-ख़र्च १२५) भी हो गया तब सीमान्त-उत्पत्ति में वृद्धि नहीं हुई। वरन् वह स्थिर ही बनी रही।

अब इसके बाद लागत-ख़र्च १५०) होने पर उत्पत्ति की मात्रा ८०५ और सीमान्त-उत्पत्ति १४५, १७५) लागत-ख़र्च होने पर उत्पत्ति की मात्रा ९३५ मन और सीमान्त-उत्पत्ति १३५ हो गई।

यहाँ पर विचार करने की बात यह है कि जब लागत-ख़र्च प्रारम्भ में २५) था, तब सीमान्त-उत्पत्ति १०५ थी वह बढ़ते-बढ़ते १५५ तक पहुँच गई, पर अन्त में जब लागत-ख़र्च बढ़ते-बढ़ते १७५) पहुँच गया, तब सीमान्त-उत्पत्ति १३५ ही रह गयी।

यहाँ दो बातें जान लेने की और हैं। एक तो यह कि इन नियमों का सम्बन्ध केवल उत्पत्ति की मात्रा से है। वस्तु के मूल्य से इसका यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। जब तक एक निश्चित रक़म लागत-ख़र्च के रूप में लगाते रहने पर उत्पत्ति की मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ता, तब तक जो नियम जिस सीमा से लागू होता आ रहा है, उसी सीमा से लागू होता जायगा। वस्तु के मूल्य की घटती बढ़ती का उससे कोई सम्बन्ध न होगा।

दूसरी बात यह है कि जिस सीमा से क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम का जन्म होता है, उसी सीमा पर उत्पादक को हानि भी होना प्रारम्भ हो जाय, यह आवश्यक नहीं है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि उत्पादक उसी सीमा पर अधिक लागत-ख़र्च लगाना बन्द कर दे। लागत-ख़र्च खेत में किस सीमा तक लगता है, इसका सम्बन्ध वस्तु के मूल्य से है।

राजाराम—अच्छा, यह हिसाब तो हुआ खेती के सम्बन्ध में। अब कारख़ाने के सम्बन्ध में बतलाइये।

बिहारी—देखो, 'धन की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में, इस सम्बन्ध में एक सारिणी दी हुई है। इसमें एक सूती कपड़े के कारख़ाने का लागत-ख़र्च और उसकी उत्पत्ति की मात्रा दी गयी है।* जब लागत-ख़र्च १ हज़ार रुपये था, तब सम्पूर्ण उत्पत्ति २ हज़ार गज़ और सीमान्त उत्पत्ति २ हज़ार गज़ थी। फिर जब लागत-ख़र्च एक-एक हज़ार रुपये के रूप में बराबर बढ़ाया गया, तब १२ हज़ार तक पहुँचने पर सम्पूर्ण उत्पत्ति ६५ हज़ार गज़ और सीमान्त उत्पत्ति ८ हज़ार गज़ रही। इसके बाद लागत-ख़र्च जब १४ हज़ार दिया गया, तब भी सम्पूर्ण उत्पत्ति ७२ हज़ार गज़ और सीमान्त उत्पत्ति ८ हज़ार ही रही। तदन्तर लागत-ख़र्च जब १५ हज़ार कर दिया गया तब सम्पूर्ण उत्पत्ति ८०½ हज़ार गज़ और सीमान्त उत्पत्ति ७½ हज़ार गज़ हो गयी।

---

*देखिये दुबे और केला—धन की उत्पत्ति।

इस उदाहरण में जो लागत-ख़र्च दिया गया है, उसमें ज़मीन का लगान, मज़दूरी, पूँजी का सूद, मैशीनों की घिसाई, लाभ, कमीशन, विज्ञापन, कच्चे-माल तथा भाफ-बिजली इत्यादि का ख़र्च भी सम्मिलित है। यहाँ विचार करने की बात यह है कि एक हज़ार के लागत-ख़र्च से लेकर ज्यों-ज्यों कारख़ाने का लागत-ख़र्च बढ़ता गया है, सीमान्त उत्पत्ति १३ हज़ार रुपये लागत-ख़र्चे तक बढ़ती गई है। फिर लागत-ख़र्च १४ हज़ार होने पर सीमान्त उत्पत्ति स्थिर हो गई है। अर्थात् १३ हज़ार तक सीमान्त उत्पत्ति में जो वृद्धि हुई वह क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार हुई। इसके पश्चात् जब सीमान्त उत्पत्ति १४ हज़ार के लागत-ख़र्चे पर स्थिर हो गई तब वह स्थिरता क्रमागत-समान-उत्पत्ति नियम के अनुसार हुई। तदन्तर क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम के अनुसार सीमान्त उत्पत्ति बराबर कम होती गयी।

यहाँ भी विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि कारख़ाने का मालिक उत्पत्ति के ह्रास की इस सीमा पर आकर भी लागत-ख़र्च लगाना बन्द नहीं कर सकता। इसका सम्बन्ध तो वस्तु के मूल्य पर निर्भर करता है।

राजाराम—यह तो सब मैं समझ गया। अब यह भी तो बतलाइये कि किस सीमा पर अधिक लागत-ख़र्च बन्द कर दिया जाता है?

बिहारी—जिस सीमा पर सीमान्त लागत का ख़र्च और सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य बराबर होता है, उसी सीमा पर उत्पादक को सबसे अधिक लाभ होता है और तभी वह अधिक लागत-ख़र्च लगाना बन्द कर देता है। उत्पत्ति का मूल्य बाज़ार-भाव के साथ घटता-बढ़ता रहता है, इसलिये वह सीमा, जिस पर उत्पादक अधिक ख़र्च लगाना बन्द कर देता है वस्तु के मूल्य के साथ ही साथ घटती बढ़ती रहती है।

राजाराम—क्या आधुनिक नवीन सुधारों का खेती की उत्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है?

बिहारी—हाँ, नवीन सुधारों के द्वारा लागत-ख़र्च से होनेवाली सीमान्त उत्पत्ति में निस्सन्देह वृद्धि होती है। देखो, उसी पुस्तक में इस विषय में ये अंक दिये हुए हैं—

रुपयों में लागत-ख़र्च	सीमान्त उत्पत्ति मनों में सुधार के पहले	सीमान्त उत्पत्ति मनों में सुधार के पश्चात्
२५	१०	११
५०	१२	१३
७५	१४	१५
१००	१५	१७
१२५	१५	१८
१५०	१४	१९
१७५	१३	२०
२००	१२	२०
२२५	१०	१८
२५०	८	१६

इन अंकों को देखने से पता चलता है कि जब नये तरीक़ों से खेती नहीं होती थी तब १५० रुपये ख़र्च करने पर ही सीमान्त-उत्पत्ति का ह्रास आरम्भ हो जाता था; पर नये तरीक़ों से खेती होने पर सीमान्त-उत्पत्ति का ह्रास २००) लागत ख़र्च के बाद होता है।

राजाराम—अर्थात् खेती में सुधार करने से जिस सीमा पर क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास-नियम लागू होता है उस सीमा में वृद्धि हो जाती है।

बिहारी—हाँ, बस यही बात है। और इन सब बातों का अर्थ यह है कि—

१—किसी खेत अथवा कारख़ाने में जब लागत-ख़र्चे में वृद्धि हो जाती है तो पहले उस खेत की सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती है, फिर एक हद तक स्थिर रहती और तदन्तर घटने लगती है।

२—क्रमागत-उत्पत्ति का ह्रास-नियम खेती में जल्दी लागू होता है, कारख़ानों में कुछ देर से।

३—जिस सीमा पर क्रमागत-उत्पत्ति का ह्रास नियम लागू होता है, वस्तुओं की दर की घटा-बढ़ी का उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

४—वस्तु का मूल्य बढ़ जाने पर, जिस सीमा पर लागत-ख़र्च बन्द कर

दिया जाता है, वह सीमा बढ़ जाती है और मूल्य घट जाने पर वह सीमा भी घट जाती है।

५—उत्पत्ति के तरीक़ों में अगर सुधार हो जाता है, तो क्रमागत उत्पत्ति ह्रास-नियम की सीमा बढ़ जाती है।

राजाराम—परन्तु जब उत्पत्ति बढ़ने लगती है, तो वस्तुओं का लागत-ख़र्च भी तो औसत से कम होने लगता है।

बिहारी—हाँ, तुम्हारा यह कथन बिल्कुल ठीक है। परन्तु इसकी भी सीमाएँ हैं। जैसे-जैसे किसी खेत या कारख़ाने में लागत-ख़र्च बढ़ाया जाता है, वैसे ही वैसे उस खेत या कारख़ाने की उत्पत्ति में भी वृद्धि होती है। और उत्पत्ति में वृद्धि होने का अर्थ है वस्तुओं की उत्पत्ति का लागत-ख़र्च औसत में कम पड़ना। परन्तु एक सीमा के बाद वस्तुओं की उत्पत्ति का परिमाण बढ़ने पर लागत-ख़र्च का वह औसत भी बढ़ने लगता है।

राजाराम—अच्छा क्या अर्थशास्त्र में इस विषय का कोई उपयुक्त विधान नहीं है कि किस व्यवसाय में क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम जल्दी लगता है और किसमें देर से?

बिहारी—व्यवसायों के सम्बन्ध में इस तरह का कोई निश्चित विभाजन तो अभी तक नहीं हुआ। किन्तु इतना निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यवसाय में एक ऐसी सीमा आजाती है, जब सीमांत उत्पत्ति का क्रमागत-ह्रास होने लगता है। बात यह है कि अन्ततोगत्वा प्रत्येक प्रकार की उत्पत्ति किसी न किसी अंश में निर्भर तो प्राकृतिक साधनों पर ही है। इस विषय में सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल महोदय का कथन है कि उत्पत्ति में जो भाग प्रकृति का होता है, उसके द्वारा क्रमागत उत्पत्ति ह्रास की अधिक सम्भावना रहती है और जो भाग मानव-बुद्धि अथवा श्रम का होता है, उसके द्वारा क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि की विशेष सम्भावना रहती है। स्पष्ट है कि खेती आदि पर प्रकृति अपना अधिकार रखती है और कारख़ानों में नवीन मेशीनों के आविष्कारों अथवा उत्पत्ति के नवीन प्रकारों के द्वारा क्रमागत-ह्रास की स्थिति क्रमशः स्थगित होती जाती है। तभी छोटे कारख़ाने बन्द हो जाते और बड़े कारख़ानों में मिल जाते हैं। यही कारण है कि तैयार माल के उत्पादन

में कच्चे माल के उत्पादन की अपेक्षा क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम देर से लागू होता है।

राजाराम—तो आपका मतलब यह है कि खेती के तरीक़ों में सुधार किये बिना अब गति नहीं है।

बिहारी—मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ, जब तुम अपनी खेती में आधुनिक सुधारों का सहारा लेकर आशातीत उन्नति करोगे।

चौतीसवाँ अध्याय

धनोत्पत्ति के क्रम

मोहन अपने चाचा के साथ बारात में ठहरा हुआ है। बरात में कुल मिलाकर पचास के लगभग आदमी होंगे। गाँव के बाहर एक मन्दिर है। मन्दिर के साथ-साथ धर्मशाले के रूप में एक मकान और फुलवाड़ी है। उसी में बरात ठहराई गई है।

सवेरे का समय है। अनेक जत्थों में बैठे हुए बराती लोग ताश खेल रहे हैं। कोई भाँग-ठंढाई छान रहा है। इसी समय मोहन ने देखा—एक काला-काला आदमी नंगे बदन, सिर्फ़ एक मैली धोती पहने और कंधे पर एक झोली डाले चला आ रहा है। देखते ही मोहन ने कहा—चाचा देखो, यह आदमी कितना काला है।

चाचा ने कहा—सम्भवतः यह कंजड़ है और जंगल में रहता है।

मोहन—जंगल में ये लोग कैसे रहते होंगे चाचा!

चाचा—हम लोगों के आदि-पूर्वज भी तो कभी-न-कभी जंगलों में ही रहते थे।

मोहन ने आश्चर्य से कहा—अच्छा!

चाचा—मनुष्य आज जो इतना सभ्य बन गया है कि उत्पत्ति के आधुनिक स्वरूपों के प्रति यदा-कदा सशंक हो उठता है, उसे यह जानना चाहिए कि प्रारम्भ से ही वह ऐसा नहीं रहा है। आदि काल से लेकर अब तक धनोत्पत्ति सम्बन्धी चेष्टाओं में बहुत व्यापक परिवर्तन हुए हैं और उसने उन्हें पार किया है। कल-कारखानों की वृद्धि का यह युग तो अनेक

परिस्थितियों में से होकर आया है। प्रकृत रूप में पहले पहल मनुष्य क्या था और उसने कितनी अवस्थाएँ पार करके धनोत्पत्ति में आज की सुविधाएँ प्राप्त की हैं, इसका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध मानव सभ्यता के इतिहास से है। संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि उत्पत्ति के क्रम-विकास की ओर अगर हम ध्यान दें, तो हमारी दृष्टि जिन अवस्थाओं पर जायगी वे ये होंगी—

१—शिकारी जीवन ३—कृषि-जीवन ५—कल-कारख़ानों की अवस्था
२—पशु-पालन ४—कारीगरी या दस्तकारी ६—साम्यवाद
७—एकतंत्रवाद

मोहन—शिकारी जीवन से आपका क्या मतलब है?

चाचा—बात यह है कि आदिकालीन मनुष्य तो अनेक वस्तुएँ पैदा करने या बनाने की रीतियों से परिचित था नहीं। वह न खेती करना जानता था, न पशुओं से काम लेना। गाँव में रहने की स्थिति ही न आयी थी। यहाँ तक कि गांव का स्वरूप भी तब निश्चित नहीं हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति की मुख्य आवश्यकता थी खाना-पीना। और इसके लिए उसे किसी दूसरे व्यक्ति का अवलम्ब अथवा सहयोग लेने की भी आवश्यकता न थी। पानी पीने के लिए पहाड़ी प्रदेशों में झरनों और मैदानों में नदियां तथा झीलों का जल था। भोजन के लिए वह या तो जंगली फलों का उपयोग करता, अथवा जंगली जानवरों का शिकार करता और उनका मांस भूनकर खा जाता।

आश्चर्य्य से चकित होकर मोहन ने कहा—अच्छा फिर।

चाचा—इसके पश्चात् पशु-पालन की अवस्था आई; क्योंकि शिकारी जीवन में उसे कुछ असुविधाएँ हुईं। बात यह हुई कि उस अवस्था में निश्चित समय पर भोजन मिलना दुष्कर था। इसके सिवा जंगली जानवरों से रक्षा करने का भी एक प्रश्न सामने उपस्थित हो गया था। तब अलग-अलग रहने की अपेक्षा मिले-जुले हुए जत्थे के रूप में रहने की आवश्यकता जान पड़ी। इसी समय पशु-पालन की युक्ति काम में लायी गयी। गाय-भैंस तथा बकरी आदि के दूध का उपयोग करने का परिचय मिला। तभी नदी तथा समुद्र-तटों पर घूमने तथा मछलियाँ पकड़ने के सिलसिले में जाल और नाव बनाना उसने सीखा। जहाँ अपने तथा पशुओं के लिए खाद्यसामग्री विशेष

मात्रा में मिलती, वहीं वह जत्था ठहर जाता। पर इस अवस्था में भी एक स्थान पर रहने का सुख उठाने से वे लोग वंचित ही रह जाते थे।

मोहन—अच्छा फिर।

चाचा—पशु-पालन की अवस्था के पश्चात् क्रमशः उन्नति करते-करते मनुष्य ने कृषि-कार्य करना सीखा। अब उसको खेती से भोजन भी मिलने लगा और वस्त्र भी। पशु-पालन की अवस्था तक वह एक स्थान पर न रहकर घूमता-फिरता रहता था। किन्तु खेती करने पर फ़सल तैयार होने तक उसे एक ही स्थान पर रहने के लिए विवश होना पड़ा। तभी एक साथ कुछ झोंपड़े बनाकर रहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। कालान्तर में झोपड़ों ने घर का रूप धारण किया और तब मनुष्य जंगली न रहकर ग्रामवासी बन गया, सभ्यता की वृद्धि से अब प्रत्येक देश में नगरों की प्रचुरता जान पड़ती है। किन्तु संसार की अधिकांश जनता अब भी गांवों में ही निवास करती है।

मोहन—अच्छा उस समय जब सभी लोग खेती करते थे, तब खेतों की भूमि पर अधिकार किसका रहता था?

चाचा—हरएक व्यक्ति जितनी भूमि का उपयोग कर सकता था, उतनी भूमि का वह अधिकारी प्रकृत रूप में हो जाता था। उस समय भूमि के कम या अधिक ले लेने का कोई प्रश्न नहीं था। जितनी भूमि व्यक्ति के अधिकार में रहती थी, वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाती थी। एक कारण इसका यह भी था कि उस समय जन-संख्या इतनी अधिक नहीं थी। भूमि बहुत थी, किन्तु उसका उपयोग करनेवाले व्यक्तियों की संख्या कम थी। अतएव परस्पर झगड़ने की गुंजायश ही न थी।

मोहन—तो उस समय खेती करके ही क्या मनुष्य की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी?

चाचा—हाँ, उस समय का कृषिजीवी मनुष्य पूर्ण स्वावलम्बी था। अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ वह मिल-जुलकर स्वयं बना लेता था। जो लोग खेती करने के औज़ार, घर के लिए दरवाज़ा आदि लकड़ी अथवा लोहे की चीज़ें बनाते थे, वे कारीगर कहलाते थे। कार्य-कुशलता के ही आधार पर जातियों के नाम पड़ते थे। लोहे की चीज़ें बनाने वाला लोहार,

घड़े बनाने वाला कुम्हार, लकड़ी का काम बनानेवाला बढ़ई, तेल पेर देनेवाला तेली, कपड़ा बुननेवाला जुलाहा, रात को गश्त लगाने वाला पहरुवा अथवा पहरेदार कहलाता था। जो चीज़ें गाँव में नहीं मिलती थीं, वे बाज़ार में मिल जाती थीं। और बाज़ार चार-छे गाँवों के बीच में एक ऐसे गाँव में होता था, जिसमें बस्ती अन्य गाँवों की अपेक्षा कुछ अधिक होती थी।

मोहन—किन्तु व्यापार तो तब शुरू नहीं हुआ था। बाज़ार में बिकता क्या होगा?

चाचा—सिर्फ़ दो चीज़ें ऐसी थीं, लोहा और नमक, जिनको पाने के लिए कृषि-जीवी मनुष्य ने प्रारम्भ में विशेष असुविधा का अनुभव किया था और उन्हीं को एक स्थान पर रखकर बेचने के लिए सर्वप्रथम व्यापार को जन्म देने की आवश्यकता पड़ी। तुम्हें ज्ञान होना चाहिए कि आज भी व्यवसाय के अर्थ में व्यापार शब्द विशेष रूप से ही प्रयुक्त होता है। अन्यथा व्यापार का मूल अर्थ है व्यवहार।

इसके सिवा एक बात और है। लोहा और नमक के लिए यद्यपि व्यापार की सृष्टि हो गयी थी, किन्तु ख़रीदने के लिए बदले में दिया जाता था केवल अनाज। उस काल में मुद्रा का प्रचार नहीं हुआ था। हमारे देश के गाँवों में आज नवीन सभ्यता का प्रसार चाहे जितना अधिक हो गया हो, किन्तु साग-भाजी आदि वस्तुएँ अब भी अनाज के द्वारा मिल जाती हैं। धोबी, नाई, बढ़ई आदि सेवक जातियों को गाँवों में आज भी फ़सल पर अनाज ही दिया जाता है।

मोहन—यह तो हुई गाँव के निर्माण की बात। अब यह बतलाइये कि शहरों का निर्माण कैसे हुआ?

चाचा—बात यह है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य आर्थिक दृष्टि से सुखी होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। प्रारम्भ में जब मनुष्य केवल कृषिजीवी था, तब उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित थीं। मुख्यतया उसे भोजन-वस्त्र की आवश्यकता होती थी। कालान्तर में जब मनुष्य ने कुछ आर्थिक उन्नति करली, तब उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ने

लगीं। यहाँ विचार करने योग्य बात यह है कि भोजन और वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति तो कृषि से हो सकती है, पर अन्य वस्तुओं का पूरा सम्बन्ध कृषि से ही नहीं है। ये वस्तुएँ इसमें शक नहीं कि उसी कच्चे माल से तैयार की जाती हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध कृषि द्वारा उत्पन्न हुए पदार्थों से होता है। परन्तु उनको तैयार करने में जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उसके लिए शिल्प, दस्तकारी अथवा कारीगरी की विशेष आवश्यकता होती है। और एक कारीगर अगर गाँव में अकेला रहता है, तो वह उतना कार्य-कुशल नहीं हो सकता, जितना उस दशा में हो सकेगा, जब वह अन्य कारीगरों के साथ रहेगा। इसके सिवा कारीगर सदा ऐसे स्थान में रहना पसन्द करता है, जहाँ उसकी आवश्यकता का सारा कच्चा माल, काफ़ी तादाद में, एक साथ मिल जाता है। अतएव जब-जब एक ही पेशेवाले कारीगर प्रायः एक साथ रहने लगे, और इसी तरह अन्य सहकारी पेशेवाले जब यथेष्ट संख्या में, अलग-अलग समूहों में आकर बस गये, तब बस्तियों का जन्म हुआ और उन समस्त बस्तियों के सम्मिलित रूप का नाम पड़ गया नगर।

मोहन—किन्तु उस कृषि-जीवी युग को व्यतीत हुए हज़ारों वर्ष हो गये। इस काल में अन्य दिशाओं में तो कुछ उन्नति भी हुई, पर कारीगरी में तो कोई विशेष उन्नति हुई हो, ऐसा जान नहीं पड़ता। इसका क्या कारण है?

चाचा—तुम्हारा यह सोचना सही नहीं है कि कारीगरी में हमारे देश ने कोई उन्नति नहीं की थी। सच पूछो तो शिल्प तथा कारीगरी में हमारे ही देश ने सबसे अधिक उन्नति की थी। इस क्षेत्र में भारतवर्ष विश्व-विख्यात था। कच्चे सूत से बनी यहाँ की मलमल विदेशियों के लिए आश्चर्य का विषय होती थी। अन्य वस्तुएँ भी यहाँ इतनी सुन्दर बनती थीं कि विदेशियों के मन में ईर्षा और स्पर्द्धा के विशेष भाव उत्पन्न करती थीं। एक तो पराधीनता के कारण, हमारे देश का शिल्प अन्याय और अत्याचार द्वारा नष्ट किया गया, दूसरे रहा-सहा मशीन युग ने स्वाहा कर दिया। जो देश

कभी शिल्प की दृष्टि से आदर्श रहा हो, वह यदि आज तुम्हें इतना हीन देख पड़े, तो सचमुच यह एक बहुत बड़े दुर्भाग्य और पश्चाताप का विषय है।

मोहन—किन्तु यह तो मैशीन युग है। शिल्पकला द्वारा अब उतना माल बनना सम्भव नहीं है। कल-कारख़ानों की वृद्धि हो रही है। मैं तो समझता हूँ कि कल-कारख़ानों की यह वृद्धि हमारे देश की औद्योगिक उन्नति के लिए आवश्यक ही है।

चाचा—पर देश की अभीष्ट औद्योगिक उन्नति तभी हो सकती है, जब इन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाय—

१—श्रम-विभाग के आधुनिक विकसित सिद्धान्तों द्वारा काम किया जाय।

२—भाप, पानी तथा बिजली आदि की शक्ति से चलनेवाले नये नये यन्त्रों का उपयोग किया जाय।

३—उत्पत्ति छोटी मात्रा में न करके बड़ी मात्रा में की जाय।

मोहन—बड़ी मात्रा में उत्पत्ति तभी हो सकती है, जब कल-कारख़ानों में पूँजीपति लोग रुपया लगायें।

चाचा—परन्तु पूँजीपति लोग मिलकर जब उत्पादक बन जाते हैं, तब कल-कारख़ानेवाले मज़दूरों की स्वतंत्रता नहीं रह जाती। वे एक सीमित क्षेत्र में काम करते हैं। वे चाहे जितनी कार्य-कुशलता दिखलावें, किन्तु उत्पत्ति के लाभ का अंश साधारणतः उनको नहीं मिल पाता। उन्हें तो उतना ही वेतन मिलता है, जितना उनके लिए पहले से निर्धारित हो चुका होता है।

मोहन—तब तो उत्पत्ति में व्यय भी कम होता होगा और माल को सस्ता बेचने में काफ़ी सुविधा रहती होगी।

चाचा—हाँ, यह बात तो किसी अंश में ठीक हो सकती है। पर इसका प्रभाव हाथ से काम करनेवाले शिल्पियों तथा कारीगरों पर भी पड़ता है। कल-कारख़ानों के आगे वे ठहर नहीं पाते और अपना पेशा छोड़कर उन्हें भी कल-कारख़ानो में नौकरी कर लेने के लिए विवश होना पड़ता है। साथ ही नौकरी के अभाव में उन्हें बेकार भी रहना पड़ता है। और इस तरह धीरे-धीरे शिल्पकारों का लोप हो जाता है।

में जितने भी श्रमिक होते हैं वे थोड़ी-थोड़ी पूँजी अपनी अथवा किसी से उधार लेकर मालिक के साझीदार बन जाते हैं। इससे पूँजीपति और श्रमिक के सम्बन्ध दृढ़ और उदार हो जाते हैं। इस तरह श्रमिक सदा उत्पत्ति की वृद्धि में सहायक बने रहते हैं। ३—'सहकारिता-मूलक व्यवस्था' के अनुसार कारख़ाना चलाना। इसमें व्यवसाय एक ही श्रेणी के लोगों के अधिकार में रहता है। चाहे वे श्रमिक हों, अथवा छोटी पूँजीवाले मध्यवित्त वर्ग के लोग। सभी मिलकर काम करते हैं। ४—उत्पादन का सारा कार्य श्रमिकों की सरकार द्वारा किया जाय। वही व्यय करे, उसी की सारी आय हो और वही उत्पत्ति के माल को उत्पादक श्रमिकों में वितरण कर दे। यह साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार होता है। आजकल रूस में यही प्रणाली प्रचलित है। इसमें श्रमिकों का शोषण नहीं होता और उत्पत्ति का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ या मुनाफ़ा न होकर समाज-सेवा का रूप धारण कर लेता है।

मोहन—और जर्मनी तथा इटली में जो एकतंत्रवाद चलता है, उसके अनुसार यदि उत्पादन किया जाय, तो?

चाचा—उसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र का अपहरण हो जाता है। जनतंत्रवाद में मनुष्य के स्वाभाविक विकास को जितना महत्त्व दिया जाता है, एकतंत्रवाद में वह कुचल डाला गया है। और एक तरह से यह स्थिति प्रतिक्रियात्मक है। आगे की ओर न बढ़ा कर यह हमें उलटे पीछे की ओर ले जाती है।

इसी समय मोहन ने देखा, वही कंजड़ फिर लौट रहा है। उसके हाथ में अबकी बार एक गोह भी है। तब कौतूहलवश उसने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—यह हाथ में क्या लिये हो?

वह बोला, अपनी भाषा में—सिरकार गोह हइ।

मोहन ने पूछा—क्या करोगे इसका?

कंजड़ बोला—हम लोग इसह भून के खात हँइ, सिरकार।

मोहन तब अस्थिर होकर चाचा की ओर देखने लगा।

पैंतीसवाँ अध्याय

व्यवस्था के भेद

राजाराम के साथ बाज़ार से लौटते ही बिहारी उसके यहाँ चारपाई पर बैठ गया और बोला—सबसे पहले एक गिलास ठंडा पानी और एक पंखा लेते आओ।

राजाराम मकान के भीतर से पानी और पंखा लेकर आया ही था कि उसी समय रोशनलाल आ पहुँचा और बिहारी से नमस्कार करने लगा।

पानी पीकर बिहारी ने पूछा—कहो रोशन, आजकल क्या कर रहे हो?

रोशन तो जवाब देने न पाया था कि राजाराम बोल उठा—आजकल तो इन्होंने खादी की बुनायी का एक कारख़ाना खोल रक्खा है। कारीगर इनको बड़ा अच्छा मिल गया है। वह बहुत अच्छा कपड़ा बुनाता है। कसर इतनी ही है कि माँग के अनुसार वह माल तैयार कर नहीं पाता।

बिहारी—काम तो बड़ा अच्छा है। पर यह क्या बात है जो अधिक मात्रा में माल ही तैयार नहीं हो पाता? यह स्थिति तो सचमुच बहुत शोचनीय है! आख़िर मामला क्या है?

रोशन—बात यह है कि मैं अकेला तो आदमी ठहरा। क्या-क्या करूँ।

बिहारी—तो यह कहो कि तुम एकाकी-उत्पादक-प्रणाली के अनुसार काम कर रहे हो!

राजाराम—यह कौन सी प्रणाली है? पहले तो कभी आपने इसका परिचय मुझे दिया नहीं था। बैठो भाई रोशन, यहाँ इस चारपाई पर आ जाओ।

बिहारी—प्राचीन काल में यही प्रणाली प्रचलित थी। उत्पत्ति-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य का मालिक और मैनेजर प्रायः एक ही होता था। भूमि उसी की होती थी। पूँजी वही लगाता था। पूँजी के अभाव में भी दूसरे लोगों से कुछ रुपया क़र्ज़ के रूप लेकर उत्पत्ति में लगाता वही था। श्रमिकों को नौकर रखकर उनके काम की देख-रेख वही करता था। जो लाभ होता था उस पर अधिकार वही रखता और यदि दुर्भाग्य से हानि हो जाती, तो भी सहन उसे वही करता था।

राजाराम बोल उठा—आज भी तो यही तरीक़ा चल रहा है। मैं तो इसमें कोई बुराई नहीं देखता।

बिहारी—हाँ, इसमें यह लाभ अवश्य है कि उत्पादक ख़ुद-ब-ख़ुद अपना काम कर लेता है। हर एक वस्तु वह अपनी समझता है और काम भी ख़ूब जी लगाकर करता है। परन्तु इस प्रणाली से हानि कितनी होती है, इसकी ओर तुम्हारा ध्यान नहीं गया।

रोशन ने आश्चर्य से कहा—अच्छा! तब मुझे आप अवश्य बतलाइये।

बिहारी—एक तो छोटे दायरे में उत्पत्ति होने से लाभ बहुत थोड़े दिनों तक होना संभव होता है। दूसरे लाभ होने की अवस्था तक ही उत्पत्ति का कार्य चलता रहता है। पर जहाँ हानि होनी शुरू हो जाती है कि उत्पत्ति का कार्य बन्द कर दिया जाता है। क्योंकि उत्पादक अकेला होने के कारण अधिक काल तक हानि सहन नहीं कर सकता। वह प्रतियोगिता में ठहर नहीं सकता। उसे अधिक रुपया उधार भी नहीं मिल सकता। अकेला आदमी योग्यता और कुशलता के साथ न तो उत्पत्ति के सभी विभागों का निरीक्षण कर सकता है न संचालन। बड़े और पेचीदे मामलों में तुरन्त निर्णय देने में भी, अत्यधिक व्यस्तता के कारण, उससे ग़लती हो जाना स्वाभाविक रहता है।

राजाराम—तभी आजकल लोग कम्पनी बनाकर यह कार्य करते हैं।

बिहारी—लेकिन 'एकाकी उत्पादक प्रणाली' के बाद तुरन्त ही यह विषय कम्पनियों पर नहीं आ गया। उसके बाद साझेदारी प्रथा का आरम्भ हुआ।

रोशन—परन्तु साझेदारी प्रथा में भी कम दोष नहीं हैं। साझे में जो व्यापार किया जाता है, उसका नियंत्रण दो या अधिक व्यक्तियों पर निर्भर रहता है। उसमें हर एक साझीदार हानि-लाभ का व्यक्तिगत और सामूहिक—दोनों रूपों में—ज़िम्मेदार होता है।

राजाराम—अर्थात् ?

रोशन—यदि उसमें किसी महाजन की कोई रक़म चढ़ जाती है, तो उसको यह अधिकार होता है कि वह अपनी पूरी रक़म चाहे तो एक ही साझीदार से वसूल करले।

बिहारी—यह प्रथा तो उन्हीं व्यवसायों के लिए प्रायः उपयुक्त ठहरती है, जिनमें नाना भाँति के कार्य-कुशल श्रमिकों की आवश्यकता हो और जिनकी व्यवस्था में कार्य का विभाजन किया जा सके।

राजाराम—अर्थात् ?

बिहारी—जैसे एक कारख़ाना है। उसमें एक आदमी जो साझीदार है, वह कच्चा माल ख़रीदने पर नियुक्त रहेगा, दूसरा कारख़ाने की देख-रेख करेगा और तीसरा जो माल तैयार होगा, उसके विक्रय का प्रबन्ध करेगा। इस तरह ऐसे व्यवसाय बड़े मज़े में चलाये जा सकते हैं जिनमें एक आदमी उतनी पूँजी नहीं लगा सकता, जितनी उसके लिए आवश्यक रहती है। जिन लोगों में व्यावसायिक बुद्धि तो होती है, पर जो रुपया नहीं लगा सकते, वे ऐसे व्यक्ति की तलाश में रहते हैं, जिसके पास पूँजी होती है, और फलतः जो उसके साथ, साझेदारी के रूप में, शामिल हो जाते हैं। 'एकाकी-उत्पादक-प्रणाली' में एक बात यह भी होती है कि व्यवस्थापक के पश्चात् वही कार्य उसका उत्तराधिकारी करने लगता है, चाहे वह उसके लिए अयोग्य ही क्यों न हो। इस तरह व्यवसाय शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। साझेदारी में प्रायः ऐसे अवसर नहीं आते।

रोशन—किन्तु यह प्रथा तभी लाभदायक हो सकती है, जब सभी साझी-दार एकमत के होते हैं। यदि उनमें मतभेद हो जाता है, तो बड़े-से-बड़ा व्यवसाय बात-की-बात में चौपट हो जाता है।

बिहारी—परन्तु सबसे बड़ी हानि इसमें यह होती है कि प्रत्येक साझी-

दार की जिम्मेदारी सीमित किंवा निश्चित नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि किसी एक व्यक्ति की असावधानी अथवा ग़लती से दूसरा साझीदार अपनी सम्पत्ति खो बैठता है। इसके सिवा एक बात यह भी है कि बहुतेरे आदमी प्रायः इस प्रकृति के होते हैं कि वे पहले तो व्यवसाय में पूँजी लगा देते हैं, पर कालान्तर में आवश्यकता पड़ने पर अधिक नहीं देते। एक बार पूँजी भर लगाकर वे लाभ की प्रतीक्षा और आशा करने लगते हैं और न तो उसके कार्य की देख-रेख करते हैं और न अवसर आने पर जोखिम ही सहन करते हैं। इन्हीं असुविधाओं के उपस्थित होने पर एक दूसरे तरह की प्रथा का आविष्कार हुआ। 'मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ' उसी का रूप है।

रोशन—हाँ, आजकल 'मिश्रित पूँजी' के आधार पर कम्पनी चलाने का बहुत प्रचार हमारे देश में हो गया है। लेकिन देहात में न तो इस विषय का ज्ञान ही लोगों को होता है, न अभी इसका यथेष्ट प्रचार ही हो पाया है।

बिहारी—बिना कम्पनी के रूप में उत्पादन-कार्य का संचालन किये अब उन्नति की कोई सम्भावना नहीं है। प्रचार तो ज्ञान के विस्तार का नाम है। पहले एक आदमी उसे समझ लेता है, फिर वह अपने परिचितों में उसकी चर्चा करता है। इस तरह उसे साथी मिल जाते हैं और कम्पनी संगठित हो जाती है। बारीक बातें देहाती भाइयों की समझ में भले न आयें; किन्तु मोटी-मोटी बातें समझाने पर सभी समझ लेते हैं। बड़ी मात्रा के उत्पादन-कार्य के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, सभी जानते हैं। वह पूँजी कितनी होनी चाहिए, पहले उत्पादक यह निश्चित कर लेता है। फिर उसके पाँच-पाँच सौ, अथवा कम-से-कम सौ-सौ के समान हिस्से कर लिये जाते हैं। इन हिस्सों को 'शेयर' कहते हैं। प्रत्येक साझीदार एक या अधिक शेयर ख़रीद लेता है। वे प्रतिवर्ष एक ऐसी समिति का चुनाव करते हैं, जो प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्त कार्य का संचालन करती है। मिश्रित पूँजी की कम्पनी को अँगरेज़ी में Joint Stock Company और उसकी इस संचालक-समिति को Board of Directors कहते हैं। यह समिति अपने सदस्यों में से एक प्रमुख संचालक का चुनाव करती है जिसे Managing Director कहते हैं। ये प्रमुख संचालक महोदय अपना

सारा समय इस कम्पनी की व्यवस्था में लगाने और आवश्यकता पड़ने पर संचालकों की सभा Board of Directors की बैठक करते हैं।

राजाराम—यह तरीक़ा हमारे देश के लिए अभी बिल्कुल नया है।

बिहारी—पहले पहल व्यवसाय को इस तरह कम्पनी के रूप में चलाने का प्रयोग इङ्गलैंड आदि पाश्चात्य देशों में हुआ था। बाद में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत हो जाने के कारण इसका प्रचलन हमारे देश में भी हो गया। बड़े परिमाण में उत्पत्ति करने के लिए इसकी हमारे यहाँ वास्तव में आवश्यकता भी थी।

रोशन—इसमें सबसे बड़ी सुविधा यह है कि हिस्सेदारों को एक निर्धारित रक़म देनी पड़ती है। न उससे कम, न अधिक।

राजाराम—पर क्या इस प्रणाली में यह ज़रूरी है कि हिस्से सौ-सौ रुपये के ही हों?

बिहारी—नहीं। हिस्से तो कभी-कभी दस-दस रुपये के भी होते हैं। इसके सिवा इन हिस्सों की रक़म भी एक साथ पूरी-की-पूरी नहीं ले ली जाती। हर एक हिस्सा प्रायः चार भागों में बाँट लिया जाता है, उसके तीन भाग क्रमशः तीन बार में वसूल कर लिये जाते हैं। शेष ¼ भाग उस समय लिया जाता है, जब कम्पनी को उसकी विशेष आवश्यकता होती है।

रोशन—और अगर कम्पनी पर ऋण हो गया, तो ऋणदाता अपनी रक़म को हिस्सेदारों से वसूल करने का अधिकारी भी तो हो जाता है।

बिहारी—नहीं, यह बात नहीं है। मान लो, ऋणदाता को कम्पनी से पाँच हज़ार रुपये वसूल करना है। अब ऐसी दशा में जिस हिस्सेदार को १००) के शेयर का ¼ ही देना रह गया है, उससे वह पाँच हज़ार रुपये कैसे वसूल कर सकता है? वह उससे केवल २५) ही ले सकता है।

राजाराम—तब तो किसी भले आदमी के लिए कम्पनी का हिस्सेदार होना भी एक भारी जोखिम का काम है।

बिहारी—यहाँ तुम यह भूल रहे हो कि जब हिस्सेदारी की रक़म निश्चित रहती है, तब उसकी जोखिम भी कम-से-कम होती है। कम्पनी की हिस्सेदारी में बहुधा वेही लोग सम्मिलित होते हैं, जिनको उस हिस्से की छोटी रक़म

को किसी अन्य उत्पादन के कार्य में लगाने की कोई विशेष इच्छा नहीं होती, और जो उनके पास यों ही व्यर्थ जमा रहा करती है। और कम्पनी के हिस्से में लग जाने से वह एक उत्पादन के कार्य में लग जाती है। फिर ज़रूरत पड़ने पर, वह उस हिस्से को बेच भी सकता है। परन्तु ऐसा तभी होता है जब हिस्सेदार को यातो कम्पनी में घाटा होने की आशंका होती है, अथवा वह सोचता है कि किसी अन्य उत्पादन कार्य में उसके लग जाने से इस कम्पनी की अपेक्षा अधिक लाभ होने की सम्भावना है।

राजाराम--लेकिन तब उस हिस्से को ख़रीदना कौन स्वीकार करता होगा?

बिहारी—नहीं, यह बात नहीं है। जब कम्पनी ख़ूब अच्छे ढङ्ग से चलने की स्थिति में होती है, तब तो उसके हिस्सों की दर बढ़ जाती है। बहुधा देखा गया है कि एक-एक हिस्सा १००) के बजाय ४००) में बिकता है।

रोशन—इसी प्रकार जब कम्पनी का काम शिथिल गति से चलता होता है, तो उसके हिस्सों की दर घट भी जाती है।

राजाराम—तो इसमें ख़ास बात यह है कि यह सारा खेल भी तक़दीर का ही है। लाभ-हानि दोनों की सम्भावना रहती है।

बिहारी—तक़दीर का भरोसा तो हमारे आगे कोई क्षेत्र ही नहीं उपस्थित करता। पर इसमें वस्तुस्थिति प्रायः सामने रहती है। हिस्सदारों को यह पता बना रहता है कि उसके हिस्से की रक़म किस स्थिति में है। इसके सिवा उसे इस बात की स्वतंत्रता भी तो रहती है कि जब चाहे तब कम्पनी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर अपना हिस्सा बेच दे। 'एकाकी-उत्पादक-प्रणाली' अथवा साझेदारी के व्यवसाय में इस बात की सुविधा नहीं रहती। एकाकी उत्पादन का कार्य उत्पादक के जीवन-काल तक ही चलता है, उसके बाद वह प्रायः समाप्त हो जाता है। साझेदारी से होनेवाले व्यवसायों की आयु भी प्रायः अधिक नहीं होती, किन्तु मिश्रित पूँजी की कम्पनी अगर चल पड़ी, तो उससे होनेवाले लाभ को, हिस्सेदार ही नहीं, उसकी संतान भी भोगती है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। और वह यह कि कम्पनी का हिस्सेदार पंगु, असहाय और विवश नहीं होता। वह कम्पनी की कार्य-शैली का

बराबर ज्ञान रखने में समर्थ होता है। अगर कम्पनी की व्यवस्था, उसकी समझ में ठीक ढङ्ग से नहीं हो रही है, तो उसे पूरा अधिकार है कि वह अन्य हिस्सेदारों के साथ मिलकर ऐसा वातावरण उपस्थित कर दे कि उसके प्रबन्धक को कम्पनी से अलग होना पड़े। और तब उसे यह अधिकार होता है कि वह ऐसा प्रबन्धक नियुक्त करे, जिससे प्रगति की वह विशेष आशा रखता है।

रोशन—हाँ, यह बात आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। कम्पनी के डायरेक्टर्स बदलते भी तो रहते हैं।

बिहारी—इससे कम्पनियों के संचालन में ऐसे चतुर, बुद्धिमान और सुयोग्य व्यक्तियों को उत्पादन का कार्य सुचारू रूप से संचालित करने का सुअवसर मिलता है, जिनके पास व्यवसाय में लगाने के लिए यथेष्ट पूँजी तो नहीं होती, किन्तु ज्ञान, अनुभव और अन्य योग्यताएँ जिनमें धनी-मानी पूँजीपतियों की अपेक्षा अधिक रहती हैं। अगर मिश्रित पूँजी की कम्पनी चलाने की प्रणाली न हो, तो न तो ऐसे सुयोग्य किन्तु धनहीन व्यक्तियों को काम करने का अवसर मिले, न इस तरह की योग्यता प्राप्त करने का उत्साह ही लोगों में उत्पन्न हो। हमारे देश में रेल, नहरें, नदियों के पुल, कपड़े, चीनी, तेल, साबुन, औषधि तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के बनाने का अधिक कार्य कम्पनियों द्वारा ही हो रहा है। इससे जनता में उन्नति करने की प्रेरणा उत्पन्न होने से सभ्यता में वृद्धि और शारीरिक तथा मानसिक विकास में बड़ी सहायता मिली है।

रोशन—किन्तु यह बात नहीं है कि मिश्रित पूँजी की कम्पनी से देश को लाभ-ही-लाभ होते हों। हानियों की संख्या भी कम नहीं है। बहुधा कम्पनियों के प्रबन्धक प्रारम्भ में इतना अधिक ख़र्च बढ़ा देते हैं कि साल के भीतर ही कम्पनी फेल हो जाती है। व्यक्तिगत अथवा पदजनित उत्तरदायित्व का अनुभव प्रायः लोग कम करते हैं। कम्पनियों के हिस्सेदार बहुधा पूँजीपति होते हैं, वे श्रमजीवियों के हितों की परवा नहीं करते। कल-कारख़ानों में काम करनेवाले श्रमिकों के लिए ऐसे-ऐसे नियम बना लेते हैं, जिनसे उत्पत्ति का लाभ श्रमिकों को न मिलकर केवल कुछ इने-गिने पूँजीपति हिस्सेदारों को मिलता

चौथे श्रमिकों को अपनी पद-मर्यादा की हैसियत से जो वेतन मिलता है, उससे वे अच्छी तरह अपना निर्वाह कर लेते हैं। अन्त में वार्षिक लाभ का जो भाग मिलता है, वह उनकी बचत होकर पूँजी बन जाती है।

रोशन—पर ईर्षा-द्वेष के कारण अपने ही वर्ग के प्रबन्धकों पर श्रमिक लोग प्रायः अनुचित आक्षेप किया करते हैं। इससे उनकी कार्य-कारिणी शक्ति का क्षय होता है। दूसरे इस वर्ग में कुशल प्रबन्धक भी बहुधा कम मिलते हैं।

बिहारी—किन्तु इन कठिनाइयों पर भी ध्यान दिया जा रहा है। ज्यों-ज्यों सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रचार बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों ये असुविधाएँ भी दूर होती जायँगी। हमारे देश में भी ऐसे विचारशील व्यक्तियों की कमी नहीं है जो समय की गति देखकर चलना चाहते हैं। वे सहकारी व्यवसायों में प्रारम्भ में थोड़े लाभ पर ही संतोष कर लेने को प्रस्तुत हैं। इसके सिवा हमारे देश का श्रमिकवर्ग भी अब सचेत हो रहा है। यदि उनमें संगठन-शक्ति आ जाय, वे पूँजी संग्रह करने के योग्य बन जायँ, और ऐसा अवसर न आने दें कि उत्पादक की हैसियत से वे किसी पर अनुचित और अवांछनीय नियंत्रण करने लग जांय, तो हमारे देश की उत्पादनशीलता की वृद्धि होने में देर न लगे। रूस ने यह सिद्ध करके दिखला दिया है कि साधारण जनता में सहकारिता के भावों की वृद्धि से राष्ट्र का वास्तविक जागरण कितने शीघ्र हो जाता है।

रोशन—आज आपसे विचार-विनिमय करके मुझे अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में जो नवीन प्रेरणा मिली है, उसके लिए मैं आपका बहुत-बहुत आभार मानता हूँ।

छत्तीसवाँ अध्याय

सरकार और उत्पत्ति

मोहन आजकल यहीं इलाहाबाद में पढ़ने लगा है। वह अपने चाचा के यहाँ रहता है। जब से वह यहाँ आया है, तब से उसके घर से कोई पत्र नहीं आया था। नित्य वह अपने चाचा से पूछता था—कोई पत्र तो नहीं आया? चाचा उत्तर में कह देते थे—नहीं, कोई पत्र नहीं आया। उत्तर पाकर मोहन मौन रह जाता था। आज भी जब वह स्कूल से लौटकर आया, तो चाचा से वही प्रश्न किये बिना उससे रहा नहीं गया। तब चाचा ने एक लिफ़ाफ़ा उसके हाथ पर रख दिया। मोहन उसे पढ़ने को आतुर हो उठा। कपड़े उतारना भी वह भूल गया। उसने झट से लिफ़ाफ़ा खोलकर पढ़ा।

चाचा ने पूछा—कुशल-क्षेम तो है?

मोहन—हाँ, घर पर तो सब कुशलता है। किन्तु लिखा है—चारों ओर बड़ी अशान्ति है। कुछ लोग रास्ते चलते लूट लिये गये हैं। गांव का बाज़ार, पहले की अपेक्षा, आधा भी नहीं लग रहा है। बीजवाले अनाज से भरी घर की गाड़ी हफ़्ते भर से फाटक में खड़ी है। बिक्री का यही मौक़ा था, सो हाथ से निकला जा रहा है।

चाचा—हाँ, फिर अशान्ति और दुर्व्यवस्था के समय उत्पत्ति को क्षति तो पहुँचती ही है। इसीलिए कहा जाता है कि उत्पत्ति के साथ सरकार और उसकी सुव्यवस्था का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। यहाँ तक कि कुछ अर्थशास्त्री तो सरकार को भी भूमि, पूँजी तथा श्रम आदि की भाँति उत्पत्ति का एक

साधन मानते हैं। परन्तु कुछ पाश्चात्य लेखक इससे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि अर्थशास्त्र में हमें यही मानकर इस विषय पर विचार करना होगा कि सरकार उपयुक्त है और समाज में सुव्यवस्था है।

मोहन ने कोट उतारकर खूँटी पर टाँग दिया। जल-पान करने के लिए अन्दर जाते हुए वह बोला—

"मैं अभी आकर इस विषय में वार्तालाप करता हूँ।"

थोड़ी देर में लौटकर आते ही उसने पूछा—हाँ, अब बतलाइये, सरकार का उत्पत्ति के साथ क्या सम्बन्ध है।

चाचा—प्रत्यक्ष सम्बन्ध तीन प्रकार से है। स्वतः सरकार वस्तुओं के उत्पादन का नियंत्रण करती है, कुछ उद्योग-धंधों को सहायता पहुँचती है और कुछ वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करती है।

मोहन—किन्तु उत्पत्ति पर सरकार के नियंत्रण की आवश्यकता उसी दशा में होनी चाहिए, जब उससे जनता को किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना हो।

चाचा—हाँ, तुम्हारा कथन ठीक है। प्रतिस्पर्द्धा के भाव से प्रायः ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि एक उत्पादक दूसरे उत्पादक को छल-कपट अथवा बेईमानी से गिराने की चेष्टा करता है। साझेदारों अथवा हिस्सेदारों को उनके भाग के लाभ की देनदारी उचित समय और रीति से न मिलने, हिस्सेदारों को धोखा देकर दिवाला निकालने, हिसाब ठीक न रखने, संघ तथा समितियाँ बनाने में सार्वजनिक हित का विशेष ध्यान न रखने तथा श्रमजीवियों के जीवन और स्वास्थ्य-रक्षा के सम्बन्ध में कारख़ानों में उचित व्यवस्था न होने आदि ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनका सरकारी नियंत्रण से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है।

इसके सिवा कभी-कभी एकाधिकार से जन-साधारण की जो विशेष हानि होती है, उसे रोकने के लिए भी सरकारी नियंत्रण की आवश्यकता हो जाती है। उस अवस्था में उसे सोचना यह पड़ता है कि उत्पादन कार्य तो अच्छा-से-अच्छा हो ही, पर जन-साधारण से वस्तु की क़ीमत उचित से ज़रा भी अधिक परिमाण में न ली जा सके।

मोहन—तब तो सबसे अच्छा यह होगा कि सरकार ऐसा नियम बना दे कि यदि किसी निर्धारित अनुपात से अधिक लाभ होगा, तो उसे सरकार ले लिया करेगी।

चाचा—पर उस दशा में फिर भी एक कठिनाई उत्पन्न हुए बिना न रहेगी, और वह यह कि एकाधिकारी उत्पादक न तो उचित मितव्ययिता से काम लेगा, न उत्पत्ति में कोई ऐसा सुधार ही होने देगा, जिससे अधिक लाभ होने की सम्भावना हो। और यहीं पर उत्पत्ति का जो उद्देश्य है, उसकी पूर्ति न हो सकेगी। इसीलिए प्रायः वस्तुओं के मूल्य का लाभ से ऐसा सम्बन्ध कर दिया जाता है कि एक निश्चित सीमा के बाद ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वस्तु की क़ीमत घटती जाती है। किन्तु प्रायः इस नियम का पालन बहुत शिथिलता से होता है। लाभ अधिक होने पर उसी की ओर मुख्य दृष्टि रहती है, मितव्ययिता अथवा अन्य सुधारों की ओर कम।

तो भी उत्पत्ति-सम्बन्धी सर्व-साधारण के हितों की रक्षा करने में सरकारी नियंत्रण का विशेष महत्त्व है। मज़दूरों की रक्षा के लिए सरकार कारख़ाने सम्बन्धी ऐसे क़ानून बनाती है जिससे मज़दूरों से अत्यधिक काम न लिया जा सके और उनको उचित मज़दूरी मिल जाया करे।

मोहन—अभी तक यह तो स्पष्ट हो नहीं सका कि सरकारी सहायता का उत्पत्ति से क्या-क्या सम्बन्ध रहता है।

चाचा—प्रायः यह सहायता दो प्रकार से की जाती है। १—प्रत्यक्ष २—परोक्ष। प्रत्यक्ष सहायता अनेक प्रकार से की जाती है। बहुधा जब कोई नवीन उद्योग-धंधा प्रारम्भ किया जाता है, तो नवीन हिस्सेदारों को इस बात का भय रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि इसमें जो पूँजी लगायी जा रही है, उससे सूद तक वसूल न हो। ऐसी अवस्था में सरकार यह घोषित कर देती है कि यदि निश्चित परिमाण में लाभ न होगा, अथवा उसमें कुछ कमी ही रह जायगी, तो उसे सरकार पूरा कर देगी। सरकार ने हमारे देश में रेलों का प्रचार इसी प्रकार किया है।

सरकार प्रायः एक निर्धारित सूद देने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले

लेती है।

यदि उत्पत्ति की वस्तुओं के निर्यात् की आवश्यकता होती है, तो उस दशा में सरकार निर्यात् पर भी सहायता प्रदान करती है।

कभी-कभी सरकार किसी विशेष उद्योग-धन्धे को प्रोत्साहन देने के लिए (१) उसको बाज़ार-दर से कम दर पर रुपया उधार देती (२) कुछ विशेष कार्यों के लिये ख़र्च का कोई भाग ही अपने ऊपर ले लेती अथवा (३) कुछ रुपया यों ही सहायतार्थ दे देती है और फिर उसे वापिस नहीं लेती।

कभी कभी सरकार कुछ मैशीनें ख़रीदती है और एक निश्चित किराये पर उत्पादक को उठा देती है। साथ में प्रलोभन यह रहता है कि अगर एक निश्चित अवधि तक ये मैशीनें किराये पर रक्खी जायँगी तो उसके बाद वे उत्पादक की हो जायँगी।

सरकार कृषि तथा उद्योग-विभाग के लिए ऐसे-ऐसे विशेषज्ञ नियुक्त करती है, जो एक ओर जनसाधारण को एक विशेष श्रेणी का कच्चा माल अधिक परिणाम में तैयार करने की शिक्षा देते और दूसरी ओर उत्पादकों को उनके उचित उपयोग के लिए प्रोत्साहित करते और दोनों पक्ष की तात्कालिक असुविधाओं को दूर करने में सहायक होते हैं।

मोहन—पर जब सरकार यह घोषित कर देती है कि अमुक प्रकार की उत्पत्ति के आयोजन में यदि कोई हानि होगी, तो उसकी पूर्ति वह स्वयम् कर देगी, तब उस उत्पत्ति-कार्य के प्रबन्धक लोग प्रायः असावधानी करते और मितव्ययिता से काम न लेकर उस कार्य को पूर्ण सफल बनाने के लिए उतनी तत्परता और संलग्नता नहीं दिखाते, जितनी उस स्थिति में अवश्य दिखलाते, जब उन्हें अपने ही प्रयत्न पर आश्रित रहकर लाभ उठाने की कामना रहती।

चाचा—पर यह भी तो सम्भव हो सकता है कि उस दशा में उचित लाभ-प्राप्ति का यथेष्ट आश्वासन पाये बिना उस प्रकार के उद्योग-धन्धे का कार्य आरम्भ ही न होता। सबसे अधिक आर्थिक उन्नति तो जब होती है जब सरकार विशेषज्ञ की सहायता से औद्योगिक उन्नति की एक पंचवर्षीय या दसवर्षीय योजना तैयार करती है और उसको कार्य रूप में परिणित करने के

लिये दत्तचित्त होकर प्रयत्न करती है। ऐसी दशा में उसे प्रत्यक्ष रूप से हर प्रकार से सहायता करना पड़ता है।

मोहन—अच्छा, परोक्ष रूप से सरकार उत्पत्ति में क्या सहायता पहुँचाती है ?

चाचा—जब कोई व्यक्ति कोई ऐसी वस्तु तैयार करता है जो उस देश और संसार के लिए सर्वथा नवीन होती है, तो उसे अधिकार होता है कि वह क़ानून के द्वारा उसे पेटेन्ट अथवा रजिस्टर्ड करवा ले। उस दशा में फिर किसी दूसरे व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होता कि वह एक निश्चित अवधि तक वैसी वस्तु बना सके। लेख, कविता, चित्र अथवा किसी नवीन रचना के लिए भी यही नियम लागू होता है। लेखक और प्रकाशक उसके मुद्रण का अधिकार सुरक्षित कराकर उससे होने-वाले लाभ का पूर्णतया अधिकारी हो सकता है। आविष्कारकों अथवा लेखकों को इस प्रकार परोक्ष-रूप से यथेष्ट सहायता मिलती है।

मोहन—किन्तु बाहर से आनेवाली वस्तुओं पर सरकार जो कर लगाया करती है, उसका तो आपने ज़िक्र ही नहीं किया।

चाचा—मैं अब उसी के विषय में तुम्हें बतलाने जा रहा था। बाहर से आनेवाली वस्तुओं पर कर लगाकर देशीय उत्पादन को जो प्रोत्साहन दिया जाता है, उसे 'व्यापार-संरक्षण नीति' कहते हैं। इसके अनुसार विदेशों से आनेवाली वस्तुएँ 'ड्यूटी' लगाकर इतनी महँगी कर दी जाती हैं कि उनके मुक़ाबिले में देशी वस्तुएँ सस्ती पड़ती हैं, और उनकी माँग स्वभावतः बढ़ जाती है। जब किसी देश के उद्योग-धन्धे प्रारम्भिक स्थिति में होते हैं, तब वे समुन्नत देशों से आनेवाली सस्ती वस्तुओं से अपेक्षाकृत महँगा माल तैयार करते हैं। ऐसी दशा में इसी नीति के द्वारा देशीय माल को विदेशों से आनेवाले माल की अपेक्षा कुछ सस्ता कर दिया जाता है। इससे देशी उद्योग-धन्धों को उन्नति करने में बड़ा सहारा मिलता है और कालान्तर में वे विदेशों की अपेक्षा फलतः अच्छा और सस्ता माल तैयार करने लगते हैं।

परन्तु 'व्यापार-संरक्षण-नीति' का यह प्रत्यक्ष लाभ है। परोक्ष लाभ भी इससे कम नहीं होता। बात यह है कि इस नीति से देश धीरे-धीरे अपनी

आवश्यकता की सारी वस्तुएँ तैयार करने लगता है। जो देश बारह वर्ष पूर्व व्यापारिक क्षेत्र में परावलम्बी होते हैं, वे भी इतनी अवधि के अन्दर क्रमशः औद्योगिक उन्नति करते-करते प्रायः स्वावलम्बी हो जाते हैं।

मोहन—परन्तु संरक्षण नीति का प्रयोग तो कुछ विशेष वस्तुओं पर ही होता होगा।

चाचा—हाँ, संरक्षण कर कुछ थोड़ी चुनी हुई वस्तुओं पर ही लगाया जाता है। और कैसा भी हो, थोड़ी बहुत वस्तुएँ तो विदेशों से आती ही रहती हैं।

मोहन—तब निश्चय-पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि 'व्यापार-संरक्षण नीति' के प्रयोग से कोई देश सर्वथा स्वावलम्बी हो ही जाता है।

चाचा—हाँ, तुम्हारा यह कहना ठीक है। इसके सिवा एक बात और है। 'व्यापार-संरक्षण नीति' का प्रभाव कभी-कभी उद्योग-धन्धों के स्वाभाविक विकास के लिए अहितकर भी होता है। प्रतियोगिता के भाव में उन्नति करने का जो उद्दाम वेग, स्फूर्ति और उत्साह रहता है, वह इस तरह जाता रहता है। और इसका फल यह होता है कि उत्पादक-वर्ग न तो दूरदर्शिता से काम लेना सीखते हैं, न मितव्ययिता से। और इस प्रकार सरकार का यह अनुमान लगाना सर्वथा निरर्थक सिद्ध होता है कि इस निश्चित-अवधि के अन्दर में व्यवसाय अपनी शैशवावस्था पार कर अपनी एक स्वाभाविक उन्नत स्थिति में आजायगा। परन्तु ऐसा तभी होता है जब सरकार बिना अच्छी तरह से जांच किये किसी उद्योग को संरक्षण द्वारा सहायता देती है।

मोहन—भारत में कांच का सामान बहुत तैयार होता है, परन्तु तो भी करोड़ों रुपयों का कांच का सामान विदेशों से भारत में आता है। क्या भारत-सरकार ने कांच के उद्योग को संरक्षण नीति द्वारा सहायता नहीं पहुँचाई है?

चाचा—सरकार ने कांच के सामान के सम्बन्ध में संरक्षक नीति का उपयोग अभी तक नहीं किया है। बात यह है कि संरक्षण-नीति के विरुद्ध एक दूसरी नीति भी तो व्यवहार में लायी जाती है। उसे 'मुक्तद्वार-व्यापार नीति' कहते हैं। जब कभी सरकार इस नीति का अवलम्बन करती है, तब यह मान लिया जाता है कि अब सरकार स्वदेशी-विदेशी वस्तुओं के प्रसारमें

कोई भेद-नीति नहीं रखना चाहती। वह चाहती है कि अपने देश की वस्तुएँ जिस प्रकार विदेशों में जाती हैं उसी प्रकार विदेशों की वस्तुएँ भी अपने देश में स्वतंत्रतापूर्वक आती रहें।

मोहन—तब सरकार आयातकर लगाना एकदम से बन्द कर देती होगी।

चाचा—नहीं, आयातकर लगाती अवश्य है, पर तब उद्देश्य उसका केवल अपनी आय-वृद्धि रहता है, न कि व्यापार-संरक्षण-नीति के अनुसार किन्हीं विशेष उद्योग-धन्धों की सहायता करना। पर यह 'मुक्त-व्यापार-नीति' उन्हीं देशों की सरकारों द्वारा व्यवहार में लायी जाना चाहिये जो *औद्योगिक प्रतियोगिता में, विदेशों के आगे, स्थिर रह सकने में प्रायः पूर्ण* समर्थ हैं।

मोहन—परन्तु अभी मैं ठीक तरह से समझा नहीं कि व्यापार-संरक्षण नीति और 'मुक्तद्वार-व्यापार-नीति' इन दोनों में से कौन सी नीति हमारे देश के लिए अधिक उपयुक्त है।

चाचा—यहाँ इतना ही बतला देना यथेष्ट है। फिर कभी विस्तार से समझा दूँगा। अभी तक मैंने उत्पत्ति के सम्बन्ध में सरकारी सहायता के भेद-प्रभेद पर प्रकाश डाला है। अब मैं सरकार द्वारा होनेवाली उत्पत्ति पर विचार करता हूँ। बात यह है कि कुछ उद्योग-धन्धे इस प्रकार के होते हैं कि उनका प्रबन्ध यदि एक केन्द्र से होता है, तो उसमें मितव्ययिता अधिक होने की गुञ्जाइश रहती है। परन्तु इस प्रकार के कार्य जब कभी कुछ व्यक्तियों पर डाल दिये जाते हैं, तब वे उन्हें इतनी मितव्ययिता से कर नहीं पाते। दूसरे सरकार को भी उन पर नियंत्रण रखना ही पड़ता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ऐसे कार्यों को सरकार स्वतः अपने हाथ में लेती है। रेल, तार तथा डाक आदि कार्य इसी कोटि में आते हैं।

मोहन—किन्तु हमारे देश में रेल का व्यवसाय तो विदेशी कम्पनियों के हाथ में है।

चाचा—लेकिन उनपर सरकार का नियंत्रण तो रहता ही है। इसके सिवा अब तो हमारे यहाँ भी कई रेलवे लाइनों का संचालन सरकार ने अपने

ऊपर ले लिया है। महकमा जंगलात तथा समुद्रतट की रक्षा भी इसी प्रकार के कार्य हैं। कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो साधारण व्यक्तियों के हाथ में रहने के कारण न तो निश्चित् समय पर पूरे हो पाते हैं, न खूबसूरती के साथ पूरे किये जाते हैं और न उनमें उचित मितव्ययिता का निर्वाह हो पाता है; किन्तु जनता के उपयोग और लाभ की दृष्टि से उनका पूरा होना अत्यन्त आवश्यक होता है। तब सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह ऐसे कार्यों को अपने हाथ ही में लेकर जल्दी-से-जल्दी कर डाले।

मोहन—सरकार चाहे तो इनसे कुछ शुल्क भी वसूल कर सकती है।

चाचा—किन्तु प्रायः उन पर कोई शुल्क लगाया नहीं जाता। सर्वसाधारण की सुविधा ही वहाँ मुख्य उद्देश्य होता है। इसके सिवा साधारण जनताद्वारा इसमें कोई हानि होने की भी सम्भावना नहीं रहती। मोटर आदि से यदि सड़कों अथवा पुलों की स्थिति का कुछ क्षय भी होता है, तो उस पर टैक्स लगा ही दिया जाता है।

किन्तु कुछ कार्य फिर भी ऐसे बच ही रहते हैं, जो जनता अथवा व्यक्तियों पर छोड़े नहीं जा सकते। एक तो उनके उत्पादन का हेतु सर्वथा आर्थिक नहीं होता, दूसरे उनका नियंत्रण भी सर्वथा आशंका-हीन नहीं हो सकता। तभी सरकार को स्वतः ही ऐसे कार्यों का प्रबन्ध करना आवश्यक हो जाता है, शस्त्रास्त्रों का निर्माण इसी कोटि में आता है।

मोहन—अच्छा, यह सब तो आपने बतलाया, किन्तु एक बात फिर भी रह ही गयी। और वह यह कि कभी-कभी सरकार ऐसेभी कार्य हाथ में ले लेती है, जिसे वह जन-साधारण के हाथ में सहज ही सौंप सकती है। जैसे नमक आदि। यह क्या बात है?

चाचा—हाँ, इस प्रकार के उत्पादनकार्य सरकार केवल विशेष आय के लिए करती है। यद्यपि नमक का समस्त उत्पादन-कार्य हमारी सरकार नहीं करती, केवल आधा ही करती है। किन्तु शेष आधे पर भी उसका नियंत्रण रहता है।

मोहन—आजकल क़िले में युद्ध-सम्बन्धी सामान बहुत अधिक मात्रा में बन रहा है।

चाचा—हाँ, इस प्रकार की उत्पत्ति सरकार संकटकालीन स्थिति में करती है। उस समय केवल इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि सैनिकों के लिये युद्ध के समय, इस सामान की कमी न पड़े। ऐसे समय प्रायः आयात-निर्यात मन्द या कम हो जाता है। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी आवश्यकता-पूर्ति के लिए देश में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ जाती है। उस समय सरकार को जीवनोपयोगी अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के उपभोग पर भी नियंत्रण करना पड़ता है। यहाँ तक कि कभी-कभी प्रत्येक व्यक्ति के लिये कुछ वस्तुओं के व्यवहार की एक सीमा तक निर्धारित कर दी जाती है।

मोहन—किन्तु भोजनादि के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति पर आपत्ति कालीन स्थिति का क्या प्रभाव पड़ता है?

चाचा—बात यह है कि सरकार को सैनिक सामग्री के निर्माण की ओर इतना अधिक ध्यान देना पड़ता है कि सर्वसाधारण की माँग को उसके आगे कम महत्व दिया जाता है। युद्ध के लिए भी अधिकाधिक सैनिकों की आवश्यकता पड़ती है। अतएव आवश्यकतानुसार आदमी उसी ओर ले लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध-सम्बन्धी सामान बनाने के लिये भी श्रमिकों की इतनी काफ़ी संख्या रखनी पड़ती है कि आवश्यकतानुसार वे बराबर युद्ध सम्बन्धी उत्पत्ति में लगे रहते हैं। इसलिये अन्य वस्तुओं का उत्पादन कम हो जाता है।

उपर्युक्त कार्य ऐसे हैं, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो युद्धकाल से ही रहता है, किन्तु जिनका स्थायी प्रभाव युद्धकाल के बाद अनेक वर्षों तक चलता रहता है। अनेक ऐसे देश ध्वंस कर दिये जाते हैं, जिनका व्यापार बहुत उन्नत दशा में रहता है। संसार की आर्थिक व्यवस्था में भी बड़ा उलट-फेर उपस्थित हो जाता है। यहाँ तक कि युद्ध से सम्बन्ध न रखनेवाले राष्ट्र भी उस आर्थिक विप्लव की लपेट में आये बिना नहीं रहते और उनको व्यावसायिक दृष्टि से पूर्ववत् बनने में पचासों वर्ष लग जाते हैं।

मोहन—अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि उत्पत्ति का समस्त उत्तर-

दायित्व सरकार के ही हाथ में हो, आदि से अन्त तक वही उसका संचालन करे, तब तो कोई कठिनाई ही न रहे। ऐसा होने से न तो उत्पादन में किसी प्रकार का अपव्यय होगा, न कोई ऐसी अड़चन उपस्थित होगी, जिनको दूर करने के लिए सरकार के न्याय, व्यवस्था किंवा नियंत्रण की आवश्यकता रहती है।

चाचा—पर यह आवश्यक नहीं है कि सरकार देश की उत्पत्ति का संचालन करने पर सर्वथा सफल ही हो। सरकारी कार्य तो सदा कुछ निश्चित विधि-विधानों से चला करते हैं। शासन के लिए किसी हद तक यह आवश्यक भी रहता है। परन्तु उत्पत्ति के लिए तो सदा नयी सूझ अथवा प्रणालियों की आवश्यकता रहती है। सरकारी कर्मचारी, चाहे वे कितने ही उच्चवर्ग के क्यों न हो, सदा अपने पदों पर स्थिर रहकर वेतन, वेतन-वृद्धि और अन्त में पेंशन तक ही मर्यादित रहा करते हैं। कार्य की गति तीव्र होने की कहाँ तक आवश्यकता है, कहीं वह शिथिल तो नहीं है, इस ओर उनका ध्यान नहीं रहता। हानि-लाभ के उत्तरदायित्व का भी वे प्रायः कम अनुभव करते हैं। नयी प्रणालियों का प्रयोग करने का उनमें साहस नहीं होता। प्रायः वे लकीर के फ़क़ीर रहते हैं। उन्हें सदा इस बात की आशङ्का बनी रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि नयी पद्धति के अनुसार कार्य करने पर सफलता न मिले—सम्भव है कि वह उच्च पदाधिकारियों, मतदाताओं अथवा व्यवस्थापकों को पसन्द भी न आये तो उनको पदच्युत होकर अपमानित होना पड़े।

यहाँ यह बात भी कम विचारणीय नहीं है कि कोई व्यक्ति या समूह, चाहे वह साझेदारी की पद्धति से काम करे, अथवा मिश्रितपूँजी की कम्पनी से, उसे इस बात का बोध रहता है कि कार्य में जितना अधिक लाभ होगा उतनी ही अधिक उसे उससे अर्थ की प्राप्ति होगी। इसके विपरीत सरकारी पदाधिकारी निर्धारित घंटों में काम करेगा। उसके बाद वह निश्चिंत हो जायगा। न वह छोटी-मोटी बातों में मितव्ययिता पर ध्यान देगा, न उसके अनुकूल अथवा प्रतिकूल फल की परवा करेगा। और जोखम उठाना तो वह कभी स्वीकार ही न करेगा। कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि सरकारी पादधिकारी रहने की अवस्था में जो व्यक्ति अत्यन्त साधारण श्रेणी का जान

पड़ता है, वही व्यावसायिक क्षेत्र में आने पर स्वतंत्र और स्वावलम्बी होकर बड़ा प्रतिभाशाली तथा योग्य साबित होता है।

मोहन—किन्तु आपने तो एक दिन बतलाया था कि रूस देश में उत्पादन का समस्त कार्य सोवियट सरकार के ही हाथ में है और वहाँ उसे इस कार्य में अत्यधिक सफलता मिली है।

चाचा—उसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ की सोवियट सरकार मज़दूरों की है। पूँजीपति वर्ग वहाँ रक्खा ही नहीं गया है। यहाँ तक कि व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने के लिए भी सीमाएँ निर्धारित कर दी गयी हैं।

मोहन—तो आपका अभिप्राय यह है कि सरकार द्वारा उत्पत्ति देश के लिए तभी श्रेयस्कर हो सकती है, जब सरकार का सङ्गठन पूँजीपति-वर्ग से न होकर श्रमजीवी-वर्ग से हो।

चाचा—और तब देश में कभी ऐसी अशान्ति भी हो नहीं सकती, जैसी अनाज अथवा अन्य खाद्य पदार्थों की अत्यधिक महँगी के सम्बन्ध से हमारे यहाँ कभी-कभी अनायास और अवांछनीय रूप से हो जाया करती है।

सैंतीसवाँ अध्याय

उत्पत्ति का आदर्श

संध्या होने जा रही थी। पानी बरस गया था और वायु में तरी आगयी थी। राजाराम बिहारी के साथ किसी कार्यवश गाँव के दूसरे ओर चला जा रहा था। रास्ते में मिल गया जानकीप्रसाद। द्वार पर अपनी गैया दुहने के लिए शायद बछड़े को खोलने जा रहा था। सामने पड़ने से पहले ही राजाराम ने यकायक खड़े हो, धीरे-धीरे, बिहारी से कहा—जीजा जी, यही वह जानकीप्रसाद है, जो पहले हमारे यहाँ हल जोतने पर नौकरी करता था। भगवान की दया से अब एक अच्छा सद्गृहस्थ हो गया हैं। एक गोईं की खेती होती है। घर में गाय रखता है। जिस समय हमारे यहाँ नौकरी पर आया था, बेचारे की हालत अच्छी नहीं थी।

जानकीप्रसाद ने ज्योंही राजाराम को आते देखा, त्योंही वह उसके पैरो की ओर झुककर चरण-स्पर्श करने लगा। अभी वह उठा ही था कि राजाराम ने आशीर्वाद देकर कह दिया—ये हमारे जीजा जी हैं।

तब जानकी ने बिहारी को भी प्रणाम किया।

राजाराम ने पूछा—और कहो जानकी भाई, अच्छी तरह से तो हो?

जानकीप्रसाद बोला—आपके इन चरणों की रज से मुझे इतना मिल गया है कि जन्म भर खाते रहेंगे, पर चुकेगा नहीं।

राजाराम बोला—मैंने ऐसा क्या किया है भाई, जो मुझे इतना सम्मान देते हो! देनेवाला तो कोई और है।

जानकी—नहीं, आप लोगों का सहृदयता-पूर्वक व्यवहार मैं जीवन भर

भूल नहीं सकता। मैं तो अन्तःकरण से यह स्वीकार करता हूँ कि आपके पिता ने ही मुझे अपने पैरों खड़ा होने योग्य बनाया है।

राजाराम—ख़ैर, ये बातें रहने दो। कहो, कोई तकलीफ़ तो नहीं है?

जानकीप्रसाद ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—नहीं भैया, आपकी कृपा से अब किसी चीज़ की कमी नहीं है।

तदन्तर बातें करते हुए राजाराम और बिहारी आगे बढ़ गये। थोड़ी दूर आगे चलने पर बिहारी ने कहा—आज अपनी आँखों के सामने तुम्हारे एक पुराने नौकर के, तुम्हारे प्रति, आदर और कृतज्ञता से पूर्ण, जो भाव मैंने देखे, उन्होंने मुझे बहुत प्रभावित किया। अब मुझे विश्वास हो गया कि सचमुच उत्पत्ति के आदर्श का निर्वाह, जान पड़ता है, दादा जी पूर्णरूप से करते थे।

राजाराम—उत्पत्ति का आदर्श क्या है, यह तो मैं नहीं जानता। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि नौकरों के साथ उनका व्यवहार बहुत सहृदयता-पूर्ण रहता था काम के वक्त तो वे रू-रियायत करना न जानते थे। पर एक तो वेतन सदा निश्चित समय पर बिना माँगे देते थे। दूसरे फ़सल अच्छी होने पर, इनाम के तौर पर, दो-चार मन अनाज उन्हें बाँट भी देते थे। और ज़रूरत पड़ने पर जो रुपया उन्हें देते, वह कभी फिर माँगते न थे। कोई दे देता, तो भले ही ले लेते, पर उसके लिए कभी कोई कटुता मन में न लाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि नौकर बहुत ईमानदारी और मेहनत से काम करते थे। यहाँ तक कि वे हम लोगों को अपना अन्नदाता समझते थे। आपने देखा ही है, आज तक यह जानकीप्रसाद मुझे उसी भाव से मानता है।

बिहारी—वही तो मैं कह ही रहा हूँ कि परोपकार ही उनके जीवन का आदर्श था, और सच पूछो तो उत्पत्ति का आदर्श भी यही होना चाहिये।

राजाराम—पर आजकल यह सम्भव कहाँ है? आजकल तो लोग केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। दूसरों को चाहे जितनी हानि हो, इसकी चिन्ता उन्हें क़तई नहीं होती। गतवर्ष की ही बात है, खेत में पानी लगाने के सिलसिले में इसी गाँव में, लाठी चल गई थी। दाताराम तो मरते-मरते बचा था। किसी

को उम्मीद नहीं रही थी कि फिर धरती पर चलेगा। असल में क़ुसूर उसका कुछ भी न था। सारी ज़्यादती बद्रीनाथ के आदमियों की थी, जो हमारे किसानों को खेत सींचने के लिये पानी नहीं लेने देते थे। दाताराम ने इसका विरोध भर किया था।

बिहारी—प्रत्येक देश में कुछ लोग इस प्रकार के होते हैं, केवल धन कमाना जिनका उद्देश्य होता है। उचित-अनुचित अथवा ईमानदारी-बेईमानी इसका कोई विचार उन्हें नहीं होता। एन-केन-प्रकारेण अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही उनका मुख्य कार्य होता है। ये पूँजीपति कई प्रकार के होते हैं।

वे उत्पादन के सारे साधनों पर अपना पूर्ण अधिकार रखते हैं। वे श्रमिकों से उसी तरह काम लेते हैं, जिस तरह कोई हरवाहा बैलों से काम लेता है। बल्कि बैलों को वक्त पर .ख़ूराक और आराम तो दिया जाता है। श्रमिकों के लिए तो वे इसका भी उचित प्रबन्ध नहीं करते। किसी भी समय वे श्रमिकों को, चाहे तो, निकाल दे सकते हैं। पूँजीवादी देशों में लाखों बेकार श्रमिक उनके अत्याचार की चक्की में नित्य पिसा करते हैं। वहाँ समाज में दो भेद क़ायम हो जाते हैं। एक ओर कुछ थोड़े अमीर होते हैं। उनकी कोठियाँ होती हैं, वे मिल तथा कारख़ाने चलाते हैं और मोटर पर चलते हैं। विलास-भोग में नित्य सैकड़ों रुपये ख़र्च कर डालना उनके लिये आसान काम होता है। यद्यपि दूसरी ओर उन्हीं के पड़ोस में, उन्हीं के कारख़ानों और मिलों में ऐसे लोग बसते हैं, जिनको पेट-भर खाना नसीब नहीं होता, जो हवादार तथा साफ़ स्थान तक रहने के लिए नहीं पाते। वे जीवित रहते हुए भी एक नर-कंकाल होते और प्रायः अकाल मृत्यु अथवा प्राण-पीड़क भयंकर बीमारियों के शिकार होकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं।

कुछ पूँजीपति केवल अपने लाभ के लिए उत्पादन करते हैं। जब एक ओर करोड़ों मज़दूर और किसान नंगे और भूखे रहते हैं, तब वे पूँजीपति केवल वस्तुओं का भाव बढ़ा देने के लिए बाज़ार-भर का सारा स्टाक अपने गोदामों में भर लेते और कभी-कभी तो ऐसी विपुल वस्तु-राशि को जला डालते अथवा समुद्र में फिकवा देते हैं। वे अपनी अधिकांश शक्ति केवल निजी भोग-विलास

की उत्तरोत्तर वृद्धि में लगाते हैं।

कुछ पूँजीपति श्रमिकों को प्रायः इतनी कम मज़दूरी पर कार्य करने को विवश करते रहते हैं कि उनका रहन-सहन कभी उच्च श्रेणी का नहीं हो पाता, उनकी स्वभाविक प्रगति का पथ रोक दिया जाता है। और इसका फल यह होता है कि उनकी दशा सुधरने की अपेक्षा उत्तरोत्तर बिगड़ती जाती है।

राजाराम—किन्तु हमने तो देखा है कि कुछ मिल-मालिक मज़दूरों के के लिए साफ़-सुथरे मकान बनवाते और अस्वस्थ होने पर उनकी उचित चिकित्सा होने के लिए अपने कारख़ाने की ओर से डिस्पेंसरी या औषधालय की भी व्यवस्था कर देते हैं।

बिहारी—यह भी उन्होंने मजबूरन किया है। सो भी बहुत कम जगह ऐसा हुआ है। और हुआ है तो मज़दूरों के संगठित आन्दोलन के द्वारा। इसके सिवाय यह यथेष्ट संतोष-जनक रूप से होता भी नहीं है। इसमें कृपणता, असावधानी और गैरज़िम्मेदारी ही प्रायः देखी जाती है। बात यह है कि उनका दृष्टिकोण ही भिन्न रहता है। वे मज़दूर को आख़िर तक मज़दूर ही बना रखना चाहते हैं। इस पूँजीवाद में दो श्रेणियाँ रहना अनिवार्य्य-सा है। किन्तु विचार करने और ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब कोई व्यक्ति अथवा उनका समूह यह चाहे कि समाज अथवा देश में चाहे जितनी अशान्ति-असमानता, विषमता और संघर्ष बना रहे, साधारण जनता चाहे जितनी दरिद्र, हीन और परावलम्बी बनी रहे, चाहे जितनी नारकीय यंत्रणाएँ वह पाती रहे, पर हमको समस्त सुख-समृद्धि के असीम साधन सदा उपलब्ध बने रहें, यहाँ तक कि हमारी संतान को भी कभी उसकी कमी न हो, तो ऐसा कभी हो नहीं सकता। हम तब तक सुखी और सन्तुष्ट रह नहीं सकते, जब तक दूसरों को भी सुखी और सन्तुष्ट देखना हमें सहन, रुचिकर और अभीष्ट न होगा।

राजाराम—तो आप चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति परोपकारी हो जाय। किन्तु ऐसा परमार्थवाद सम्भव जो नहीं है।

बिहारी—पहले तुम्हें यह मालूम होना चाहिए कि परमार्थवाद के भी कई भेद हैं। किन्तु हम इसके मुख्य तीन भेद कर सकते हैं। (१) वस्तुओं

के उत्पादन में परोपकार-भाव रखना। (२) त्याग-भाव से सेवा करना। (३) अपने पैदा किये हुए धन को दूसरों के हित लगा देना। ऐसे परोपकारी गीता, रामायण तथा बाइबिल आदि धर्म-ग्रन्थों को छपवाकर सर्वसाधारण जनता में बिना मूल्य अथवा बहुत कम मूल्य पर वितरित करा देते हैं। कुछ लोग गरमियों में प्याऊ बैठाते, ठहरने की दिक़्क़त होनेवाले स्थानों पर धर्मशाला बनवाते और जहाँ आवश्यकता समझते हैं, वहाँ दातव्य औषधालय, अनाथालय, विधवाआश्रम, मातृमंदिर तथा औद्योगिक विद्यालय खोलकर जनता की हित-कामना करते हैं। बहुधा देखा गया है कि इनमें से कुछ लोग ऐसे भावुक अथवा त्यागी निकल आते हैं, जो अपने भरण-पोषण मात्र के लिए कोई दूसरा उत्पत्ति सम्बन्धी काम करने लगते हैं। समर्थ होने पर जो इस तरह का साधु जीवन बिताते हैं, उन्हें इसमें शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट का भान ही नहीं होता। वे न तो किसी का दान स्वीकार करते, न किसी की कृपा। उनकी उत्पत्ति का प्रधान लक्ष्य होता है—थोड़े में संतोष और जो बढ़े सो परोपकारार्थ उत्सर्ग।

परोपकार-परायण ऐसे लोग प्रायः प्रत्येक देश में थोड़े-बहुत होते ही हैं। हमारे देश में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिन्होंने देश-सेवा, साहित्य-सेवा अथवा समाज-सेवा में अपना सारा जीवन लगा दिया है। यदि वे इच्छा करते तो अपनी योग्यता के बल पर बहुत अच्छे उत्पादक हो सकते थे, आर्थिक दृष्टि से उनकी पद-मर्यादा बहुत उच्च हो सकती थी। परन्तु उन्होंने इसकी ओर ध्यान न देकर केवल साधारण भोजन-वस्त्र ही लेना स्वीकार किया। कुछ लोग तो इतने परोपकारी होते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर अपनी उपार्जित वस्तु और सम्पत्ति को दूसरों के उपभोग के लिए मानों भेंट कर देते हैं। अगर कुछ बच जाता है, तो भले ही उसे स्वीकार कर लेते हैं, अन्यथा कुछ न बचने पर भी वे संतोष कर लेते हैं। हमारे यहाँ आतिथ्य-सत्कार की मर्यादा ही ऐसी उच्च मानी गयी है कि भोजन के समय अगर कोई बाहरी आदमी आ जाता है तो केवल अपने लिए बनाये गये भोजन में लोग उसे भी शामिल कर लेते और स्वतः कुछ भूखे रहजाने में परम प्रसन्नता और सौभाग्य मानते हैं। कितने ही लोगों ने रास्ता चलते हुए जब किसी को ठंढ से

सिकुड़ता हुआ पाया, तो अपना गरम कोट उसे उतारकर दे दिया है। महाराज दिलीप ने गाय की रक्षा के लिए तथा महात्मा शिवि ने कबूतर की रक्षा के लिए प्राणों की भेंट चढ़ाना स्वीकार किया और भगवान बुद्ध ने जन-साधारण के कल्याण-मार्ग को खोज निकालने के लिए अपने समस्त राज-पाट और ऐश्वर्य का त्याग कर दिया था। ऐसे परोपकारी लोग वसुधा-भर को अपना कुटुम्ब मानते हैं और सदा अपनी आवश्यकताओं से दूसरों की आवश्यकताओं को विशेष महत्व देते हैं।

राजाराम – तभी तो युग-युगान्तर तक ऐसे महात्माओं का गुण-गान होता है। लेकिन कुछ हो, यह रास्ता थोड़े व्यक्तियों का ही हो सकता है। सभी आदमी ऐसे हो नहीं सकते। सब के लिए यह व्यावहारिक भी नहीं है।

बिहारी—तभी अर्थशास्त्र में जन-साधारण के लिए न तीव्र स्वार्थवाद की आवश्यकता मानी गयी है, न परमोच्च परमार्थवाद की। उसमें मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर समझा गया। अँगरेज़ी में एक कथन है Live and let live अर्थात् जियो और जीने दो। तात्पर्य यह कि हमें अपने को भी देखना चाहिए, अपना भी स्वार्थ-साधन करना चाहिए, पर दूसरों को अवांछनीय क्लेश देकर नहीं, उनका सर्वस्व अपहरण करके नहीं। उनकी भी आवश्यकताओं का एक महत्व है, उनका प्राप्तव्य भी उन्हें मिलना चाहिए। और अगर उनके उचित प्राप्तव्य में बाधा डालकर, उनके स्वार्थों का विचार न कर, हम अपना ही स्वार्थ-साधन करते हैं, तो यह हमारे लिए सर्वथा अनुचित है। यह दूर-दर्शिता भी नहीं है। यह तो हमारा हठ है और अज्ञान है। यह मनुष्यता भी नहीं है। पशु जैसे धक्का मारकर, या आक्रमण करके, दूसरे पशु के आगे का चारा खा जाता है, यह उसी श्रेणी की वृत्ति है। और यदि इसे पशु-वृत्ति कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। अतएव दूसरों का हित साधन करते हुए हमें अपना स्वार्थ-साधन करना चाहिए। रूस देश में जो उत्पत्ति की जाती है, उसका मुख्य उद्देश्य भी व्यक्तिविशेष का हित-साधन न करके सारे समाज का हित-साधन करना है। वहाँ व्यक्ति का हित समाज का हित और समाज का हित व्यक्ति का हित माना जाता है। वहाँ व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्तियों की श्रेणीविशेष के हित तथा लाभ का कोई प्रश्न ही नहीं

उठता। कुछ मर्यादाओं को छोड़कर वहाँ तो मानो समाज प्रत्येक व्यक्ति के लिए है और प्रत्येक व्यक्ति समाज-भर के लिए।

राजाराम—किन्तु यह परोपकार-वृत्ति तो वास्तव में धर्म-सम्बन्धी है। अर्थशास्त्र में इसको इतना महत्त्व क्यों दिया गया है ?

बिहारी—हमारा देश धर्म-प्रधान है। हमारे यहाँ धार्मिकता का अर्जन ही मोक्ष का चरम साधन माना गया है। इसीलिये जीवनोपयोगी समस्त नियमों तथा सिद्धान्तों को हमारे यहाँ धार्मिकता से ओत-प्रोत कर दिया गया है। हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं कि धन का अर्जन भी धर्म-पूर्वक ही करो। जो धन अधर्म से प्राप्त किया जाता है, चरम सुख-शांति उससे मिल नहीं सकती। अधर्म से प्राप्त हुआ धन देश और समाज के हितों की रक्षा भी नहीं कर सकता।

इसके सिवा हमारे देश का जन-समाज मूलतः धर्म-भीरु भी है। जब तक हम अर्थशास्त्र जैसे महत्व-पूर्ण विषय में धार्मिक भावना की पुट देकर जन-साधारण के हिताहित की समीक्षा नहीं करते, तब तक हमारे देश का स्वार्थी समाज उत्पत्ति के वास्तविक आदर्श को ग्रहण भी तो नहीं कर सकता।

किन्तु यहाँ इस बात के भी स्पष्ट हो जाने की आवश्यकता है कि अर्थ-शास्त्र में इस धार्मिक भावना की पुट ज़बर्दस्ती नहीं की गयी। क्या इसमें कुछ सन्देह है कि जो पूँजीपति अपने कारख़ाने के ग़रीब मज़दूरों से बहुत अधिक काम लेकर उसके अनुसार पूरी मज़दूरी नहीं देता, लाभ के मोह में पड़कर न जो उनके भरण-पोषण के साधनों की परवा करता है, न उनकी स्वास्थ्य-रक्षा की ओर ध्यान देता है, जो उनके बाल बच्चों को नंगा और भूखा रखकर निरंतर उनका क्षय करता है, वह देश और समाज को हानि पहुँचानेवाला एक महापतित और महापातकी पुरुष है ? वास्तव में वह विश्व-कल्याण के लिए शत्रुवत् है। वह दुष्टात्मा है और धर्म-च्युत है। क्या इसमें कोई शक है कि यदि कोई महाजन किसी किसान अथवा सद्गृहस्थ से बहुत अधिक सूद लेता है, कोई ज़मीदार अपने असामी का हक़ मारता, उस पर लगान बढ़ाता अथवा उसका खेत बेदख़ल करता है, या कोई वकील अपनी आमदनी बढ़ाने के लोभ को संवरण न कर अपने मुवक्किल को मुक़दमेबाज़ी के लिए उकसाता,

झूठे मामले गढ़ता अथवा गढ़ने में मदद देता और उसे फँसाकर उसकी पसीने की कमाई का धन बरबाद कराता है वह हमारे समाज और देश के नाश में योग देता है ? वह यह भूल जाता है कि धन किसी एक व्यक्ति की चीज़ नहीं है। सामाजिक संगठन से ही उसको महत्त्व मिला है। और जब उसका धन समाज के अहित में सहायक होता है, तब वह अपने ही मूल में कुठाराघात तो करता है ! धन तो सुख-प्राप्ति का एक साधन मात्र है। अतएव धनोत्पत्ति के जिस साधन से देश अथवा समाज में अशान्ति बढ़ती है, यातना बढ़ती है, उसकी उन्नति-मूलक भावनाओं का क्षय होता है, वास्तव में वह उत्पत्ति के मूल आदर्श के कितने विरुद्ध हैं ! हम भारतवासी हिंदू-धर्मशास्त्र की इस स्पष्ट आज्ञा को जानते हुए कि अर्थ-संबन्धी प्रत्येक कार्य धर्म के अनुसार ही होना चाहिये उसकी बराबर अवहेलना करते जा रहे हैं। संसार के सभ्य कहे जानेवाले देश भी भौतिकवाद के चक्कर में आकर अपने आर्थिक कार्यों में दूसरों के हितों की अवहेलना कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि सर्वत्र ही दुःख और अशांति का साम्राज्य फैलगया है। संसार में सुख और शांति की लहर स्थायी रूप से तबही फैल सकती है जब अर्थ-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में धर्म का ध्यान रखा जाय। ऐसा कोई कार्य न किया जाय जिसमें व्यक्तिगत लाभ के साथ ही साथ दूसरों को हानि हो। केवल ऐसे ही कार्य किये जांय जिनसे व्यक्तिगत लाभ के साथ दूसरों का, देश का, समाज का लाभ अवश्य होता हो। उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी हमारा यही आदर्श होना चाहिये।

दादा की याद करके राजाराम ने ठण्ढी सांस लेते हुए कहा—बचपन की बहुत थोड़ी स्मृतियाँ रह गई हैं। तो भी मुझे ऐसे जान पड़ा, मानो दादा की अन्तरात्मा ही आपके इन विचारों के भीतर बोल रही है !

अढ़तीसवाँ अध्याय

वस्तु-परिवर्तन

नित्य मोहन प्रातःकाल होते ही उठता और नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर शाक-भाजी ख़रीदने के लिए बाज़ार चला जाता है। आज कुछ सामान और भी ख़रीदना था। इस लिए उसके चाचा भी साथ थे। दारागंज में शाक-भाजी का बाज़ार प्रातःकाल ही गंगा-भवन के निकट लगता है। अधिकांश रूप में देहाती लोग ही शाक-भाजी वहाँ ले आकर बेचते हैं। मोहन के चाचा का ध्यान तो आम ख़रीदने की ओर था। एक जगह ठहर कर वे आमों का मोलभाव करने लगे। पर मोहन चारों ओर नज़र डालता हुआ चल रहा था। अतः उसने देखा, एक आदमी गाजरवाले से कह रहा है—मेरे पास पैसा नहीं, अरहर की दाल यह थोड़ी-सी है। इसे ले लो और बदले में गाजर दे दो।

गाजरवाला बोला—अरहर की दाल है! अच्छा, मैं ले लूँगा। पर है तो यह बहुत थोड़ी। पावभर भी न होगी।

एक और आदमी उसके पास जामुन लिये बैठा था। बोला—पावभर तो होगी गज्जू। अरहर की दाल भारी होती है, थोड़ी-सी ही चढ़ती है। कम ज़रूर है, तो भी दो पैसे से कम क्या होगी! लेकिन तुम्हें तो पैसे चाहिये। दाल तो तुम्हारे घर में भी होगी।

गज्जू के यहाँ इस साल अरहर कुछ कम हुआ है। जो हुआ, सो भी लगान अदा करने के सिलसिले में उसने बेच डाला था। अरहर की दाल के स्थान पर अधिकतर मटर की ही दाल उसके यहाँ पकती है। इसलिए

जामुन ले आनेवाले उस साथी की बात का उसने कोई जवाब नहीं दिया।

उधर दालवाले ने देखा, यह गाजरवाला शायद गाजर देना नहीं चाहता है। इसीलिए चुप है। इसलिए अधीर होकर वह तब तक बोल उठा—भैया, दाल बहुत अच्छी है, ले लो।

गज्जू तो निश्चय कर ही चुका था कि दाल वह ले लेगा। अतएव उसने उसके घुटने को धक्का देकर पूछा—कितनी गाजर तौल दें, बुधई! यों दो पैसे सेर बिकती है। तुम कहते हो दाल पावभर होगी। लेकिन मुझे तो कम जान पड़ती है। अब कौन तौले ज़रा-सी दाल को। अच्छा मैं तुमको तीन पाव गाजर दे सकता हूँ, तौलूँ?

दालवाला बोल उठा—तीन पाव दोगे! कुछ और ज़्यादा न दोगे? दाल तो हमारी पाव भर से कम है नहीं। अच्छा, ठहरो मैं तुम्हारे सामने तोले देता हूँ।

गज्जू इसी समय बोल उठा—अब चाहे वह पाव भर हो, या सवा पाव। मैंने कह दिया कि तीन पाव गाजर दूँगा।

तब दालवाला बोल उठा—अच्छा दे दो।

आम और शाक-भाजी लेकर जब मोहन चाचा के साथ घर को चलने लगा, तो उसने चाचा से कहा—आप तो उधर आम ख़रीदने में लगे रहे। पर मैंने तरकारी ख़रीदते हुए एक विचित्र बात देखी। अभी-अभी एक देहाती आदमी ने दाल देकर गाजर ख़रीदी है। देखिये वह गाजरवाला दाल को अपने कपड़े में बांध रहा है और दालवाला गाजर लिये जा रहा है। मैंने शहर में तो इस प्रकार अदला-बदली होती कभी नहीं देखी।

चाचा ने घटना को समझाते हुए कहा—हां, ऐसी ख़रीद शहरों में बहुत कम होती है। यहाँ तो अधिकतर पैसे देकर ही माल ख़रीदा जाता है। पर शायद गाजर वाले ने उस आदमी की हालत देखकर दाल के बदले में गाजर दे दी है।

बाज़ार से लौटा, तो मोहन के मन में न मालूम क्यों यही बात उथल-पुथल मचाने लगी। अन्त में उससे न रहा गया और उसने कहा—मुझे तो चाचा, ऐसा जान पड़ता है कि मानव सभ्यता के आदि काल में जब मुद्रा का

जन्म नहीं हुआ था, लोग इसी तरह अपनी-अपनी आवश्यक वस्तुएँ दूसरे से लेकर काम निकालते थे, वस्तुओं को परिवर्तन में लेने का यह चलन उसी प्रचलन का मन्द पड़ता हुआ क्षीण रूप है।

चाचा ने कहा—तुम्हारा यह सोचना बिल्कुल ठीक है। चीज़ों के ख़रीदने के प्रायः दो ही रूप होते हैं। एक यह वस्तु-परिवतन का रूप, दूसरा वस्तु को बदले में रुपया-पैसा देकर खरीदना।

यह कहकर वे चुप हो गए। इतने में मोहन ने कहा—और ?

चाचा—और क्या ? मालूम होता है कि तुम शुरू से सब बातें जानना चाहते हो। अच्छा चलो घर पर बैठकर आज तुम्हें मैं इस बारे में कुछ और बतलाऊँगा।

घर में तरकारी तथा आम चाची के सुपुर्द कर मोहन चाचा को बैठक में ले गया और वहाँ उनसे बोला—हाँ, अब बतलाइए।

चाचा—बात यह है कि जब कोई वस्तु एक के अधिकार से किसी दूसरे के पास पहुँच जाती है तो आमतौर पर हम उसे उस वस्तु का अधिकार-परिवर्तन कहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि अधिकार-परिवर्तन के लिए उस वस्तु को अपने स्थान से हटाना ही पड़े। चाय, चीनी, तरकारी आदि वस्तुएँ ख़रीद के समय तो अवश्य दूकानदार की आलमारी या डलिया से ख़रीदार के हाथ में आती है। पर भूमि, मकान आदि कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं, जो अपनी जगह से हटाई ही नहीं जा सकतीं।

ख़ैर अधिकार परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो जब तुम्हें ज़बरदस्ती या अनिच्छापूर्वक कोई वस्तु दूसरे को देनी पड़ती है।

मोहन—जैसे चोर डाकू करते हैं। ज़बरदस्ती किसी के घर में घुस गये और माल-असबाब, गहना, कपड़ा, सोना-चाँदी जो पाया लेकर चल दिये।

चाचा—इसके अलावा सरकार को जो टैक्स या जुर्माना आदि दिया जाता है वह भी तो अनिच्छा से ही होता है।

मोहन—लेकिन लोग जो पंडों, पुरोहितों को दक्षिणा आदि के रूप में बहुत-सा धन देते हैं क्या वह भी इसमें आ जाएगा ?

चाचा—यदि वे अनिच्छापूर्वक देते हैं, तब तो ख़ैर आ जाना चाहिए।

किन्तु दान-दक्षिणा तो बहुधा इच्छापूर्वक भी दी जाती है। दूसरे प्रकार के अधिकार-परिवर्तन में वस्तु विशेष इच्छा से दी जाती है। इसके भी दो भेद हैं। हम जो दान देते हैं अथवा वसीयत में जो धन या वस्तुएँ मिलती हैं, उनके बदले में कुछ नहीं मिलता। परन्तु गाजरवाले ने जिस प्रकार का अधिकार-परिवर्तन किया था उसमें उसे गाजर के बदले में अरहर की दाल मिल गई। अर्थशास्त्र में इसका काफ़ी महत्व है।

मोहन—क्यों चाचा, क्या इसलिये कि इसके अंतर्गत क्रय-विक्रय का प्रश्न उठता है?

चाचा—हां, मैंने तुम्हें बताया था कि किसी आदमी का काम केवल अपनी ही बनाई वस्तुओं से नहीं चल सकता।

मोहन—ठीक है, गाँव में बढ़ई, लोहार, धोबी, न मालूम कितने आदमी इस तरह के होते हैं जिन्हें अपने काम और अपनी बनाई वस्तुओं को देकर दूसरे से अनाज मोल लेना पड़ता है।

चाचा—प्रत्येक मनुष्य को दूसरों की बनाई हुई वस्तुओं की आवश्यकता होती है। पर उन्हें लेने के लिए दूसरों को भी उन्हें कुछ वस्तुएँ देनी पड़ती हैं। जैसा कि तुमने अभी बताया, तुम्हारे गाँव का बढ़ई हल, गाड़ी के पहिये आदि वस्तुयें बनाकर दूसरों को देता है तभी उसके बदले में अनाज तथा पैसे आदि पाता है। पर एक बात याद रक्खो। जिससे तुम कोई वस्तु लेने जा रहे हो वह तुम्हारी वस्तु तभी लेगा जब उसे उसकी ज़रूरत होगी।

मोहन—तब क्या गाजरवाले को अरहर की दाल की आवश्यकता रही होगी।

चाचा—ज़रूर रही होगी। पर उसने जितनी क़ीमत की दाल पाई होगी, उतनी क़ीमत की गाजर थोड़े ही दी होगी।

मोहन—हाँ, यह तो आप बिल्कुल ठीक कहते हैं। शायद पाव भर दाल थी और तीन पाव गाजर दी गई। हिसाब से उसे पूरे सेर भर मिलनी चाहिये थी।

चाचा—पाव भर दाल दो पैसे से कम न आवेगी। और तीन पाव गाजर डेढ़ पैसे की हुई। गाजरवाले को लाभ हुआ और उसे लाभ तो उठाना ही

चाहिये। वस्तु परिवर्तन प्रथा में सब से बड़ा दोष यही है कि जो पहले अपनी आवश्यकता प्रकट करता है उसी को सबसे कम लाभ होता है।

मोहन—पर आप जो पैसे देकर तरकारी ख़रीदते हैं क्या उसे परिवर्तन नहीं कह सकते?

चाचा—नहीं! वास्तव में कोई वस्तु देकर किसी वस्तु को लेना विनिमय कहलाता है। पर जब दोनों वस्तुओं में से कोई भी रुपया-पैसा नहीं होता, तो उस विनिमय को परिवर्तन कहते हैं। परन्तु जब किसी वस्तु के बदले में रुपया-पैसा दिया जाता है तो उस कार्य को क्रय-विक्रय कहते है।

मोहन—तो हमारे गाँव का बुधई बढ़ई, लोलई लोहार आदि वस्तुओं का परिवर्तन करते हैं?

चाचा—और क्या?

मोहन—और अगर दोनों वस्तुओं में से एक रुपये-पैसे के रूप में हो तो उसे क्या कहेंगे?

चाचा—मैंने अभी तो बतलाया कि उसे क्रय-विक्रय कहेंगे। क्रय-विक्रय में वस्तु के बदले में द्रव्य (रुपया-पैसा) दिया जाता है। इसका उदाहरण है तुम्हारा तरकारी ख़रीदना और उस दिन तुमने वह इङ्गलिश प्रोज़ सेलेक्शन पुस्तक भी तो ख़रीदी थी।

मोहन—तब तो प्रत्येक क्रय दूसरी ओर से विक्रय और प्रत्येक विक्रय दूसरी ओर से क्रय है।

यह बारीक़ बात तुमने खूब सोची, मुसकराते हुए चाचा बोले—वास्तव में क्रय के माने होते हैं ख़रीदना और विक्रय माने बेचना। पर मैं जब तरकारी का क्रय करता हूँ तो तरकारीवाले की दृष्टि से निस्सन्देह वह तरकारी का विक्रय होता है। निदान तरकारी की ख़रीद में एक पक्ष क्रय करता है और दूसरा विक्रय। अच्छा, अब यह बताओ कि क्रय-विक्रय या परिवर्तन के लिए किन-किन शर्तों का होना अनिवार्य है?

मोहन—शर्तों का? अच्छा, शायद आपका मतलब यह है कि विनिमय कब होता है?

चाचा—अच्छा, यही बताओ।

मोहन—विनिमय के लिए ऐसे दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जिनके पास दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ रहती हैं।

चाचा—और?

मोहन—और तो मैं नहीं सोच सकता।

चाचा—बात यह है कि केवल इतने से विनिमय की क्रिया नहीं हो सकती। विनियम के हेतु यह भी अनिवार्य है कि दोनों में से प्रत्येक को दूसरे की वस्तु की आवश्यकता हो।

मोहन—हाँ, फिर यह तो आवश्यक है। बिना इसके तो क्रय-विक्रय हो नहीं सकता।

चाचा—अच्छा, अब एक बात बतलाओ। क्या तुम यह सिद्ध कर सकते हो कि परिवर्तन से दोनों पक्ष को लाभ होता है?

मोहन—लाभ न हो तो एक व्यक्ति अपनी वस्तु देकर दूसरे की वस्तु क्यों ले?

चाचा—पर यह ज़रूरी नहीं कि सदा ऐसा ही हो।

मोहन—मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है।

चाचा—क्यों? क्या यह नहीं हो सकता कि तुम किसी वस्तु को ख़रीदने में सोचो कि यह उम्दा निकलेगी, पर घर पहुँचने पर वह रद्दी निकल जाय?

मोहन—पर उस वस्तु को लेते समय तो मैं यही सोचूँगा कि मुझे इसके लेने से कुछ-न-कुछ लाभ हो रहा है।

चाचा—तब तुमको कहना चाहिये कि विनिमय के लिए यह अनिवार्य है कि दोनों पक्ष यह अनुभव करें कि इसके द्वारा उन्हें लाभ होगा और साधारणतया प्रायः दोनों पक्षों को लाभ होता भी है। ऐसा कहने से तुम्हारा कथन प्रत्येक विनिमय-क्रिया पर लागू होगा।

मोहन—यह तो आपने बहुत अच्छा बताया।

चाचा—अच्छा, तुम्हें याद है मैंने तुम्हें सीमांत-उपयोगिता के बारे में बताया था कि कोई व्यक्ति अपनी वस्तु को तभी दूसरी वस्तु के लिए देगा जब दूसरी वस्तु की सीमान्त-उपयोगिता पहली से अधिक हो। उदाहरण के लिए मैं पैसे देकर तरकारी इसीलिए ख़रीदता हूँ; क्योंकि मेरे लिए

तरकारी की सीमांत-उपयोगिता पैसों की सीमांत-उपयोगिता से अधिक होती है। जहाँ वह कम हुई वहीं मैंने तरकारी ख़रीदना बंद किया।

मोहन—सिद्धान्त रूप से तो यह ठीक है। पर व्यवहार में ऐसा नहीं हो सकता। व्यवहार का अवसर आने पर हम इसी निष्कर्ष पर कभी नहीं पहुँच सकते।

चाचा—हाँ, व्यवहार में तो हमेशा हम लोग इस बिन्दु के आस-पास ही रहते हैं। यदि बाज़ार में नारंगी खरीदने जाओ तो तुम तीन पैसे, एक आना या पांच पैसे कुछ भी दे आओगे। मैं ही उस दिन पपीता ख़रीद रहा था। मैं दो आने दे रहा था और पपीतेवाला तीन आने माँग रहा था। फिर वह ढाई आने माँगने लगा। मैंने नौ पैसे का माँगा, पर फ़ौरन ही दस पैसे ही देदिये। मुझे नौ या दस पैसों के बीच किसी विशेष अंतर का बोध नहीं हुआ। अच्छा, ज़रा क़ाग़ज़-पेंसिल देना। मैं तुम्हें एक सवाल देता हूँ। देखो, सोहन के पास ६ नारंगी है और तुम्हारे पास ६ ख़रबूजे। इनकी सीमान्त-उपयोगिता इस प्रकार है।

यह कहकर उन्होंने क़ाग़ज़ पर कोष्टक रूप में उपयोगिताएँ लिखते हुए कहा कि बताओ तुम कितने ख़रबूज़े देकर नारंगिया लोगे। एक नारंगी के बदले एक ख़रबूजा मिलता है।

मोहन के चाचा ने जो कोष्टक बनाया वह निम्नप्रकार का था:—

नारङ्गी और ख़रबूज़ों की संख्या	सोहन के लिए नारङ्गी की सीमांत उपयोगिता	सोहन के लिए ख़रबूज़ों की सीमांत उपयोगिता	मोहन के लिए ख़रबूज़ों की सीमांत उपयोगिता	मोहन के लिए नारङ्गी की सीमांत उपयोगिता
१	१००	११०	१२०	१३५
२	९९	१०५	११५	१२५
३	९८	९५	११०	१००
४	९६	८५	९६	७०
५	९३	७०	८५	३५
६	८८	५०	६०	२०

मोहन कुछ देर सोचता रहा। फिर बोला—मैं तो तीन ख़रबूज़े देकर तीन नारङ्गियाँ ले लूँगा।

चाचा—यह जान लेना इतना सरल नहीं है। मान लो, पहले सोहन ने एक नारङ्गी तुमको एक ख़रबूज़े के बदले में दी। तुम्हारी वह पहली नारङ्गी होगी, इसलिये उसकी उपयोगिता तुमको होगी १३५, परन्तु उसकी वह छठवीं नारङ्गी होगी जिसकी उपयोगिता उसको केवल ८८ है। इसी प्रकार जो तुम ख़रबूज़ा दोगे वह तुम्हारा छठवाँ ख़रबूज़ा होगा और उसकी उपयोगिता तुमको केवल ६० ही है। परन्तु वही ख़रबूज़ा सोहन का पहला ख़रबूज़ा होगा और उसकी उपयोगिता उसको ११० होगी। इसी प्रकार इस प्रथम परिवर्तन से सोहन को लाभ होगा ११० — ८८ = २२ उपयोगिता।

और तुमको लाभ होगा १३५ — ६० = ७५ उपयोगिता।

मोहन—यह तो मैं समझ गया। अब यह बतलाइये कि दूसरे ख़रबूज़े के परिवर्तन में क्या परिणाम होगा?

चाचा—सोहन को नारङ्गी के बदले जो दूसरा ख़रबूज़ा मिलेगा उसकी उपयोगिता उसे १०५ होगी। उसके बदले में जो वह नारङ्गी देगा वह उसकी पाँचवीं नारङ्गी होगी जिसकी उपयोगिता उसे ९३ है। इस प्रकार सोहन को लाभ होगा:—

१०५ — ९३ = १२ उपयोगिता। इसी प्रकार तुमको भी लाभ होगा। तुम जो दूसरी नारङ्गी प्राप्त करोगे उसकी उपयोगिता तुमको १२५ होगी और उसके परिवर्तन में जो अपना पाँचवा ख़रबूज़ा दोगे उसकी उपयोगिता तुमको केवल ८५ है। इस प्रकार तुमको लाभ होगा:—

१२५ — ८५ = ४० उपयोगिता।

मोहन—क्या इसी प्रकार प्रत्येक सौदे से दोनों को लाभ होता रहेगा?

चाचा—ज़रा धीरज रखो। अब तीसरे सौदे के सम्बन्ध में विचार करो। इस तीसरे सौदे में जो तुमको तीसरी नारङ्गी मिलेगी उसकी उपयोगिता तुमको १०० होगी। इसके बदले में तुम अपना चौथा ख़रबूज़ा दोगे जिसकी

उपयोगिता तुमको ९६ है। इसी प्रकार इस सौदे में तुमको १०० – ९६ = ४ उपयोगिता का लाभ होगा। और तुम इस सौदे के लिये भी उत्सुक होगे। सोहन को इस सौदे में जो तीसरा ख़रबूज़ा मिलेगा उसकी उपयोगिता उसे ९५ है और उसके बदले में वह जो अपनी चौथी नारङ्गी देगा उसकी उपयोगिता उसे ९६ है। इसलिये वह अपनी चौथी नारङ्गी ख़रबूज़े के परिवर्तन में देने को तैयार नहीं होगा। तुम्हारे उत्सुक रहने पर भी यह सौदा नहीं होगा।

इस उदाहरण से दो बातें तुम्हें अच्छी तरह से समझ में आगयी होंगी। प्रत्येक सौदे में दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। दोनों को उपयोगिता का लाभ होता है। जब दो में से किसी एक को भी वस्तु-परिवर्तन से हानि होने लगती है तो सौदा नहीं होता।

मोहन—मैं इन दोनों बातों को अच्छी तरह से समझ गया। अब किसी दिन क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में भी समझा जायगा। इस समय तो मुझे उस दाल वाले की याद आ रही है। बेचारा गाजर लेने के लिए कितना अधिक उत्सुक था। लेकिन चाचा वह गाजरवाला भी कम चालाक नहीं था। यह जानते हुए भी कि दाल पावभर से कम नहीं है, गाजर उसने उसे डेढ़ पैसे को ही दी।

चाचा उस समय मुसकरा रहे थे।

उन्तीसवाँ अध्याय

क्रय-विक्रय

एक दिन मोहन अपने चाचा से कुछ रुपये लेकर बाज़ार गया हुआ था। आज उसने तय कर लिया था कि वह एक बढ़िया फाउंटेन-पेन ख़रीदेगा। कई दूकानों पर उसने चक्कर लगाया। इंगलिश, अमेरिकन तथा जापानी, कई तरह के, पेन उसने देखे। एक अमेरिकन पेन उसने पसन्द भी किया। पर जितने दाम दूकानदार ने उसे बतलाये, उतने में ख़रीदना उसने स्वीकार नहीं किया। वह बारबार यही सोचने लगता था कि कहीं यह मुझसे ज़्यादा दाम तो नहीं माँग रहा है। अन्त में उस दूकान से उठकर वह एक दूसरी दूकान पर गया।

इस दूसरी दूकान पर जब मोहन पहुँचा, तो इस बार वह कुछ अधिक सावधान था। उसे इस बात का विश्वास था कि अब वह पेन ख़रीदने में दूकानदार से ठगाया न जा सकेगा। इस दूकान पर भी कई प्रकार के पेन उसने देखे। परन्तु जिस रंग का पेन उसने पहली दूकान में पसन्द किया था, उसी रंग का पेन उसको इस दूकान में नहीं मिला, यद्यपि मेकर दोनों का एक ही था। दाम में भी थोड़ा अंतर था। पहले दूकानदार ने उस पेन का दाम २||) बतलाया था, पर दूसरा उसी मेकर के उसी तरह के पेन का दाम ३) बता रहा था। एक तो रंग इस पेन का उतना सुन्दर नहीं था, दूसरे दाम भी ||) अधिक बतलाये जा रहे थे। तब विवश होकर मोहन पुनः उसी दूकान पर जा पहुँचा, जिस पर उसने पहली बार एक पेन पसन्द किया था।

दूकानदार उस समय अपनी डाक देख रहा था। एक चिट्ठी उस समय भी उसके सामने थी।

मोहन ने कहा—मुझको वही पेन दे दीजिये, जो सोनहले रंग का था और जिसका दाम आपने २|||) बतलाया था।

दूकानदार ने कहा—उसका दाम बढ़ गया है। इसलिये अब तो वह ३) से कम में नहीं मिलेगा। दूकानदार की यह बात सुनकर मोहन को बड़ा आश्चर्य्य हुआ। उसने कहा—अभी तो पंद्रह मिनट पहिले आपने उसका दाम २|||) बतलाया था। इतनी ही देर में दाम बढ़ गया!

दूकानदार बोला—बाबू साहब, आपको इसमें आश्चर्य्य होता है! यह बिज़नेस का मामला है। चीज़ों का भाव जब घटता-बढ़ता है, तब इसी क्रय-विक्रय में व्यापारियों का लाखों का वारा-न्यारा हो जाता है। आज आपको जान पड़ता होगा कि मैं आपसे ||) पैसे ज़बर्दस्ती छीने ले रहा हूँ। पर अगर इसी पेन का दाम घट जाता, तो मुझे जो हानि होती, क्या मैं उसे आपसे ले सकता था?

मोहन ने चट से ३) देकर वह पेन ख़रीद लिया।

शाम को वह जब भोजन करके निश्चिंत हुआ तो पेन ख़रीदने की घटना का सारा कच्चा चिट्ठा उसने अपने चाचा से कह सुनाया। चाचा सुनकर बोले—उस दिन मैंने तुमको वस्तुओं के परिवर्तन के सम्बन्ध में बतलाया था। क्रय-विक्रय की बात रह गयी थी। आज अनायास यह मामला आ ही पहुँचा। अच्छा तो इसको वहीं से शुरू करें, जहाँ से छोड़ा था।

सोहन—हाँ। उस दिन शायद बात यह चल रही थी कि परिवर्तन में और तो कोई ख़ास दिक़्क़तें नहीं है। यही है कि पैसा देकर कुछ अधिक आसानी से क्रय-विक्रय हो जाता है। परिवर्तन में नाप-तौल का झगड़ा रहता है।

चाचा—अच्छा, अगर तुम्हारे पास एक किताब हो और तुम्हें उसके बदले में तरकारी, पेन्सिल, साबुन और ताला लेना हो, तो कैसे काम चलाओगे?

मोहन बोला—परिवर्तन में तो सचमुच बड़ी दिक़्क़त होगी। आप के कथनानुसार यह काम तभी हो सकता है जब किसी के पास तरकारी, पेंसिल, साबुन

और ताला ये चारो चीजें हों। इसके सिवा वह उनके बदले में मेरी किताब लेने को भी तैयार हो।

चाचा—यही नहीं, यह भी आवश्यक है कि तुम इन वस्तुओं की जितनी मात्रा चाहते हो उतनी ही मात्रा में वह उन्हें देने को भी तैयार हो।

मोहन—ज़रूर। अगर वह मेरी इंगलिशप्रोज़ वाली किताब लेकर एक पेंसिल, एक साबुन, एक ताला देगा तो मैं थोड़े ही लूँगा।

चाचा—इस प्रकार परिवर्तन में कठिनाई यह है कि एक वस्तु के बदले बहुत सी वस्तुएँ नहीं मिल सकती। बहुत-सी वस्तुओं के बदले में किसी एक वस्तु का मिलना कठिन है। प्रथम तो ऐसे व्यक्ति न मिलेंगे, द्वितीय परिवर्तन की दर निश्चित करने की कठिनाई हमारे सम्मुख आएगी ही।

मोहन—पर आप दो पक्षों की आवश्यकता तथा उनके पास एक दूसरे की मतलब की चीज़ें होना—ये दो शर्तें तो भूल ही रहे हैं।

चाचा—मैंने उन्हें इसलिए नहीं कहा क्योंकि वे क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में भी लागू होती है। क्रय-विक्रय तभी होगा जब एक बेचनेवाला हो और दूसरा ख़रीदनेवाला। यहाँ बेचनेवाले को ख़रीदार के रुपए की आवश्यकता होती है और ग्राहक को बेचनेवाले के माल की।

मोहन—क्रय-विक्रय में भी तो मोल-भाव होता है?

चाचा—क्यों नहीं? पर इसमें और वस्तु-परिवर्तन में सबसे बड़ा अंतर यही है कि प्रत्येक क्रय-विक्रय के अवसर पर एक वस्तु का मुद्रा से ही परिवर्तन होता है। मुद्रा से मेरा मतलब रुपए-पैसे से है।

मोहन—ठीक, रुपये-पैसे का चलन होने के कारण मैं किताब को पुरानी किताबवाले के हाथ आधी क़ीमत पर बेच दूंगा। जो रक़म मिलेगी उससे भिन्न-भिन्न दूकानों पर जाकर भाव-ताव करके अपने मतलब की वस्तुएँ ख़रीद लूँगा।

चाचा—ठीक, आजकल अधिकतर लोग ऐसा ही करते हैं। पर क्या तुम बता सकते हो कि उस दिन बाज़ार में अमरूद पैसे के चार कैसे मिल गये थे?

मोहन—आपने माँग के सम्बन्ध में बताते समय कहा था कि प्रत्येक वस्तु की क़ीमत उसकी माँग पर निर्भर रहती है। उस दिन माँग कम होने के कारण अमरूद सस्ते मिल गये थे।

चाचा—यह तो ठीक है कि माँग का क़ीमत पर असर पड़ता है। पर उस वस्तु की पूर्ति का भी क़ीमत पर असर पड़ता है।

मोहन—हाँ-हाँ, उस दिन बाज़ार में अमरूद पटे पड़े थे। बिकने के लिए अधिक अमरूद होने के कारण ही उस दिन उनके दाम गिर गये थे।

चाचा—अच्छा पूर्ति और स्टाक में क्या अन्तर होता है?

मोहन—पूर्ति और स्टाक में कोई अन्तर नहीं। बेचनेवाले के पास जितना माल होता है वही स्टाक कहलाता है। उसी को आप पूर्ति के नाम से पुकारते हैं।

चाचा—नहीं, बेचनेवाले के पास जितना माल होता है उसे पूर्ति नहीं कहते। पूर्ति तो उस स्टाक का वह हिस्सा है जिसे मालवाला किसी ख़ास क़ीमत पर बेचने को तैयार होता है।

मोहन—पर मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि कोई दूकानदार अपने सारे स्टाक को बेचने के लिए क्यों तैयार नहीं रहेगा।

चाचा—बात यह है कि यह कहते समय कि अमुक दूकानदार के पास दो सौ साइकिलों का स्टाक है, हम उन साइकिलों की क़ीमत का तनिक भी वर्णन नहीं करते। परन्तु उन्हीं साइकिलों की पूर्ति बताते समय उनकी क़ीमत बताने की आवश्यकता पड़ती है। हो सकता है कि चालीस रुपया फ़ी साइकिल के हिसाब से दूकानदार पचास साइकिलें बेचने को तैयार हो और पचास रुपए के भाव सत्तर साइकिलें बेचने को राज़ी हो जाय। कहने का मतलब यह कि पूर्ति हमेशा क़ीमत के साथ दी जाती है।

मोहन—इसका मतलब तो यह हुआ कि अगर उस दूकानदार के यहाँ हमारे इस पेन का काफ़ी स्टाक हो, और मैं एक साथ एक दर्जन ख़रीदने को तैयार हो जाऊँ, तो वह मुझे २॥) के भाव से दे देगा?

चाचा—मेरा तो ख़याल ऐसा ही है कि ज़रूर दे देगा।

मोहन—तब तो चाचा जी, भिन्न-भिन्न भावों पर भिन्न-भिन्न पूर्ति होती होगी।

चाचा—सो तो है ही। यदि इन्हीं भावों और पूर्ति के बराबर-बराबर लिख लिया जाय तो पूर्ति की एक सारिणी बन जायगी। देखो, साइकिलों की पूर्ति की सारिणी इस प्रकार की होगी—

यह कहकर मोहन के चाचा ने काग़ज़ पर निम्नलिखित सारिणी बना दी।

मूल्य फ़ी साइकिल (रुपये में)	साइकिल की पूर्ति (संख्या में)
४०	५०
६०	२००
८०	३१०
१००	३९५
१२०	४७०
१४०	५४०
१६०	६००

मोहन—इससे तो यह मालूम पड़ता है कि जैसे मूल्य बढ़ता है वैसे-वैसे पूर्ति भी बढ़ती है।

चाचा—हाँ, पूर्ति का नियम यही तो कहता है कि आमतौर पर जैसे-जैसे मूल्य बढ़ता है वैसे-वैसे पूर्ति बढ़ती है और अधिकतर मूल्य घट जाने पर पूर्ति भी घट जाती है।

मोहन—क्या ऐसा कभी नहीं हो सकता कि मूल्य घटने से पूर्ति बढ़ जाय?

चाचा—हो क्यों नहीं सकता। यह दीर्घकाल में ही होता है। यदि किसी उद्योग-धंधे में 'क्रमागत-वृद्धि नियम' लागू होता हो, और वस्तु की क़ीमत कम हो जाय, तो उसकी पूर्ति बढ़ सकती है। लेकिन ऐसा तभी होगा जब माँग भी बढ़े।

मोहन—तो पूर्ति घटने से क़ीमत भी घट जायगी?

चाचा—पूर्ति घटने से क़ीमत हमेशा बढ़ती ही है। इसी प्रकार पूर्ति बढ़ने से क़ीमत सदैव घटती है। केवल उन उद्योग-धंधों में, जहाँ 'क्रमागत

ह्रास नियम, लागू होता है पूर्ति और मूल्य की वृद्धि साथ-साथ चलती हैं। पर ऐसा तभी होता है जब मांग की वृद्धि या प्रबलता के कारण ग्राहक अधिक मूल्य देने को तैयार हों।

मोहन—पर यहाँ इस विषय में ज्ञातव्य तो यह है कि क़ीमत जानकर बेचनेवाला व्यक्ति पूर्ति का निश्चय करते समय किन बातों का विचार करता है।

चाचा—प्रथम तो वह वस्तु के बनाने में जो व्यय होता है उसका विचार करता है। क्योंकि यह सोचने की बात है कि कोई व्यक्ति कभी हानि उठाना क्यों चाहेगा। पर यह दीर्घकाल के लिए है। अल्पकाल में बेचनेवाला समय, अवस्था, स्थान आदि न मालूम कितने प्रकार की बातों का विचार करता है।

मोहन—सो कैसे? बेचनेवाला तो हमेशा अपने लागत-ख़र्च की याद रखेगा और उससे कम कदापि न लेगा।

चाचा—ख़्याल तो हमेशा रखेगा, पर यह आवश्यक नहीं कि वह कभी कम न ले। एक बार की बात है। रात का समय था, मैं चौक की सब्ज़ीमंडी से गुज़र रहा था। बाज़ार में सन्नाटा हो चला था। उसी समय एक बना-ठना नौजवान उधर आ निकला। उसने एक अनारवाले से फल का भाव पूछा और फिर यह कहकर वह चलने लगा कि चौदह आने सेर दो, तो दो सेर तौल दो। इस पर एक मिनट भी न लगा था कि कुछ सोचकर अनारवाले ने दो सेर अनार चौदह आने में तौल दिये। बाद में मैंने उससे पूछा कि रुपये का भाव करके फिर चौदह आने में तुमने अनार क्यों बेच दिये?

उत्तर मिला—साहब, यह तो लगा ही रहता है। मैंने सोचा कि रात में अब कौन अनार मोल लेगा। फिर यह ठहरा क़ंधारी अनार। बड़ी जल्दी गलता है। फिर आजकल बाज़ार इतना मंदा है कि दिन-भर में दो तीन सेर अनार बिकना मुश्किल हो जाता है। इसके अलावा तुरंत एक आना नफ़ा मिल गया।

अब देखो, इसमें अनारवाले ने समय, अवस्था का तथा भविष्य

की अनिश्चित दशा का ख़्याल करके अनार कम मुनाफ़े से भी बेच दिये थे !

मोहन—इससे सिद्ध होता है कि भविष्य का ख़्याल भी भाव-निर्धारण में अपना कुछ महत्व रखता है।

चाचा—महत्व ! अनाजवालों को यह पता लग जाय कि अब की बार खेती ख़राब हो रही है तो वे अभी से भाव तेज़ कर देंगे। देखो न, अँगरेज़ और जर्मन के मध्य युद्ध की घोषणा हुई नहीं कि अनाजवालों ने भाव आसमान पर चढ़ा दिया। क्योंकि वे जानते हैं कि यदि आज कोई इस भाव पर अन्न मोल नहीं भी लेगा तो कुछ दिन बाद, आवश्यकता बढ़ जाने पर तो, लोग इसी भाव से अवश्य ही अनाज ख़रीदेंगे। इस भविष्य के भरोसे ही कितने सेठ-साहूकार व सट्टा करनेवालों ने कोठियाँ खड़ी कर लीं और अब मज़े से अपनी जीविका चला रहे हैं।

अच्छा, अब तुम बताओ कि क्रय-विक्रय किस मूल्य पर होता है ?

मोहन—जितने पर सौदा पट जाय उतने पर ही क्रय-विक्रय हो जाता है।

चाचा—अच्छा तो माँग और पूर्ति के रूप में इसी बात को कैसे कहेंगे ?

मोहन—यह तो मैं नहीं जानता !

चाचा—यही ख़्याल करो कि सौदा पटने का क्या मतलब होता है। अगर तुमने आलूवाले से चार पैसे फ़ी सेर की दर से दो सेर आलू माँगे और वह इस भाव से बेचने को तैयार हो गया, तो इसके मतलब यह हुए कि चार पैसे सेर के भाव में तुम्हारी माँग दो सेर आलू की है और पूर्ति भी दो सेर है। अतएव क्रय-विक्रय के लिए यह आवश्यक है कि भाव ऐसा हो कि माँग और पूर्ति का परिमाण बराबर हो। उदाहरणार्थ यदि माँग तथा पूर्ति की सारिणी अगले पृष्ठ पर लिखे अनुसार हो, तो सौ रुपये क़ीमत पर मैशीनों की माँग ११०० होगी और पूर्ति भी उतनी ही होगी। इसलिए इस बाज़ार में मैशीन एक सौ रुपये प्रति मैशीन के हिसाब से बिकेगी।

यह कहकर मोहन के चाचा ने पास में पड़े काग़ज़ पर निम्नलिखित तालिका बनायी।

क़ीमत फ़ी मैशीन	मैशीनों की मांग	पूर्ति की संख्या
२०० रुपये	१५०	२०००
१५० ,,	५००	१७००
११० ,,	९००	१२१०
१०० ,,	११००	११००
७५ ,,	१५००	७५०
५० ,,	२२००	२००

मोहन—अच्छा चाचा जी, क्या हमेशाही, प्रतिदिन, ११०० मैशीनें एक सौ रुपये प्रति मैशीन के भाव से बिकती रहेंगी ?

चाच—मैने जो तालिका बनाई है वह किसी एक ख़ास समय के लिए है। जब तक ख़रीदने और बेचनेवालों की दशाओं में परिवर्तन नहीं होगा तब तक तुम्हारा यह कहना ठीक होगा कि सौदा एक सौ रुपया प्रति मैशीन के हिसाब से होगा। यही मैशीन की अल्पकालीन मांग होगी। परन्तु यह दशा बहुत समय तक नहीं रह पाती। कई कारणों से बेचने और ख़रीदनेवालों की दशाओं में निरंतर परिवर्तन होता ही रहता है और उसका प्रभाव भी वस्तु की कीमत पर अवश्य पड़ता है। किसी भी वस्तु की मांग और पूर्ति में हमेशा ही परिवर्तन हुआ करते हैं और दोनों का प्रभाव वस्तु की क़ीमत पर पड़ता रहता है।

मोहन—किसका प्रभाव वस्तु के मूल्य पर अधिक पड़ता है ?

चाचा—दोनों का प्रभाव साधारणत: एक सा पड़ता है। कुछ दशाओं में मांग का प्रभाव अधिक पड़ता है तो कुछ दशाओं में पूर्ति का प्रभाव। इसका विवेचन अन्य किसी समय करूँगा। जब दोनों में से किसी एक में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव वस्तु की क़ीमत पर पड़ता है। साथ-ही-साथ तुमको यह भी याद रखना चाहिये कि क़ीमत के परिवर्तन का प्रभाव भी मांग और पूर्ति पर पड़ता है। इस प्रकार मांग, पूर्ति और क़ीमत इन तीनों का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसका विवेचन भी उदाहरण देकर मैं तुमको अन्य किसी समय अच्छी तरह समझाऊँगा। अभी तो तुमको यह याद कर लेना चाहिये

कि किसी समय किसी वस्तु की क़ीमत वही होती है जिसपर उसकी माँग और पूर्ति का परिमाण बराबर हो जाता है। इस नियम के सम्बन्ध में एक बात मान ली गयी है। और वह यह है कि बेचने और ख़रीदनेवालों में आपस में पूर्ण प्रतिस्पर्धा रहती है। अर्थात् ये एक ही बाज़ार में अपना लेन-देन करते हैं।

मोहन—क्या अर्थशास्त्र में बाज़ार का अर्थ साधारण अर्थ से कुछ भिन्न होता है ?

चाचा—हाँ, अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ कुछ भिन्न है।

इसी समय बाहर किसी ने पुकारा—मोहन। और मोहन उससे मिलने के लिये बाहर चला आया। देखा तो जगदीश, उसका साथी, खड़ा था। मोहन उसे भी अन्दर ले आया। चाचा से नमस्कार करने के बाद वह बोला—अभी बाज़ार से आ रहा हूँ। कई लोग साथ में थे। इस मेकर के सिर्फ़ दस पेन उस दूकानदार के यहाँ निकले। हम में से सभी ने एक-एक पेन ख़रीद लिया। केदार के लिए कम पड़ गया तो वह भार्गव की दूकान पर लेने जा पहुँचा। हम लोग भी साथ थे। सब के हाथ में यही पेन देखकर मालूम नहीं क्या बात हुई कि दुकानदार ने कहा—इस पेन का दाम बढ़ गया है। ३॥) रुपये लगेंगे। आपतो जानते ही हैं, माल विलायत से आ नहीं रहा है। बड़े-बड़े शहरों में जो भी स्टाक पड़ा हुआ है, उसी में व्यापार होता है। आज यह पेन मिल भी गया; दो-चार महीने बाद मुमकिन है, यह पेन आपको कहीं मिल ही न सके।

चाचा बोले—बाज़ार का अर्थ ही है क्रय-विक्रय का जगत्। इसमें आश्चर्य्य क्या है ?

चालीसवाँ अध्याय

बाज़ार

आज दिन भर बादल तो घिरे रहे, किन्तु पानी नहीं बरसा। ऊमस भी बहुत ही अधिक रही। अब कहीं जाकर ठंढी हवा के झोंके आये हैं। संध्या भी हो आयी है।

मोहन चाचा के साथ शहर घूम रहा था। चाचा बोले—आम तो अब चुक चले हैं।

मोहन ने कहा—मँहगे भी तो हो गये हैं।

इसी प्रकार बातचीत करते हुए दोनों जॉन्स्टनगंज की ओर चल पड़े। मोहन के चाचा ने आगे बढ़ते ही कहा—अरे, यह दूकान तो आज बन्द है। अच्छा तो अब चलो, घर चलें। फिर दो-एक दिन में ले लेंगे ?

इसी समय एक दूकानदार ने उनकी ओर देखकर कहा—क्या चाहिये बाबू साहब ?

मोहन के चाचा ने उत्तर दिया—कुछ नहीं। योंही, ज़रा ब्लेड लेने थे। मैं हमेशा उस दूकान से ले जाता था। पर आज वह बंद है।

दूकानदार—तो लीजिये, मैं देता हूँ। ज़्यादातर आप कौन-सा ब्लेड इस्तेमाल करते हैं।

चाचा—मैं तो सेविन-ओ-क्लाक का पैकेट ले जाता था। अब लड़ाई की वजह से पनामा तो आता नहीं।

दूकानदार—हाँ, पनामा अब कहाँ से आ सकता है ? जिनके पास पनामा है भी, वह उसे बारह आने पैकेट से कम पर बेचने को तैयार नहीं हैं। देखिये

मैं आपको सेविन-ओ-क्लाक से सस्ता तथा उम्दा ब्लेड दूँगा।

यह कहकर दूकानदार ने एक डिब्बे में से निकालकर नैसेट ब्लेड का पैकेट मोहन के चाचा को दिखलाते हुए कहा—यह देखिये। इसमें भी उतने ही ब्लेड होते हैं और इसका दाम भी उतना ही है जितना सेविन-ओ-क्लाक का है। पर यह उससे अधिक काम देता है। अगर उसका एक ब्लेड आपकी दाढ़ी तीन बार बनाता होगा तो यह छै बार बनावेगा।

मोहन—पर अभी तो आपने कहा कि यह सस्ता है।

दूकानदार—हाँ साहब, सस्ता तो है ही। उसी दाम में दूनी सर्विस मिलती है। और फिर देखिए, इसमें आम-के-आम और गुठली के दाम मिलते हैं। जब आप इन्हें काम में ला चुकें, तो इन ब्लेडो को छाँट-छाँट कर ऐसा क्रम निकाल लीजिए कि इन पर छपे अक्षरों से नैसेट ब्लेड बन जाय।

मोहन—यह कैसे ?

दूकानदार—प्रत्येक ब्लेड पर A, B, C, D, E, L, N, T, में से कोई एक अक्षर लिखा रहता है। बस, आपको ऐसे ब्लेड छाँटने चाहिए कि अँगरेज़ी में नैसेट ब्लेड बन जाय। उसे आप मेरे पास ले आइए तो मैं कम्पनी की ओर से आपको बढ़िया ताश की एक जोड़ी दूँगा।

मोहन—यह तो बड़ा अच्छा है। चाचा, एक जोड़ी तीन-चार आने की अवश्य होगी। आधे दाम तो निकल ही आयेंगे।

दूकानदार—इसमें क्या शक है! कहिये बाबूजी, कितने पैकेट दूँ ?

मोहन के चाचा—अच्छा एक पैकेट दे दीजिए। देखूँ यह कैसा काम देता है।

पैकेट को जेब में रख तथा पैसे चुकाकर जब मोहन के चाचा आगे बढ़े तो मोहन ने कहा—चाचा, बिक्री करने का यह तो बड़ा उम्दा तरीक़ा है। उपयोग किये हुए ब्लेडों के बदले में ताश की जोड़ियाँ मिल जाएँगी!

चाचा—हाँ, यह भी लाग-डाँट का एक ढंग है। दोनों कम्पनियाँ हैं तो इंग्लैंड में, पर उनमें प्रतिस्पर्धा होती है यहाँ।

मोहन—क्या वहाँ पर यह हाल न होता होगा ?

चाचा—वहाँ भी अवश्य यह हाल होगा। पर इनके ब्लेडों का बाज़ार

चालीसवाँ अध्याय

बाज़ार

आज दिन भर बादल तो घिरे रहे, किन्तु पानी नहीं बरसा। ऊमस भी बहुत ही अधिक रही। अब कहीं जाकर ठंढी हवा के झोंके आये हैं। संध्या भी हो आयी है।

मोहन चाचा के साथ शहर घूम रहा था। चाचा बोले—आम तो अब चुक चले हैं।

मोहन ने कहा—मँहगे भी तो हो गये हैं।

इसी प्रकार बातचीत करते हुए दोनों जॉन्स्टनगंज की ओर चल पड़े। मोहन के चाचा ने आगे बढ़ते ही कहा—अरे, यह दूकान तो आज बन्द है। अच्छा तो अब चलो, घर चलें। फिर दो-एक दिन में ले लेंगे ?

इसी समय एक दूकानदार ने उनकी ओर देखकर कहा—क्या चाहिये बाबू साहब ?

मोहन के चाचा ने उत्तर दिया—कुछ नहीं। योंही, ज़रा ब्लेड लेने थे। मैं हमेशा उस दूकान से ले जाता था। पर आज वह बंद है।

दूकानदार—तो लीजिये, मैं देता हूँ। ज़्यादातर आप कौन-सा ब्लेड इस्तेमाल करते हैं।

चाचा—मैं तो सेविन-ओ-क्लाक का पैकेट ले जाता था। अब लड़ाई की वजह से पनामा तो आता नहीं।

दूकानदार—हाँ, पनामा अब कहाँ से आ सकता है ? जिनके पास पनामा है भी, वह उसे बारह आने पैकेट से कम पर बेचने को तैयार नहीं है। देखिये

मैं आपको सेविन-ओ-क्लाक से सस्ता तथा उम्दा ब्लेड दूँगा।

यह कहकर दूकानदार ने एक डिब्बे में से निकालकर नैसेट ब्लेड का पैकेट मोहन के चाचा को दिखलाते हुए कहा—यह देखिये। इसमें भी उतने ही ब्लेड होते हैं और इसका दाम भी उतना ही है जितना सेविन-ओ-क्लाक का है। पर यह उससे अधिक काम देता है। अगर उसका एक ब्लेड आपकी दाढ़ी तीन बार बनाता होगा तो यह छै बार बनावेगा।

मोहन—पर अभी तो आपने कहा कि यह सस्ता है।

दूकानदार—हाँ साहब, सस्ता तो है ही। उसी दाम में दूनी सर्विस मिलती है। और फिर देखिए, इसमें आम-के-आम और गुठली के दाम मिलते हैं। जब आप इन्हें काम में ला चुकें, तो इन ब्लेडों को छाँट-छाँट कर ऐसा क्रम निकाल लीजिए कि इन पर छपे अक्षरों से नैसेट ब्लेड बन जाय।

मोहन—यह कैसे?

दूकानदार—प्रत्येक ब्लेड पर A, B, C, D, E, L, N, T, में से कोई एक अक्षर लिखा रहता है। बस, आपको ऐसे ब्लेड छाँटने चाहिए कि अँगरेज़ी में नैसेट ब्लेड बन जाय। उसे आप मेरे पास ले आइए तो मैं कम्पनी की ओर से आपको बढ़िया ताश की एक जोड़ी दूँगा।

मोहन—यह तो बड़ा अच्छा है। चाचा, एक जोड़ी तीन-चार आने की अवश्य होगी। आधे दाम तो निकल ही आयेंगे।

दूकानदार—इसमें क्या शक है! कहिये बाबूजी, कितने पैकेट दूँ?

मोहन के चाचा—अच्छा एक पैकेट दे दीजिए। देखूँ यह कैसा काम देता है।

पैकेट को जेब में रख तथा पैसे चुकाकर जब मोहन के चाचा आगे बढ़े मोहन ने कहा—चाचा, बिक्री करने का यह तो बड़ा उम्दा तरीक़ा है। उपयोग किये हुए ब्लेडों के बदले में ताश की जोड़ियाँ मिल जाएँगी!

चाचा—हाँ, यह भी लाग-डाँट का एक ढंग है। दोनों कम्पनियाँ हैं तो इंग्लैंड में, पर उनमें प्रतिस्पर्धा होती है यहाँ।

मोहन—क्या वहाँ पर यह हाल न होता होगा?

चाचा—वहाँ भी अवश्य यह हाल होगा। पर इनके ब्लेडों का बाज़ार

इतना विस्तृत है कि ये इंग्लैंड छोड़ हिन्दुस्तान में भी प्रतिस्पर्धा करते हैं।

बाज़ार का नाम सुनकर मोहन को अर्थशास्त्र की याद आ गयी। वह बोला—उस दिन आपने मुझे बाज़ार का अर्थ नहीं बतलाया था। अब बताइए कि अर्थशास्त्र में बाज़ार का क्या अर्थ लगाया जाता है ?

चाचा—अर्थ बड़ा सरल है। देखो, आम तौर पर तुम उस जगह को बाज़ार के नाम से पुकारते हो, जहाँ पर तरह-तरह की दूकानें होती हैं, और भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बेची और ख़रीदी जाती हैं। लेकिन अर्थशास्त्री प्रत्येक वस्तु का बाज़ार अलग मानता है।

मोहन—यह कैसे ?

चाचा—मैं पहले तुम्हें इसके उदाहरण देकर समझाऊँगा। देखो, जो तरकारी हम रोज़ ख़रीदते हैं वह शहर छोड़कर न बाहर जाती है और न जा सकती है। बाहरवाले तरकारी लेने यहाँ नहीं आते। अतः तरकारी का बाज़ार केवल हमारे शहर तक सीमित है। इसी प्रकार तुम्हारे गाँव में जो लोहार है वह अपना माल कहाँ बेचता है ?

मोहन—गाँव में या गाँव के पास के हाट में।

चाचा—ठीक। अच्छा, अब यह बतलाओ वह और दूर क्यों नहीं जाता ?

मोहन—और दूर जाने में ख़र्च बढ़ता है। यह ख़र्च माल की बिक्री से कदापि नहीं निकल सकता।

चाचा—जो ब्लेड मैंने अभी मोल लिया उसका बाज़ार क्या समझते हो ?

मोहन—मैं आप का मतलब समझा नहीं।

चाचा—मैं पूछता हूँ कि यह ब्लेड कहाँ-कहाँ बिकता है ?

मोहन—कम-से-कम विलायत और हिन्दुस्तान में अवश्य बिकता है।

चाचा—तो हम कहेंगे कि तरकारी का बाज़ार शहर तक सीमित है, तुम्हारे लोहार के माल का बाज़ार गाँव और गाँव के पास के हाट तक। और ब्लेड का बाज़ार इंग्लैंड और भारत तक।

मोहन—अच्छा तो आप यह कहना चाहते हैं किसी वस्तु के बाज़ार से मतलब उन स्थानों से रहता है, जहाँ उस वस्तु की बिक्री होती है ?

चाचा—ठीक। परन्तु अर्थशास्त्री इसी बात को दूसरी तरह कहेगा।

मोहन—वह कैसे?

चाचा—वह कहेगा कि किसी वस्तु का बाज़ार उस सारे स्थान को समझना चाहिए जहाँ विक्रेता और ख़रीदार आपस में बिना रोक-टोक भाव-ताव कर सकें अर्थात् जहाँ विक्रेताओं में आपस में तथा विक्रेता और ख़रीदारों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा और भावताव होता हो, फलस्वरूप सारे बाज़ार में वस्तु विशेष की एक ही क़ीमत प्रचलित रहती हो।

मोहन—तब तो ऐसे बाज़ार में आदमी एक जगह एकत्र नहीं हो सकते।

चाचा—क्यों नहीं हो सकते? तरकारी का बाज़ार तो ऐसा ही है। हाँ, प्रत्येक वस्तु के बाज़ार के लिए यह ज़रूरी नहीं कि विक्रेता और ख़रीदार आमने-सामने हों। तुम चाहो तो सोना घर बैठे ख़रीद लो। सट्टेबाज़ सेठ-साहूकार तार और टेलीफ़ोन के ज़रिए हज़ारों और लाखों का सौदा करते हैं।

मोहन—आपने जो कुछ बताया उससे तो यही पता चलता है कि किसी वस्तु का बाज़ार छोटा और किसी का बहुत विस्तृत होता है। परन्तु प्रश्न यह है किसी वस्तु के बाज़ार के विस्तार का निश्चय किस प्रकार होता है?

चाचा—किसी वस्तु के बाज़ार का विस्तार कई बातों पर निर्भर रहता है। प्रथम, अधिकतर यह पाया जाता है कि जो वस्तुएँ छोटी मात्रा में उत्पन्न की जाती हैं वे उत्पत्ति-स्थान से बहुत दूर नहीं भेजी जातीं। उनकी खपत आस-पास के स्थानों में ही हो जाती है।

मोहन—यह क्या बात है? वे दूर क्यों नहीं भेजी जाती?

चाचा—इसके दो मुख्य कारण होते हैं। एक तो यह कि ऐसी वस्तुएँ अधिकतर अधिक दिन तक नहीं ठहरतीं, जल्दी ही नष्ट हो जाती हैं। दूसरे वे अधिकतर- दूसरी जगह भी आसानी से तैयार की जा सकती हैं। अतः उन्हें दूर के स्थानों में लेजाने से जो गाड़ी भाड़ा लग जाता है वह वसूल नहीं हो सकता। यह भी एक कारण है कि ऐसी वस्तुओं का बाज़ार यातायात की सुविधाओं और साधनों पर भी निर्भर करता है। उत्तम तथा

सस्ते साधनों के होने पर, छोटी मात्रा की उत्पत्ति होते हुए भी, वस्तु दूर तक भेजी जा सकती है। देखो, इलाहाबाद के अमरूद दूर-दूर तक पहुँचते हैं, लँगड़ा आम व बम्बइया भी कम विस्तृत बाज़ार नहीं रखते।

मोहन – पर चाचा मैं तो समझता हूँ कि इसका कारण यह है कि वे लोग इन चीज़ों को पसन्द करते हैं अतः दूर से आने पर, अधिक दाम देकर भी, इन्हें ख़रीदने को तैयार रहते हैं।

चाचा—यही बात है।

मोहन—पर आपने तो अभी मुझे बताया कि बाज़ार में वस्तु की क़ीमत एक ही होती है।

चाचा—यह तो ठीक है। परन्तु उसमें यातायात के व्यय का ध्यान रखा जाता है।

मोहन—तब कहना होगा कि बाज़ार के विस्तार और लोगों की इच्छा या माँग में गहरा सम्बन्ध है। यदि किसी स्थान पर किसी वस्तु की माँग न होगी तो वह कितनी ही सस्ती हो, बिक न सकेगी और कुछ समय बाद तो वहाँ से उड़ जायगी।

चाचा—ठीक। पर यदि माँग हो तो वस्तु के बाज़ार का विस्तार यातायात के साधन पर बहुत निर्भर रहता है। इसके सिवा बाज़ार के विस्तार और देश की सरकार की शक्ति व सुव्यवस्था का भी सम्बन्ध है। पुराने ज़माने में लूट-मार के डर के कारण ही लोग अपने-अपने माल को पास बेच देते थे। अब लूट-मार का डर बहुत कम हो गया है। यातायात की सुविधाएँ बहुत कुछ सरकारी प्रबन्ध के कारण ही मिलती हैं।

मोहन—अच्छा तो चाचा बड़ी मात्रा में उत्पन्न की जानेवाली वस्तुओं का बाज़ार कैसे विस्तृत होता है?

चाचा—प्रथम तो वेही वस्तुएँ बड़ी मात्रा में उत्पन्न की जाती हैं जिनकी माँग अधिक होती है। जैसे—सोना, चाँदी, गेहूँ, ब्लेड, साइकिल आदि। द्वितीय—ये बहुत दिनों तक नष्ट नहीं होतीं। तृतीय—ये आसानी से दूर-दूर भेजी जा सकती हैं।

मोहन—थोड़ी मात्रा में उत्पन्न की जानेवाली वस्तुओं के संकुचित

बाज़ार होने के आपने जो कारण बताये थे वे तो उसके उल्टे पड़ते हैं। इनके अलावा क्या और कुछ कारण नहीं है ?

चाचा—इनके अलावा तुम यह और कह सकते हो कि इन वस्तुओं को दूर-दूर पहुँचाने में प्रेस, अख़बार, बैंक आदि भी मदद करते हैं। अख़बारों में इनका विज्ञापन निकलता है और बैंक इनके बदले में रुपया पहुँचाने में मदद करती हैं।

मोहन—सो किस तरह ?

चाचा—अभी तो तुम इतना ही समझ लो। किसी दिन मैं तुम्हें बैंकों के बारे में विस्तार में सब बातें बताऊँगा।

मोहन—अच्छा, यह तो बतलाइये कि किसी वस्तु का बाज़ार और किन बातों पर निर्भर रहता है।

चाचा—यों तुम कह सकते हो कि जो वस्तु तुमने देखी नहीं है और जिसके विषय में तुम यह भी नहीं सोच सकते कि वह किस प्रकार की होगी, उसे तुम कभी नहीं ख़रीदोगे। हाँ, अगर वह वस्तु किसी प्रकार अनेक क़िस्मों में बँटी हो और यह मालूम हो कि किस क़िस्म का क्या मतलब होता है, तब तुम उस वस्तु का भावताव कर सकते हो। मान लो, तुम गेहूँ के व्यापारी हो और बाहर से गेहूँ मँगाना चाहते हो। बाहर से पत्र आये कि गेहूँ बड़ा उम्दा है और नौ सेर फ़ी रुपए की दर से मिलेगा, तो तुम कहोगे न कि न-मालूम उम्दा से इसका क्या मतलब है। सफ़ेद है या लाल, छोटे दाने का है या बड़े दाने का। पंजाब का तो नहीं है ? इत्यादि।

मोहन—नहीं, गेहूँ का तो नमूना भेजा जा सकता है।

चाचा—हाँ, गेहूँ का नमूना भेजा जा सकता है। इसी प्रकार और बहुत-सी वस्तुओं के नमूने भेजे जा सकते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि ख़रीदार के पास नमूना पहुँचने में बहुत समय लग जाता है और उसके या तो क्रय-विक्रय करने का समय निकल जाता है अथवा माल के ख़राब होने का डर बना रहता है। ऐसी हालत में यदि वस्तु अनेक भेदों में बँटी होती है, तो बड़ा अच्छा होता है।

सस्ते साधनों के होने पर, छोटी मात्रा की उत्पत्ति होते हुए भी, वस्तु दूर तक भेजी जा सकती है। देखो, इलाहाबाद के अमरूद दूर-दूर तक पहुँचते हैं, लँगड़ा आम व बम्बइया भी कम विस्तृत बाज़ार नहीं रखते।

मोहन – पर चाचा मैं तो समझता हूँ कि इसका कारण यह है कि वे लोग इन चीज़ों को पसन्द करते हैं अतः दूर से आने पर, अधिक दाम देकर भी, इन्हें ख़रीदने को तैयार रहते हैं।

चाचा—यही बात है।

मोहन—पर आपने तो अभी मुझे बताया कि बाज़ार में वस्तु की क़ीमत एक ही होती है।

चाचा—यह तो ठीक है। परन्तु उसमें यातायात के व्यय का ध्यान रखा जाता है।

मोहन—तब कहना होगा कि बाज़ार के विस्तार और लोगों की इच्छा या माँग में गहरा सम्बन्ध है। यदि किसी स्थान पर किसी वस्तु की माँग न होगी तो वह कितनी ही सस्ती हो, बिक न सकेगी और कुछ समय बाद तो वहाँ से उड़ जायगी।

चाचा—ठीक। पर यदि माँग हो तो वस्तु के बाज़ार का विस्तार यातायात के साधन पर बहुत निर्भर रहता है। इसके सिवा बाज़ार के विस्तार और देश की सरकार की शक्ति व सुव्यवस्था का भी सम्बन्ध है। पुराने ज़माने में लूट-मार के डर के कारण ही लोग अपने-अपने माल को पास बेच देते थे। अब लूट-मार का डर बहुत कम हो गया है। यातायात की सुविधाएँ बहुत कुछ सरकारी प्रबन्ध के कारण ही मिलती हैं।

मोहन—अच्छा तो चाचा बड़ी मात्रा में उत्पन्न की जानेवाली वस्तुओं का बाज़ार कैसे विस्तृत होता है?

चाचा—प्रथम तो वेही वस्तुएँ बड़ी मात्रा में उत्पन्न की जाती हैं जिनकी माँग अधिक होती है। जैसे—सोना, चाँदी, गेहूँ, ब्लेड, साइकिल आदि। द्वितीय—वे बहुत दिनों तक नष्ट नहीं होतीं। तृतीय—वे आसानी से दूर-दूर भेजी जा सकती हैं।

मोहन—छोटी मात्रा में उत्पन्न की जानेवाली वस्तुओं के संकुचित

बाज़ार होने के आपने जो कारण बताये थे वे तो उसके उल्टे पड़ते हैं। इनके अलावा क्या और कुछ कारण नहीं है?

चाचा—इनके अलावा तुम यह और कह सकते हो कि इन वस्तुओं को दूर-दूर पहुँचाने में प्रेस, अख़बार, बैंक आदि भी मदद करते हैं। अख़बारों में इनका विज्ञापन निकलता है और बैंक इनके बदले में रुपया पहुँचाने में मदद करती हैं।

मोहन—सो किस तरह?

चाचा—अभी तो तुम इतना ही समझ लो। किसी दिन मैं तुम्हें बैंकों के बारे में विस्तार में सब बातें बताऊँगा।

मोहन—अच्छा, यह तो बतलाइये कि किसी वस्तु का बाज़ार और किन बातों पर निर्भर रहता है।

चाचा—यों तुम कह सकते हो कि जो वस्तु तुमने देखी नहीं है और जिसके विषय में तुम यह भी नहीं सोच सकते कि वह किस प्रकार की होगी, उसे तुम कभी नहीं ख़रीदोगे। हाँ, अगर वह वस्तु किसी प्रकार अनेक क़िस्मों में बँटी हो और यह मालूम हो कि किस क़िस्म का क्या मतलब होता है, तब तुम उस वस्तु का भावताव कर सकते हो। मान लो, तुम गेहूँ के व्यापारी हो और बाहर से गेहूँ मँगाना चाहते हो। बाहर से पत्र आये कि गेहूँ बड़ा उम्दा है और नौ सेर फ़ी रुपए की दर से मिलेगा, तो तुम कहोगे न कि न-मालूम उम्दा से इसका क्या मतलब है। सफ़ेद है या लाल, छोटे दाने का है या बड़े दाने का। पंजाब का तो नहीं है? इत्यादि।

मोहन—नहीं, गेहूँ का तो नमूना भेजा जा सकता है।

चाचा—हाँ, गेहूँ का नमूना भेजा जा सकता है। इसी प्रकार और बहुत-सी वस्तुओं के नमूने भेजे जा सकते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि ख़रीदार के पास नमूना पहुँचने में बहुत समय लग जाता है और उसके या तो क्रय-विक्रय करने का समय निकल जाता है अथवा माल के ख़राब होने का डर बना रहता है। ऐसी हालत में यदि वस्तु अनेक भेदों में बँटी होती है, तो बड़ा अच्छा होता है।

रुई, गेहूँ वग़ैरह का क्रय-विक्रय अक्सर इसी के आधार पर होता है। ख़ासकर उस समय, जब वे भारत से बाहर भेजी जाती हैं।

मोहन—नमूने के अलावा और किसी बात पर भी क्या बाज़ार का विस्तार निर्भर करता है?

चाचा - हाँ, जैसे वस्तु का स्वरूप और भार?

मोहन—सो कैसे?

चाचा—मान लो, तुम कोयले के व्यापारी हो। कोयला हलका होता है। अब तुम उसे कहाँ तक भेज सकते हो?

मोहन—जहाँ तक कोयला भेजने और बेचने में उत्पादन-व्यय तथा गाड़ी-भाड़ा निकल आएगा।

चाचा—पर यह तो तुमको मालूम ही है कि अगर तुम रेल से कोयला भेजोगे तो वह अधिक जगह घेरेगा। थोड़े मूल्य के कोयले से एक मालगाड़ी का डिब्बा भर जाएगा। अतः फ़ी सेर पर कोयले का तुम्हें अधिक किराया देना पड़ेगा।

मोहन—अधिक और कम से क्या अन्तर पड़ता है?

चाचा—क्यों? उसकी जगह यदि तुम चाँदी के व्यापारी होते, तो हज़ारों और लाखों रुपये का माल एक डिब्बे में भेज सकते।

मोहन—परन्तु चाँदी भारी होने के कारण उससे भरी गाड़ी का वज़न कोयले की एक गाड़ी से कहीं अधिक होगा। अतः रेलवालों को चाँदी के मामले में अधिक वज़नदार डिब्बा खींचना पड़ेगा।

चाचा—पर उससे उनको यह लाभ होता है कि वे इंजिन वग़ैरह की पूरी ताक़त का फ़ायदा उठा सकते हैं। कोयले के सम्बन्ध में तो यह बात नहीं कही जा सकती।

मोहन—हाँ, यह तो ठीक है।

चाचा—यानी तो चार पैसे में तुम एक सेर कोयले को जितनी दूर भेज सकोगे उससे कई गुना दूर एक सेर चाँदी चली जायगी।

मोहन—तो दूसरा अर्थ यह हुआ कि इस तरह चाँदी अधिक दूर तक कम भाड़े से भेजी जा सकती है।

चाचा—इसमें क्या शक है? परन्तु जोखिम उठाने का ख़र्च अलग देना होगा।

इस प्रकार बात करते-करते चाचा-भतीजे घर पहुँच गये। घर में घुसते हुए मोहन के चाचा ने कहा—लो, आज तुम वस्तु का बाज़ार, उसके विस्तार तथा विस्तार के कारणों के बारे में सब हाल जान गये।

मोहन—क्या विस्तार के सब कारण पूरे हो गये?

चाचा—हाँ, मैंने तुम्हें विस्तार के मुख्य-मुख्य सारे कारण बता दिये। एक बात चाहो तो और जान लो। किसी वस्तु का दूसरे देश में तभी बाज़ार होता है जब उस देश में वह वस्तु ठीक से पैदा नहीं की जा सकती। हमारे देश में उद्योग-धन्धे गिरी हुई दशा में हैं। इसी कारण हम विदेशी तैयार माल को मोल लेते हैं। इसके विपरीत अमरीका जैसा देश स्वयं हर प्रकार के माल तैयार कर लेता है। अतएव इङ्गलैंड या अन्य देशों का बहुत कम तैयार माल वहाँ पर क्रय-विक्रय होने के हेतु भेजा जाता है।

यह तो हुआ बाज़ार का वर्गीकरण, विस्तार के अनुसार, पर बाज़ार का वर्गीकरण समय के अनुसार भी किया जाता है। किसी वस्तु का बाज़ार अल्पकालीन, दीर्घकालीनऔर अतिदीर्घकालीन भी होता है। अल्पकालीन बाज़ार की विशेषता यह रहती है कि वस्तु की पूर्ति निश्चित रहती है। वह उस समय घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती। माँग के परिवर्तन से क़ीमत में परिवर्तन होता है।

मोहन—अल्पकालीन बाज़ार कितने समय का होता है?

चाचा—यह वस्तु की दशा पर निर्भर है। तरकारी, मछली इत्यादि शीघ्र बिगड़नेवाली वस्तुओं का अल्पकालीन बाज़ार एक दिन का होता है।

सोना, चाँदी इत्यादि विस्तृत बाज़ारवाली वस्तुओं का अल्पकालीन बाज़ार कुछ घंटों का ही होता है। किसी देश में इस वस्तु के भाव में कुछ परिवर्तन होते ही उसकी सूचना तार द्वारा संसार भर में पहुँच जाती है और भाव बदल जाता है। गेहूँ, कपड़ा इत्यादि का अल्पकालीन बाज़ार एक दिन से अधिक का भी हो सकता है। दीर्घकालीन बाज़ार की विशेषता यह है कि पूर्ति को भी माँग के परिवर्तन के अनुसार घटने-बढ़ने का समय मिल जाता

है। परन्तु इतना समय नहीं मिलता जिससे उत्पादन के तरीक़ों में सुधार हो सके। अति दीर्घकालीन बाज़ार में सुधार के तरीक़ों का प्रभाव भी पूर्ति और क़ीमत पर पड़ता है। साधारणतः दीर्घकालीन बाज़ार का समय एक से तीन-चार वर्ष का और अति दीर्घकालीन बाज़ार का समय पाँच-सात वर्ष से बीस-पच्चीस वर्ष हो सकता है।

अल्पकालीन, दीर्घकालीन और अतिदीर्घकालीन बाज़ारों में वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण, भिन्न-भिन्न तरीक़ों से होता है। इसका विवेचन मैं यथावसर करूँगा।

बातें करते-करते दोनों घर पर पहुँच गये थे। उसी समय श्याम देख पड़ा। मोहन ने पूछा – कहो, कहाँ से आ रहे हो ?

श्याम – तुम्हें मालूम ही है भार्गव की दूकान में आग लग गयी थी। उसी के पास से गुज़र रहा था। दरवाज़े पर बहुतेरी जली-अधजली तथा पुरानी चीज़ें पड़ी हुई थीं। उन्हीं में मुझे पनामा का एक पैकेट मिल गया। तुम जानते हो, यह चीज़ बाज़ार में मिलना दुर्लभ है, मैंने इसे पुराने भाव (यानी साढ़े पाँच आने दर्जन) में ले लिया है।

मोहन ने कहा—तब तो तुमने दूकानदार को ही ठग लिया।

श्याम बोला – मुझे तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस चीज़ को मैंने इस दर [illegible] कभी नहीं [illegible]। इसके सिवा शायद परिचय होने के कारण उसने [illegible] ही।

[illegible]—[illegible] हो। [illegible]

इकतालीसवाँ अध्याय

वस्तुओं की क़ीमत

अल्पकालीन बाज़ार में

मोहन नित्य प्रातःकाल उठकर घूमने जाता है। पर आजकल वर्षा के दिन हैं। कभी-कभी जो पहले से ही पानी बरसता होता है, तो घूमना नहीं होता। इधर दो दिन से पानी की ऐसी झड़ी लगी रही है कि मोहन सवेरे घूमने को जा नहीं सका था। आज रविवार का दिन है। आकाश भी अपेक्षाकृत खुला हुआ है। मोहन घूमने गया हुआ था। अभी लौटा है। उसके चाचा स्नान करने के बाद व्यायाम करके निश्चित हुए ही थे कि मोहन को घूमकर लौटा हुआ पाकर बोले—देखो तो, जलपान के लिए अगर हलुआ तैयार हो गया हो, तो मुझे भी ले आओ। आज गेहूँ ख़रीदने के लिए बाज़ार चलना है। देर हो जाने से बाज़ार में भीड़ हो जायगी। आज एक तो रविवार, दूसरे महीने की पहली तारीख़ है।

मोहन भीतर जा दो तश्तरियों में हलुवा ले आया। दोनों प्रेम से जलपान कर ही रहे थे कि चाची ने आकर पूछा—कितने गेहूँ लेने जा रहे हो ?

चाचा—तुम्हें ज़रूरत कितने की है ? क्या इस बार कुछ बच गया है ?

चाची ने हँसकर कहा—बचेगा कहाँ से ? मैंने तो इस विचार से पूछा था कि गेहूँ महँगा हो गया है। अभी उस दिन राधे की माँ कहती थी—मेरे घर नौ सेर के आये हैं। दाना तो मोटा है, पर रंग लाल है।

देखिए, पंजाब का है। सवा दस सेर का। और यह लीजिए, मैनपुरी का शरबती गेहूँ।

चाचा—कौन-सा ख़रीदें?

चौधरी—आप यही लें देशी गेहूँ। इसका स्वाद भी मीठा होता है। और आप इसे खाते भी रहते हैं।

चाचा—पर इसमें राई ज़्यादा है।

चौधरी—बहुत थोड़ी। इसके सिवा मैं तो आपको साफ़ कराकर ही दूँगा।

इधर बैठे-बैठे मोहन ने चौधरी से कहा—

क्यों जी, पहले तो गेहूँ बड़ा मँहगा था।

चौधरी—हाँ, भैया। यही गेहूँ आठ-साढ़े-आठ सेर का बिका था। यह तो बाज़ार है। उस समय लड़ाई आरम्भ ही हुई थी। लोगों को यह डर लगा था कि अनाज बहुत मँहगा हो जायगा। झुण्ड-के-झुण्ड टूट पड़े। जहाँ लोगों ने देखा कि ख़रीदारों का यह हाल है, अनाज मँहगा कर दिया।

चाचा—उन दिनों तो चौधरी, एक के दो किये होंगे, तुम लोगों ने।

चौधरी—कहीं नहीं बाबू साहब। यहाँ दिसम्बर में माल ही नहीं मिलता था। सब बड़े-बड़े अढ़तियों ने अपने-अपने यहाँ माल रोक लिया। हम क्या करें, जितना माल और जिस भाव मिलेगा उसी भाव हम भी बेचेंगे। कोई जान-बूझकर नुक़सान तो सहेगा नहीं।

मोहन—क्यों चौधरी, ग्राहक अधिक होने से तुम भाव चढ़ा देते होगे?

चौधरी—यह तो मानी हुई बात है। हमारे पास माल भरा तो पड़ा नहीं रहता, ज़्यादा ख़रीदार आने से हम अपने फ़ायदे की बात अवश्य सोचेंगे। यहाँ तो आये दिनों भाव बदलता ही रहता है। कल दस गाड़ी माल आ जाय तो भाव घट जायगा।

मोहन—क्या हमेशा ऐसा ही होता है?

चौधरी—हाँ भैय्या, हर एक माल में यही बात लागू है। यों आमतौर पर सीमेंट का बोरा एक रुपये और दस आने का आता है। हमारा एक मकान बन रहा है। उसके लिए परसों सीमेंट लेने गये, तो भाव था दो रुपए दो

कालीन क़ीमत वह क़ीमत होती है जिसके आस-पास उस वस्तु की अल्पकालीन क़ीमत रहती है। हो सकता है कि कभी सीमेंट की क़ीमत एक रुपये नौ आने या आठ आना बोरा हो जाय। पर यदि बहुत-सी अल्पकालीन क़ीमतों का औसत निकाला जाय तो वह दीर्घकालीन क़ीमत के बराबर निकलेगा।

मोहन—अच्छा तो अल्पकालीन क़ीमत कहाँ तक घट-बढ़ सकती है?

चाचा—बढ़ने का कुछ ठीक नहीं है। वह तो माँग की लोच के ऊपर निर्भर है। यदि कोई मर रहा हो किन्तु तुम्हारी दवा से जीवित हो सकता हो, तो वह उस समय तुम्हारी दवा को हज़ारों रुपये में ख़रीदने को तैयार हो सकता है। तब भी यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में किसी वस्तु की क़ीमत की ऊपरी हद ख़रीदार के तत्कालीन धन के बराबर है।

मोहन—ठीक ही है, ग़रज़ होने से वह अपनी सारी जमा दे सकता है।

चाचा—अब बची अल्पकालीन क़ीमत की निचली हद। इस सम्बन्ध में तुम यह तो जानते ही हो कि किसी वस्तु के उत्पादन में दो प्रकार के व्यय होते हैं—एक स्थायी और दूसरा अस्थायी।

मोहन—जी हाँ, स्थायी व्यय वह व्यय है जो उस वस्तु के उत्पादन-कार्य आरम्भ करने के पहले ही बनानेवाले को ख़र्च करना पड़ता है। जैसे मिल मालिक को मिल तथा मशीन ख़रीदनी पड़ती है, मैनेजर तथा प्रबंधक इत्यादि को वेतन देना होता है। किसान भी हल-बैल आदि का प्रबन्ध करता है।

चाचा—अच्छा, और अस्थायी?

मोहन—वस्तु बनाने में जो व्यय होता चलता है, वह वस्तु की मात्रा के अनुपात में होता है। कपड़ा बनाने के मिल में सूत, अन्य कच्चा माल, बिजली, श्रमिक की मज़दूरी आदि अस्थायी व्यय के उदाहरण हैं।

चाचा—शाबाश!...हाँ, तो अल्पकाल की क़ीमत की निचली दर इसी अस्थायी व्यय के बराबर हो सकती है। किसान सोच सकता है कि यदि अपने खाने, बैल के दाने और खेत के बीज आदि का भी दाम मिलता हो तो चलो अनाज बेच दें। हल को बदलवाने तथा बैलों की जोड़ी ख़रीदने को, जो दस रुपया साल वह अलग रखता है, वह न मिलेगा, न सही। अगले साल दुगने रुपये निकालकर रख दिये जावेंगे। इसी प्रकार कपड़े के

मिल का मालिक कह सकता है कि चाहे इस साल मिल से मशीनों की मरम्मत के लिए कुछ नहीं मिला, न सही, पर मज़दूरी तथा अन्य चीज़ों की जो मज़दूरी दी गई, बिजली में जो ख़र्च हुआ, वह तो निकल आया, यही बहुत है।

मोहन—पर चाचा जी, अल्पकाल में यदि उचित मात्रा में ख़रीदार न आये तो बेचनेवाला क्या करेगा? वहाँ न कि क़ीमत तो गिर ही रही है, जो मिल जाय वही बहुत है। अगर किसी के पास तरकारियाँ हों और शाम हो जाय, तो वह क्या करेगा?

चाचा—या तो वह उन्हें दाम गिरा बेचेगा या फिर सबेरे तक उन्हें रखेगा और पानी की बाल्टी में डाल उन्हें ताज़ी तरकारियों में मिलाकर बेचेगा।

मोहन—ख़ैर। क्या कभी ऐसा भी होता है कि अल्पकाल में क़ीमत माँग अधिक होने पर भी न बढ़े?

चाचा—कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है। वर्ष के किसी ख़ास महीने में किसी वस्तु की आवश्यकता होती है। जैसे गर्मी में बरफ़ की। यों बरफ़ बारहों महीने बिकती है। गरमी के दिनों में कोई भी यह आशा करेगा कि उसकी क़ीमत बढ़ जायगी, पर होता है इसके ख़िलाफ़। अक्सर देखा जाता है कि गरमियों में बरफ़ की क़ीमत घट जाती है। बात यह है कि बरफ़ बनानेवाले पहले से ही जानते हैं कि गर्मी में बरफ़ की माँग अधिक होगी। बरफ़ की मशीनें जाड़े या अन्य ऋतु में तो पूरी ताक़त से चलती नहीं, पर गरमी में वे पूरी ताक़त से चलती हैं। उनके इस पूर्ण उपयोग से बरफ़ और सस्ते में तैयार हो जाती है। फलतः बरफ़ सस्ती बेची जाती है।

चाचा—अच्छा मोहन, यह तो बताओ कि यदि किसी वस्तु की पूर्ति अस्थायी हो तो अल्पकाल में उसकी क़ीमत की दशा क्या होगी?

मोहन—मेरी समझ में यदि दूकानदार यह जान जायँगे कि अब अमुक वस्तु की पूर्ति घटनेवाली है तो वे उस वस्तु को बेचना कम कर देंगे। फलतः उसके दाम चढ़ जाएँगे। पर दाम ऐसे होंगे जिसमें जितनी पूर्ति हो वह सब बिक जाय। इसी प्रकार यदि कोई वस्तु ऐसी अधिक मात्रा में आने वाली हो, जिसके कारण क़ीमत गिरने का डर हो, तो दूकानदार पहले से

ही उस वस्तु को बेच देने का प्रयत्न करेंगे। फलतः वे समय से पहले ही उस वस्तु की क़ीमत गिरा देते हैं।

चाचा—इसका कोई उदाहरण दे सकते हो?

मोहन—हाँ-हाँ, देखिए महायुद्ध छिड़ते ही दूकानदारों ने माल बेचना बन्द कर दिया था और दाम बढ़ा दिये थे।

चाचा—ठीक।

बोरेवाले मज़दूर घर से आगे बढ़े जा रहे थे। उन्हें पुकारकर मोहन ने कहा—

अरे यहीं-यहीं। दाएँ हाथ, उस लाल मकान में।

और वह दौड़ गया घर के दरवाज़े खुलवाने तथा चाची को यह ख़बर देने कि गेहूँ आ गये।

दूसरे दिन शाम को मोहन की चाची ने बैठक में चाचा के पास आकर कहा—कुछ सुना तुमने?

चाचा बोले—क्या?

चाची—राधे की माँ आयी थी। कहती थी कि गेहूँ आधा सेर और चढ़ गया! मैं जो ऐसा जानती तो दो बोरे और मँगा लेती! अच्छा क्या ऐसा नहीं हो सकता कि चौधरी इसी भाव से दो बोरे गेहूँ और दे दे?

चाचा—गेहूँ अगर चढ़ गया है, तब तो ऐसा सोचना ही व्यर्थ है।

चाची फिर कुछ सोचने लगीं! जान पड़ा, मानो पछता रही हैं कि उसी समय अधिक क्यों नहीं मँगा लिये। रुपये तो उनके पास अभी और थे।

बयालीसवाँ अध्याय

वस्तुओं की क़ीमत

दीर्घकाल में

"जब से पानी बरस गया है, तब से आम खाने का मज़ा बढ़ गया है।"

"चाचा, अपने गाँव में शिवनारायणप्रसाद [illegible] के बाग में आम का एक बहुत अच्छा पेड़ है। उसे नोकहना कहते हैं। उसका आम इतना मीठा होता है कि बस कमाल है। मैं तो सोचता हूँ कि संसार भर में किसी भी पेड़ का आम इससे मीठा नहीं होगा।"

"मैंने खाया है। वास्तव में बड़ा मीठा होता है। तुमने याद भी खूब दिलाई। कल मैं उन्हें पत्र लिखूँगा कि अधिक नहीं, सौ आम भेज दें।"

मोहन और उसके चाचा आँगन में बैठे आम खा रहे हैं। साथ ही बातें भी करते जाते हैं।

मोहन ने जवाब दिया—तब तो चाचा दरअसल मज़ा आ जायगा। मुझे इन दिनों अगर अपने गाँव की याद आती है, तो बस आमों के ही कारण और आपकी चिट्ठी पाकर जो नोकहना के आम उन्होंने भेज दिये, तो आम खाते समय मैं तो यही समझूँगा, मानो मैं मंगलपुर में ही हूँ।

"अब तो पेट भर आया। अच्छा, एक काम करो। चाची से कहो जाकर अब दो गिलास दूध भी दे दें। आम खाने के बाद दूध ज़रूर पीना चाहिए। बहुत शक्ति-वर्द्धक नुसखा है।"

मोहन ने कहा—अच्छा! यह बात है। तब तो ज़रूर दूध पीना चाहिए।

झट मोहन चाची के पास दूध लेने को चला गया। पर तुरन्त एक गिलास में ही दूध लाकर कहने लगा—ख़राब न हो जाय, इस डर से पहले ही जमा दिया था। थोड़ा-सा बच गया था, वही ले आया हूँ। अभी कुनकुना है।

मुसकराते हुए चाचा बोले—अल्पकाल में पूर्ति माँग के बराबर नहीं होती। इतने दूध से क्या होगा! जाओ, देखो, बाज़ार में हो तो ले आओ। पैसे कोट के जेब से ले लो।

मोहन दूध लेकर लौटा तो बोला—सिर्फ़ एक दुकान पर आधा सेर मिल गया है। एक मिनट भी देर कर देता, तो अन्य ग्राहक ले जाता। ख़ैर, दूध पी लेने के बाद मुझे आज आप वस्तुओं की दीर्घकालीन क़ीमत के सम्बन्ध में भी समझा दीजिये। उस दिन यह विषय छूट गया था।

चाचा—अच्छी बात है। किन्तु पहले दूध तो पियो, बैठकर।

दोनों ने जब दूध पी लिया तो चाचा बोले—क्या मैंने दीर्घकालीन क़ीमत के बारे में तुम्हें कुछ नहीं बताया था?

मोहन—बिल्कुल नहीं। आप अल्पकाल की क़ीमत के बारे में ज्ञान कराते-कराते घर पहुँच गये थे और मैं गेहूँ रखाने अन्दर चला गया था।

चाचा—अच्छा, मैंने तुम्हें अल्पकालीन और दीर्घकालीन क़ीमतों के अन्तर के बारे में कुछ बताया था या नहीं?

मोहन—आपने यही कहा था कि अल्पकालीन क़ीमत दीर्घकालीन क़ीमत के आस-पास ही रहती है।

चाचा—अच्छा, पहले यह बताओ कि तुम अल्पकाल और दीर्घकाल के क्या अर्थ लगाते हो?

मोहन—अल्पकाल महीने-दो-महीने का होता होगा और दीर्घकाल साल-दो-साल का।

चाचा—हाँ, आमतौर पर हम यही समझते हैं। पर अर्थशास्त्र में यह आवश्यक नहीं कि अल्पकाल और दीर्घकाल के सदैव एक से मतलब लगाये जायँ।

मोहन—हाँ-हाँ, व्यापारी को खाने-पहनने भर को निकलता आये तब तो ठीक है। अल्पकाल में क़ीमत बढ़ने अथवा उसके घट जाने के कारण व्यापारी या तो मालदार बन सकता है या अपने घर की जमा भी खो सकता है।

चाचा—बहुत ठीक। पर दीर्घकाल के सम्बन्ध में एक बात और है। जिन वस्तुओं की उत्पत्ति में 'क्रमागत-वृद्धि-नियम' लागू होता है उनका दीर्घकाल बहुधा कई बरसों से कम नहीं होता।

मोहन—वह कैसे ?

चाचा—यदि मछलियों की माँग बढ़ जाय तो मछुआ दूसरे दिन से अधिक मछलियाँ पकड़ने लगेगा। पर यदि फ़ैशन बदलने के कारण किसी मैशीन से बनी वस्तु की माँग बहुत बढ़ गई तो उसकी क़ीमत बहुत दिनों तक बढ़ी रहेगी। धीरे-धीरे अधिक व्यक्ति उस वस्तु को बनाने की दक्षता प्राप्त करेंगे। धीरे-धीरे उसको सरलता-पूर्वक तथा अधिक मात्रा में बनाने के लिये मैशीनें बनाई जायँगी। इसके पश्चात् जब उस वस्तु की पूर्ति बढ़ेगी तो क़ीमत गिरने की भी बहुत सम्भावना रहेगी। देखो कुछ वर्ष पहले साइकिलों की क़ीमत कितनी ज़्यादा थी। सौ-डेढ़-सौ रुपये से कम की नहीं आती थी। परन्तु आजकल साइकिलें मारी-मारी फिरती हैं। तीस-चालीस रुपये में बढ़िया साइकिल ख़रीदी जा सकती है।

मोहन—पर यह भी तो कहा जा सकता है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति में 'क्रमागत-वृद्धि-नियम' कई वर्षों में जाकर लागू होता है।

चाचा—ठीक। इसका मुख्य कारण यही है कि दीर्घकाल में उत्पत्ति की तमाम बाह्य बचत का फ़ायदा हो जाता है।

मोहन—कैसी बाह्य बचत ?

चाचा—उत्पत्ति-कार्य में दो प्रकार की बचत होती है। एक आन्तरिक, दूसरी बाह्य। आन्तरिक बचत किसी मिल या फैक्टरी विशेष तक ही सीमित रहती है। किसी फैक्टरी के उचित संगठन व प्रबन्ध-स्वरूप जो बचत होती है उसे आन्तरिक बचत कहते हैं।

की आवश्यकता होती है। उस कच्चे माल को प्राप्त करने का सब ख़र्च लागत-ख़र्च में जोड़ा जाता है। खेती में इस प्रकार का ख़र्च बीज पर करना पड़ता है। कच्चा माल प्राप्त होने पर भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और साहस के सहयोग से माल तैयार किया जाता है। भूमि के मालिक को लगान, मज़दूरों को मज़दूरी, चलपूँजी पर ब्याज, प्रबन्धक का वेतन और साधारण लाभ भी लागत-ख़र्च में जोड़ना आवश्यक होता है। मेशीनों को चलाने में जिस शक्ति, भाप तथा बिजली का उपयोग होता है उसका ख़र्च भी लागत ख़र्च का एक अंग होता है। जो अचलपूँजी अर्थात् मेशीन इत्यादि होती है उसका उपयोग कई बार किया जाता है। इसलिये लागत-ख़र्च में अचलपूँजी की घिसावट और ह्रास मूल्य (Depreciation) भी लागत-ख़र्च में शामिल होता है। वस्तु के विज्ञापन और बिक्री का ख़र्च भी उसी में जोड़ा जाता है। इस प्रकार लागत-ख़र्च में बहुत सी मदें रहती हैं। उन सब पर किये हुये ख़र्च को जोड़कर ही किसी वस्तु के लागत-ख़र्च का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

मोहन—क्या लगान भी लागत-ख़र्च का एक अंग माना जाता है?

चाचा—ऐसी वस्तुएँ जो मिलों और कारख़ानों में तैयार होती हैं उसमें ज़मीन का लगान लागत-ख़र्च का एक अंग होता है। परन्तु कृषि-जन्य पदार्थों में, अर्थात् जो पदार्थ सीधे भूमि से प्राप्त होते हैं, आर्थिक लगान लागत-ख़र्च का अंग नहीं रहता। असली लगान और आर्थिक लगान का भेद मैं अन्य किसी समय समझाऊँगा।

मोहन—क्या लाभ भी दो तरह का होता है?

चाचा—हाँ, लाभ दो तरह का होता है—साधारण और असाधारण। लागत-ख़र्च में साधारण लाभ ही जोड़ा जाता है। असाधारण लाभ तो किसी विशेष परस्थिति के कारण होता है। इन दोनों के भेद मैं अन्य किसी समय समझाऊँगा।

मोहन—अच्छा चाचा, अचलपूँजी का ह्रास मूल्य (Depreciation) किस प्रकार निकाला जाता है?

चाचा—किसी अचलपूँजी के सम्बन्ध में यह अनुमान लगाया जाता है कि वह साधारणतः कितने वर्ष तक चलेगी। उस पर किये हुए ख़र्च को

उतने ही वर्षों से भाग देने पर एक वर्ष का हास मूल्य मालूम हो जाता है। मान लीजिये कि किसी कारखाने का भवन बनाने में दस हजार रुपये लगे और यह अनुमान किया जाता है कि वह भवन २० वर्ष तक काम दे सकेगा। तो उस भवन का मूल्य ह्रास ५००) प्रति वर्ष होगा।

मोहन—मैं लागत-ख़र्च का अंदाज़ लगाना तो समझ गया। परन्तु प्रत्येक वस्तु कई मिलों या उत्पादकों द्वारा तैयार की जाती है और प्रत्येक का उत्पादन व्यय अर्थात् लागत-ख़र्च अलग-अलग होता है। तब दीर्घकाल में किस उत्पादक के लागत-ख़र्च के बराबर उस वस्तु का मूल्य होता है ?

चाचा—इसे समझने के लिए तुमको औसत लागत-ख़र्च और सीमांत लागत-ख़र्च का भेद जानना आवश्यक है। किसी उत्पादक ने जितनी वस्तु तैयार की उसके सब ख़र्च को वस्तु की मात्रा (परिमाण) से भाग देने पर औसत-ख़र्च मालूम होता है; परन्तु सीमांत-ख़र्च उसे कहते हैं जो अंतिम वस्तु का लागत-ख़र्च होता है। प्रत्येक उत्पादक अपने यहाँ वस्तु का उत्पादन उस सीमा तक बढ़ाता जाता है जिस सीमा पर उसका सीमांत लागत-ख़र्च वस्तु की क़ीमत के बराबर होता है। प्रत्येक उत्पादक यही करता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि दीर्घकाल में वस्तु की क़ीमत प्रत्येक उत्पादक के सीमांत लागत-ख़र्च के बराबर होती है। परंतु औसत लागत-ख़र्च प्रत्येक उत्पादक का अलग-अलग रहता है। जो उत्पादक कार्य-कुशल है, अनुभवी हैं, जिनको किसी प्रकार की सुविधा प्राप्त है उनका औसत लागत-ख़र्च सीमांत लागत-ख़र्च से कम रहता है और उनको अतिरिक्त लाभ होता है। जो उत्पादक कार्य-कुशल नहीं है या जिनको किसी विशेष असुविधा का सामना करना पड़ता है उनका औसत लागत-ख़र्च सीमांत लागत-ख़र्च से अधिक रहता है, और यदि कुछ समय तक लागत-ख़र्च वे कम न कर सके या वस्तु की क़ीमत में वृद्धि न हुई तो उनको अपना कार्य बन्द कर देना पड़ता है, इससे वस्तु की पूर्ति में कमी पड़ती है और उसकी क़ीमत बढ़ने लगती है। इसके विपरीत यदि किसी उद्योग-धन्धे में सब उत्पादकों का औसत लागत-ख़र्च सीमांत लागत-ख़र्च से कम होता है तो सब उत्पादकों को अतिरिक्त लाभ होने लगता है और अन्य उद्योगधन्धों से

उत्पादक अपनी पूँजी निकालकर उस उद्योग में लगाने का प्रयत्न करते हैं। इससे उस वस्तु की पूर्ति दीर्घकाल में बढ़ जाती है और जिससे उसकी क़ीमत कम हो जाती है और अतिरिक्त लाभ होना भी बन्द हो जाता है। प्रत्येक वस्तु के उत्पादकों में कुछ उत्पादक ऐसे होते हैं जिनका औसत उत्पादन-व्यय अर्थात् लागत-खर्च सीमांत लागत-खर्च के बराबर होता है। इन्हीं के औसत लागत-ख़र्च के बराबर वस्तुओं की क़ीमत दीर्घकाल में रहती है और अल्पकालीन क़ीमत इस दीर्घकालीन क़ीमत के आस-पास घटती-बढ़ती रहती है।

मोहन—तो क्या माँग का भी कुछ प्रभाव दीर्घकालीन क़ीमत पर रहता है?

चाचा—कुछ क्या, बहुत कुछ प्रभाव रहता है। अरे भाई, माँग ही तो सब कुछ है। उसी का तो सब खेल है। माँग न हो तो लाभ कुछ भी न हो। उसी की लालच से तो उत्पादक अपनी सब जोखिम उठाता है।

चाचा—माँग व्यक्तियों के आचार-विचार, फैशन, आय, संख्या सभी पर निर्भर होती है। इसके अलावा व्यापार की दशा, रुपये-पैसों की कमी-बढ़ती, तथा अन्य वस्तुओं की क़ीमत का वस्तु की माँग और दाम पर प्रभाव पड़ता है।

इसी समय किसी ने आकर कहा—आप दोनों साहब को बाबू जी ने याद किया है।

चाचा—कोई ख़ास काम है क्या?

आगन्तुक—यह तो मैं नहीं जानता।

हरिश्चन्द्र बाबू का मकान पास ही था। दोनों उठकर वहाँ जा पहुँचे। हरिश्चन्द्र बाबू भी उस समय आम खा रहे थे। अतः संयोग से हरिश्चन्द्र बोले—लँगड़ा आम बहुत अच्छा आया है। खाइये।

चाचा—वाह, अभी-अभी तो घर में खाकर उठा हूँ।

हरिश्चन्द्र—तो दूध पीजिये। ला रे बेनी, दो गिलास दूध ले आ। बेनी दूध लेने चला गया।

चाचा ने हँसते हुए पूछा—पर क्या इसी लिए बुलाया था?

बाबू हरिश्चन्द्र ने कहा—अच्छा तो लीजिये, सुनिये, इसलिए बुलाया था।

अब लखनऊ के रेडियो स्टेशन से एक वार्तालाप सुनाई देने लगा, जिसका विषय था—अति दीर्घकाल में वस्तुओं की क़ीमत पर पूर्ति, माँग, जन-संख्या आविष्कार, फ़ैशन आदि का क्या प्रभाव पड़ता है।

तैंतालीसवाँ अध्याय

वस्तुओं की क़ीमत

अति दीर्घकाल में

मोहन के चाचा आज बड़े उत्साह में हैं। उनके छोटे बच्चे कमलाशंकर की वर्ष गाँठ है। सभी आमंत्रित लोग दावत खाकर चले गये हैं। अब केवल घर के ही लोग खाने को बच रहे हैं। किन्तु उसी समय आ पहुँचे पंडित हरभजन। ये महाशय मोहन के चाचा के यहाँ पूजन, जप तथा संस्कार आदि कराने वाले कर्मकाण्डी पंडित के रूप में प्रतिष्ठित हैं। डील-डौल के ठिगने और कुछ स्थूलकाय हैं।

आते ही उन्हें भी पत्तल डाल दिया गया। पूरी-कचौड़ी, शाक, मिष्ठान्न, रायता, आदि सभी चीज़ें एक साथ पत्तल में सजाकर चली आयीं और पंडित हरभजन प्रेम के साथ भोजन करने लगे।

थोड़ी देर में जब पंडित हरभजन क़रीब-क़रीब खा चुके, तो मोहन के चाचा ने दो लड्डू उनके पत्तल में रख दिये।

तब तो पंडित हरभजन बोले—अरे बाबू साहब, यह आपने क्या किया? अब तो पेट बिल्कुल भर गया।

मोहन के चाचा बोले—वाह पंडित जी, ऐसा कहियेगा? अभी पानी पीने की जगह तो ख़ाली ही पड़ी हुई है।

पंडित हरभजन हँस पड़े। बोले—वाह! पानी पीनेवाला कोना भी अगर भर गया, तब तो फिर जान की साँसत हो जायगी। यों भी आपके यहाँ

जब कभी भोजन करता हूँ, तो शाम के वक्त खाना खाने के योग्य नहीं रह जाता। आप इतना अधिक खिला देते हैं!

मोहन के चाचा बोले—अरे नहीं पंडित जी, अब आप लोग सच पूछिये तो कुछ भी नहीं खाते। सुनते हैं, दादा के यहाँ ऐसे लोगों का अखाड़ा-सा लगा रहता था, जो एक बैठक में ढाई सेर की पूरी कचौड़ी, या तीन सेर पेड़ा-बरफी या आठ-आठ सेर दूध पी जाया करते थे।

पंडित हरभजन ने कहा—अरे साहब, पुराने ज़माने में ऐसे-ऐसे बलवान् और महा पराक्रमी लोग पैदा होते थे कि तीन-तीन मन अनाज से भरी गाड़ी का पहिया कमर से तौल देते थे। तभी उनकी खूराक भी तगड़ी होती थी। अब तो लोग भेड़ बकरी की तरह लगे बच्चा पैदा करने, और रह गया डेढ़ पसली का बदन। ऐसे लोग दो फुलके खा लेने पर क्यों न संतुष्ट हो जायँ? और बाबू साहब, अगर आप माफ़ करें तो मैं कहूँगा कि विलायती वेश-भूषा और फ़ैशन की नक़ल ने तो हमारा सत्यानाश कर डाला है। असली घी-दूध खाने को मिलता नहीं। ताक़त कैसे आये? बल्कि जिन लोगों की तन्दुरुस्ती कुछ अच्छी होती है, जो पुराने ज़माने की देशी पोशाक पहनते और साहसी, स्वाभिमानी और सत्यभाषी होते हैं, उन्हें ये अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग असभ्य और जड़ मानते हैं। बहुत धीरे से बातें करनेवाले नाजुक मिजाज़ दुर्बल और क्षीणकाय, पीलेमुख वाले लोग आजकल सभ्य और आदरणीय माने जाते हैं। और नाजुक मिजाज़ी तो इस क़दर बढ़ गयी है कि बाज़ार तक में लोग ऐसी ही चीज़ें लेना पसन्द करते हैं, जो कमज़ोर चाहें जितनी हों, लेकिन हों फैंसी! ऐसी ऐसी छड़ियाँ मैंने बाज़ार में देखी हैं, जो कमलनाल सी पतली होती हैं। अगर किसी पर एक बार भी वार करने का अवसर मिले, तो बस पहले ही वार में सारा खेल ख़तम हो जाय। बस, ज़्यादा क्या कहें बाबू साहब, सच पूछो तो इस फैशन के मारे हमारा देश तबाह हो रहा है।

मोहन खड़ा-खड़ा ये सब बातें सुन रहा था। बोल उठा—आपकी बातें मेरी समझ में कुछ कम आ रही हैं। फैशन तो सभ्यता की देन हैं। संसार की यह जो उन्नति देख पड़ती है फैशन का उसमें बहुत बड़ा हाथ है। सच पूछो तो यह जीवन और जाग्रति का चिन्ह है।

पंडित हरभजन—लो बाबू साहब, अब मैं जवाब देने से रहित हुआ। कौन लड़कों के मुँह लगे ? आप ही समझा दीजिये।

मोहन के चाचा—फ़ैशन की प्रचुरता और परिवर्तनशीलता से देश की आर्थिक शक्ति का ह्रास तो होता है। इसमें सन्देह नहीं। और हाँ, अच्छी याद आयी। अति दीर्घकाल में फ़ैशन का प्रभाव भी वस्तुओं की क़ीमत पर बहुत पड़ता है।

मोहन—अति दीर्घकाल से आपका क्या अभिप्राय है ?

चाचा—यही दस, बीस, पचीस, पचास वर्ष का समय अति दीर्घ-काल के नाम से पुकारा जाता है। अति दीर्घकाल की विशेषता यह रहती है कि उसमें वस्तुओं के उत्पादन के तरीक़ों में परिवर्तन होने के लिये काफ़ी समय रहता है। आविष्कार के प्रभाव के लिए भी काफ़ी समय रहता है। इन्हीं कारणों से वस्तुओं के लागत-खर्च में कमी होती है।

इतने में पंडित हरभजन बोल उठे—ज़रा पानी देना, मोहन भैया।

"अच्छा महाराज" कहते हुए मोहन ने लोटे में गंगाजल लाकर महाराज के गिलास में उडेल दिया। पानी पीकर पंडित जी पेट पर हाथ फेरने लगे।

पंडित जी—अच्छा बहुत खा लिया बाबूजी। अब कल तक के लिए छुट्टी हो गई। भोजन तो बस आपके यहाँ होता है।

मोहन के चाचा—पंडित जी, सब आप की कृपा है। अन्यथा हम किस योग्य हैं।

पंडित जी उठ बैठे। मोहन ने उनके हाथ धुलाये। टीका करवा पान और इकनी दक्षिणा लेकर पंडित जी चलते बने। इतने में मोहन की चाची ने पुकारा—

—अब चलो तुम और मोहन भी खा लो।

चाचा—लड़कों को खिलाओ।

चाची—लड़के तो सुबह से कितनी बार खा चुके हैं। चलो, चलो तो।

मोहन की चाची थाली सजाकर ले आईं। चाचा-भतीजे खाने बैठे। खाते-खाते मोहन बोला—

चाचा जी, उस समय आपने कहा था कि फ़ैशन के कारण ही अति दीर्घकाल में इन वस्तुओं की क़ीमत आज दिन इतनी कम हो गई है। सवेरे आप कह रहे थे कि फ़ैशन के अलावा पूर्ति और माँग के अतिरिक्त, आविष्कार तथा जन-संख्या आदि का भी वस्तुओं की क़ीमत पर प्रभाव पड़ता है।

चाचा – हाँ, जन-संख्या को ही ले लो। किसी देश की जन-संख्या बढ़ने के दो कारण हो सकते हैं। उस देश में पैदाइश अधिक हो, या उसमें बाहर से कुछ लोग आ जायँ। यदि पैदाइश के कारण जन-संख्या बढ़ रही है तो बूढ़ों की अपेक्षा बच्चों का नम्बर अधिक होगा। इस हालत में नक़ली दाँत, आराम-कुर्सी, बैसाखी आदि की माँग और इसलिये क़ीमत घट जायेगी। दूसरी ओर बच्चों के खिलौने, उनको घुमाने की गाड़ियाँ और बिस्कुट आदि की माँग और उनके दाम बढ़ जायेंगे। पर अंत में इन वस्तुओं को बनाने के लिये अधिक उपयुक्त मैशीन आदि के आविष्कार के कारण ये सस्ते दामों में बिकने लगेंगे।

मोहन—अगर नौजवानों की संख्या बढ़ जाय तो ?

चाचा—तब घरों और कुर्सी-मेज़ की माँग बढ़ेगी और धीरे-धीरे इन्हें तैयार करने के सस्ते तरीक़े भी निकलेंगे।

मोहन—अगर बाहरी लोगों के आने के कारण जन-संख्या में वृद्धि हुई है तब ?

चाच—हर हालत में वही बात है। जिस ढंग के व्यक्तियों की वृद्धि होगी उन्हीं की इच्छित वस्तुओं की माँग बढ़ेगी और क़ीमत अंत में गिरेगी। हिन्दुस्तानी मज़दूर काम की तलाश में लंका, फिजी, अफ्रीका आदि देशों में जा बसते हैं। उनके वहाँ जाने से वहाँ पर चावल आदि की माँग बढ़ती है। अंग्रेज़ों के भारत में आने के कारण यहाँ पावरोटी, बिस्कुट बनने लगे। यहाँ के दर्ज़ी कोट और पतलून सीने लगे। भारत में मोटर और साइकिलों का प्रचार हो गया। यहाँ तक कि अब अपने देश में ही सस्ते दामों में इन वस्तुओं को तैयार करने की बात सोची जा रही है।

मोहन— जहाँ जन-संख्या घटती है वहाँ क्या होता है ?

चाचा—इसका ठीक उल्टा होगा। जिस प्रकार के व्यक्ति कम होंगे

उसी प्रकार की वस्तुओं की माँग घट जायगी और क़ीमत गिर जायगी।

मोहन—व्यक्तियों की आय का भी असर तो माँग और क़ीमत पर पड़ता है।

चाचा—क्यों नहीं?

मोहन—अच्छा, किस तरह?

चाचा—मान लो पहले कुछ व्यक्ति ग़रीब थे। वे अधिकतर चना-मटर, मोटा सस्ता कपड़ा, छोटे घरों की माँग करते होंगे। परन्तु यदि वे ही व्यक्ति धीरे-धीरे अमीर हो जायँ तो वे उत्तम अनाज, केक, पावरोटी, घी, दूध, मक्खन, बढ़िया रेशमी सूती व ऊनी कपड़े, बंगला, मोटर, रेडियो जैसी वस्तुयें ख़रीदेंगे। फलतः देश में इन उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन मिलेगा और इनकी क़ीमत बढ़कर अंत में गिर जायगी।

मोहन—यदि रूस की भाँति सब धन सारी जनता में बराबर-बराबर बाँट दिया जाय तो क्या होगा?

चाचा—ऐसा करने से दो बातें होंगी। प्रथम अमीरों की अमीरी कम हो जायगी और ग़रीबों की गरीबी। है न!

मोहन—जी हाँ।

चाचा—अमीर लोग बढ़िया-बढ़िया मोटरें, मोती, हीरा, जवाहरात ख़रीदना बंद कर देंगे। इनकी माँग गिर जाने से क़ीमत भी गिर जायगी। इसी प्रकार बहुत ग़रीब व्यक्ति अनाजों में जई, जवा, बाजरा तथा रूई के सस्ते सूती कपड़ों की जगह उन वस्तुओं की माँग पेश करेंगे, जिन्हें अब तक वे आराम या कुछ-कुछ विलासिता की वस्तुएँ समझते थे।

मोहन—आपके कहने का मतलब यह है कि अमीर और ग़रीब दोनों की विशेष माँग घट जायगी और मध्यम श्रेणी के व्यक्ति जिस प्रकार की वस्तुएँ खरीदते हैं उनकी माँग बढ़ जायगी। फिर उत्पादक इन्हीं को अधिक मात्रा में बनायेंगे।

चाचा—ज़रूर। और माँग के इस प्रकार बढ़ जाने के कारण उन्हें उत्तमोत्तम मैशीन तथा अन्य साधनों का उपयोग करने का अवसर मिलेगा।

बहुत कुछ संभव है कि वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग करने से वस्तुएँ सस्ते दामों में बनने लगें।

मोहन—आविष्कारों का क्या प्रभाव और महत्व है?

चाचा—किसी वस्तु के उत्पादन व्यय कम करने में आविष्कार का बड़ा महत्व है। साधारणतः ऐसी नवीन मेशीनों का आविष्कार किया जाता है जिससे कोई काम कम ख़र्चे से होने लगता है। धीरे-धीरे नवीन मेशीनों का उपयोग होने लगता है। इससे दीर्घकाल में लागत ख़र्च कम होने पर वस्तु की क़ीमत कम हो जाती है। इस प्रकार आविष्कार का प्रभाव यह होता है कि वस्तुओं की उत्पति बहुत बढ़ जाती है और उनकी क़ीमत कम होती है। इससे उत्पादक और उपभोक्ता दोनों का लाभ होता है।

मोहन—क्या आविष्कारों से हमेशा लाभ-ही-लाभ होता है? क्या किसी को कभी हानि नहीं होती?

चाचा—कभी-कभी हानि भी होती है। जब ऐसी मेशीनों का आविष्कार किया जाता है जिनके द्वारा कई श्रमिकों का काम आसानी से कम ख़र्च पार हो जाता है तो नयी मेशीनों के उपयोग के साथ-ही-साथ मज़दूरों की संख्या कम कर दी जाती है और कुछ समय तक तो कई मज़दूरों को बेकारी का सामना करना पड़ता है। हाँ, दीर्घकाल में संभव है कि वे मज़दूर उसी अथवा अन्य उद्योग में वस्तुओं की उपत्ति अत्यधिक बढ़ जाने के कारण फिर से लगा लिये जायँ। तुमको यह बात न भूल जाना चाहिये कि आविष्कारों से संसार को आर्थिक लाभ ही अधिक हुआ है।

यदि हम किसी देश को धनी होते देखते हैं तो खोज करने पर यही पाएँगे कि वहाँ आविष्कारों की संख्या बहुत बढ़ गई है। जर्मनी को देखो। कैसी उम्दा-उम्दा वस्तुएँ निकाली हैं? नक़ली रंग, दवाइयाँ, बच्चों के गटापार्चा के खिलौने। अमरीका को ही ले लो, बिजली के लैम्प, बैटरी, सस्ते रेडियो, मोटरें।

मोहन—और ग्यारह आनेवाली बढ़िया फाउन्टेन्पेन!

चाचा—हाँ, हाँ देखो, कितनी सस्ती है वह क़लम और कितनी अच्छी। हरेश बाबू जो सबेरे मुझे पुकार रहे थे, दो साल से उसी फाउन्टेन्पेन से काम

कर रहे हैं। तमाम दिन दफ़्तर में काम करते हैं और अभी तक वह ज्यों की त्यों चल रही है। अमरीका वाले धनी न हों तो और कौन हो।

इस बीच में चाची कई बार पूरी, कचौड़ी, तरकारी, रायता दे गईं। इस बार जब वह कचौड़ी देने आईं तो मोहन बोल उठा—

अच्छा चाचा, क्या भारत में आविष्कार नहीं होते ?

चाचा – होते तो वहाँ भी सब लोग इस तरह रोज़ पूरी कचौड़ी खाने लगते। यहाँ तो विदेशियों के मारे कुछ होने ही नहीं पाता और हमारी सरकार भी विदेशी होने के कारण हम लोगों की ओर उचित ध्यान नहीं देती। किया क्या जाय ?

दोनों खाना खा चुके थे। बातें समाप्त हो रही थी कि पंडित हरभजन ने फिर से अन्दर प्रवेश करने के लिए मोहन को पुकारा।

चाचा ने मोहन से कहा—देखो, कौन है ? थोड़ी देर में लौट कर मोहन ने कहा—पंडित जी छाता भूल गये थे। उसी को लेने आये थे। किसी ने उठाकर उसे दूसरी जगह रख दिया था। लेकिन चाचा, छाता उनका था बड़ा बढ़िया। दाम पूछने पर मालूम हुआ कि सिर्फ़ पौने दो का है। पहले इस क़िस्म का छाता बड़ा महँगा मिलता था।

चाचा—अति दीर्घकाल में वस्तुओं की क़ीमत इसी प्रकार घट जाती है।

चवालीसवाँ अध्याय

थोक और फुटकर बिक्री

"इसमें किशोरीलाल को क्यों दोष दिया जाय, यह दोष वास्तव में हमारा और हमारे समाज का है। अपने इन ग़रीब किसान बन्धुओं की दयनीय स्थिति पर हमने ध्यान ही कहाँ दिया है। कैसे इनकी इस दशा में सुधार हो, कैसे ये स्वावलम्बी बनें, किस प्रकार ये दरिद्रता-रूपी महामारी के हिंसक आक्रमणों से बचें, मैं तो दिन-रात यही सोचा करता हूँ, राजाराम। अन्त में मुझे अर्थशास्त्र से ही शान्ति मिलती है" बिहारी इतना कह कर चुप हो गया।

राजाराम ने कहा—लेकिन किसान तो सरासर अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मारते हैं। पंडित शिवनाथ अग्निहोत्री के यहाँ बीज के लिए जुआर, मक्का, अरहर, उड़द, मूँग, तिल आदि सभी प्रकार के अनाज मिल सकते हैं। उनको बीज के अनुरूप ज़्यादा तादाद में अनाज रखने का शौक़ है। किसानों के लाभ के लिये ही वे ऐसा प्रबन्ध रखते हैं। अब अगर ये लोग अपने पड़ोस के ऐसे परोपकारी व्यक्ति से व्यवहार न करके सीधे महाजन के यहाँ जायँ, और ठगाये जायँ, तो इसमें दोष इनका नहीं, तो और किसका है?

बिहारी—यह प्रश्न एक व्यक्ति का नहीं है राजाराम। असल में यह सारे समाज का है। मान लो, किशोरीलाल ने महाजन के यहाँ से बीज का अनाज उधार लेकर ग़लती की, किन्तु मैं तो समष्टि रूप से देखता हूँ कि भारतीय व्यापार की मुख्य समस्या क्रय-विक्रय सम्बन्धी जटिलता है। एक ओर हमारे

देश के किसान दरिद्र हैं। दूसरे क्रय-विक्रय के सम्बन्ध जब जटिल हो जाते हैं, तब साधारण जनता को कितनी हानि उठानी पड़ती है, अशिक्षित होने के कारण, वे इसके ज्ञान से भी शून्य हैं। इसका ऐसा दुष्परिणाम होना सर्वथा स्वाभाविक है।

राजाराम—क्रय-विक्रय-सम्बन्धी जटिलता से आपका क्या अभिप्राय है?

बिहारी—पहले क्रय की बात लो। जानते हो किसान लोग बीज ख़रीदने के लिये महाजन के पास क्यों जाते हैं? क्योंकि उन्हें इस बात का ज्ञान ही नहीं होता कि बाज़ार-भाव वास्तव में क्या है और महाजन उसे जिस भाव में दे रहा है उससे उसका कोई अंतर भी है। फिर अगर उन्हें मालूम भी हो जाय कि बाज़ार में क़ीमत महाजन की बतायी क़ीमत से कम है, तो भी थोड़ा-सा अनाज बाहर गाँव जाकर ख़रीदना उनके लिये कितना कठिन होता है। फिर कभी-कभी तो बेचारे इन ग़रीब किसानों की इतनी भी सामर्थ्य नहीं होती कि वे बीज ख़रीदने भर के दाम भी दे सकें। तब विवश होकर उन्हें महाजन से उधार व्यवहार ही करना पड़ता है। और उधार सौदा लेने में कुछ अधिक क़ीमत होने पर भी किसानों का झुक जाना और जिस भाव मिले, उसी भाव से ले लेना सर्वथा स्वाभाविक है।

इसी प्रकार विक्रय की बात है। फ़सल तैयार होने पर सब से पहले किसान को लगान चुकाना पड़ता है। खलिहान से अनाज घर आने नहीं पाता कि ज़मींदार का तक़ाज़ा सिर पर उसी तरह मड़राने लगता है, जैसे चील या कौवे किसी जानवर के कटे माँस पर मड़राते हैं। इसका फल यह होता है कि किसान फ़सल के अनाज को जल्दी बेचने के लिए विवश हो जाता है। फ़सल तैयार होने के कारण अनाज का भाव उस समय मंदा रहता है। अगर किसान इतने समर्थ हों कि आठ-दस मास भी फ़सल की पैदावार के अधिकांश भाग को अपने घर पर रख सकें, तो उनकी आय अधिक नहीं तो सवाई तो हो ही जाय।

किन्तु उन्हें तो इसके विपरीत उसी महाजन के हाथ बेचनी होती है, जिसका वह क़र्ज़दार होता है। एक तो उनको बाज़ार भाव का ज्ञान नहीं होता, दूसरे कभी-कभी बाहर ले जाकर बेचने की सुविधा भी नहीं होती।

कुछ लोग इतना भी गणित नहीं जानते कि हिसाब समझ सकें। अतः उन्हें गाँव के निकटवर्ती महाजन पर बाहरी ख़रीदार अढ़तिया की अपेक्षा अधिक विश्वास होता है।

राजाराम—लेकिन जिन किसानों की पैदावार कुछ अधिक होती है, वे तो उसे क़स्बों की मंडियों में जाकर बेचते हैं।

बिहारी—परन्तु वहाँ भी उन्हें कटौती कितनी देनी पड़ती है। अनाज चाहे जितना साफ़ हो, कूड़ा-कबाड़ उसमें चाहे जितना कम हो, परन्तु कूड़ा-कबाड़ के नाम पर कटौती उसे देनी ही पड़ती है। इसके सिवा चुंगी, मंडी में गाड़ी ठहराने का कर, माल तुलाई, गोशाला, रामलीला अथवा प्याऊ-शुल्क इत्यादि भाँति-भाँति की कटौतियाँ उन बेचारे अशिक्षित, भोले और धर्मभीरु किसानों पर लाद दी जाती हैं।

राजाराम—परन्तु केवल बीज बोने अथवा खाने के लिए अनाज ख़रीदने और फ़सल बेचने की ही जटिलताएँ इस समुदाय के सामने नहीं हैं। नित्य निर्वाह के लिये सर्द और गरम कपड़े तथा विवाहादि संस्कारों के अवसर पर बर्तन, चीनी तथा अन्य पदार्थ भी तो उसे ख़रीदने पड़ते हैं। क्या इसमें उनका बहुत-सा पैसा व्यर्थ नहीं जाता ?

बिहारी—क्यों नहीं जाता ? जो धोती तुम पहने हुये हो, वह जोड़ा लेने पर सम्भवतः दो रुपये दो आने को मिली होगी।

राजाराम—(आश्चर्य्य के साथ) दो रुपये दो आने ! आप कहते क्या हैं ? यह तो यहाँ २।-) में मिली है।

बिहारी—लो, तुमने तो और भी अधिक दाम बता दिये। ख़ैर। हाँ, तो मैं यह कहने जा रहा था कि यह धोतीजोड़ा, थोक के भाव, मिल से सम्भवतः १।।।) के भाव से चला होगा। अब सोचने की बात है कि क्रय-विक्रय सम्बन्धी जटिलताएँ अगर हमारे व्यापार में न होतीं, तो असली दाम पर लगभग ३३% का यह इज़ाफ़ा बेचारे ग़रीब उपभोक्ता से किसी प्रकार वसूल नहीं किया जा सकता था !

राजाराम—पर अभी मैं समझा नहीं कि आप कह क्या रहे हैं ?

बिहारी—अभिप्राय यह है कि हमारे यहाँ के व्यापार में व्यर्थ के दलाल

अत्यधिक भर गये हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि उत्पादकों के यहाँ से कोई वस्तु जिस भाव से विक्रियार्थ निकलती है, उससे कहीं अधिक दाम बढ़ाकर उपभोक्ताओं तक पहुँचती है। सोचने की बात है कि उत्पादकों के जो असली सहायक उपभोक्ता लोग हैं, उनके साथ कैसी नोच-खसोट का व्यवहार इन बीच के दलालों द्वारा होता है! बात यह है कि साधारण रूप से जो लोग वस्तुओं की फुटकर बिक्री करते हैं, वे बीच के व्यवसायी होते हैं, असली नहीं। अर्थात् वे उन वस्तुओं को तैयार नहीं करते। वे अपने माल को अपने से बड़े थोक के दूकानदार से ख़रीदते हैं। यह मानी हुई बात है कि जिस दर से थोक बिक्री का दूकानदार फुटकर बिक्री के दूकानदार को माल देता है, वह उस भाव से अधिक होता है, जो उसे मिल, फैक्टरी, कारख़ाना अथवा उत्पादक से मिलता है, इसके बाद फुटकर बिक्री का दूकानदार उस माल पर अपना ख़र्च तथा लाभ जोड़ता है। तब कहीं वह असली उपभोक्ताओं तक पहुँचता है। इसी प्रकार जो वस्तुएँ विदेश अथवा अन्य प्रान्तों से आती हैं, उपभोक्ताओं के पास, वे बीच के अनेक विक्रेताओं के द्वारा पहुँचती हैं। ये सब बीच के विक्रेता एक तरह से दलाल होते हैं। जो वस्तुएँ उत्पादक के यहाँ से निकलकर जितने ही अधिक इन दलालों के द्वारा घूमती हुई उपभोक्ताओं के पास पहुँचती हैं, वे बीच के दलालों की दलाली से उतनी ही अधिक महँगी होती हुई उपभोक्ताओं के पास पहुँचती हैं। सभी दलाल उन पर अपना ख़र्च और लाभ चढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार ये वस्तुएँ उत्तरोत्तर महँगी होती जाती हैं।

राजाराम—इस प्रकार तो उपभोक्ताओं की ही सबसे अधिक हानि होती है।

बिहारी—निस्सन्देह। किन्तु यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कारख़ाने से निकली हुई वस्तु की क़ीमत, थोक दूकानदार की क़ीमत और फुटकर बिक्री की क़ीमत—इन तीनों क़ीमतों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। माँग का प्रभाव सब से पहले फुटकर बिक्री पर पड़ता है। उसके बाद बीच

के व्यवसायियों—दलालों—की निर्धारित क़ीमत पर। तदनन्तर अन्त में वह प्रभाव उत्पादक की क़ीमत पर पड़ता है।

राजाराम—किन्तु इससे वस्तुओं का लागत-ख़र्च तो पूर्ति पर कोई प्रभाव डालता न होगा?

बिहारी—क्यों नहीं डालता है? नयी मैशीनों के आविष्कार से वस्तुओं के लागत-खर्च में जो परिवर्तन होता है, पूर्ति पर ही तो उसका प्रभाव सर्व प्रथम पहुँचता है। इसके बाद बीच के दलालों द्वारा निर्धारित क़ीमत पर पड़ता हुआ अन्त में फुटकर बिक्री की दर तक पहुँचता है। इसी का प्रभाव उपभोक्ताओं के हानि-लाभ पर पड़ता है।

राजराम—किन्तु ये बीच के दलाल तो रहेंगे ही। इन्हें निकाला तो जा नहीं सकता।

बिहारी—एक दम से निकालना तो मुश्किल है। किन्तु उनकी संख्या तो कम की ही जा सकती है।

राजाराम—किस प्रकार?

बिहारी—यदि ऐसी सहकारी समितियाँ बनायी जायँ, जो उत्पादकों से माल ख़रीदें और अपना साधारण ख़र्चा मात्र लेकर क़रीब-क़रीब लागत मूल्य में ही उन्हें उपभोक्ताओं तक, फुटकर बिक्री द्वारा पहुँचायें, तो बीच के दलाल धीरे-धीरे आपसे आप ख़तम हो जायँगे। येही सहकारी समितियाँ, क्रय के सम्बन्ध में भी, किसानों की सहायक बन सकती हैं। एक ओर वे किसानों से सीधा सम्बन्ध रक्खेंगी, दूसरी ओर नाज की बड़ी-बड़ी मंडियों से। तब न तो किसानों को रामलीला, मंदिर-धर्मशाला तथा प्याऊ के नाम पर, या कचरा-कबाड़ की अमर्यादित कटौती के नाम पर अनुचित ख़र्चा देना पड़ेगा, न नाप-तौल में ही किसानों पर किसी प्रकार का अन्याय हो सकेगा।

राजाराम—किन्तु सहकारी समितियाँ मंडियों के थोक व्यवसायियों की मनमानी पर कैसे नियंत्रण रख सकेंगी? जब वे व्यवसायी देखेंगे कि इस तरह हमारा लाभ कम हो गया है, तो वे सहकारी समितियों से अपना सम्बन्ध विच्छेद न कर देंगे? जब उन्हें जवाब मिलेगा कि

जाइये, हम आपसे माल नहीं ख़रीदते, किसानों से हम सीधे व्यवहार रक्खेंगे; तब ?

बिहारी—तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि ये सहकारी समितियाँ चाहें तो मंडियों पर अपना पूरा नियंत्रण रख सकती हैं। एक तो वे अर्ध-सरकारी संस्थाएँ होती हैं, और वे व्यवसायियों की धाँधली रोक सकती हैं, दूसरे जब साधारण जनता की सहानुभूति और उसका सहयोग उन्हें प्राप्त होगा, तब मंडियों पर नियंत्रण रखने में वे पूर्ण कृतकार्य्य होंगी। किन्तु इसके सिवा एक उपाय और भी ऐसा है जिसके द्वारा व्यापारिक क्षेत्र के दलाल कम किये जा सकते हैं।

राजाराम—उसे भी बतलाइये।

बिहारी—उपभोक्ता लोग भी मिलकर ऐसे स्टोर्स खोल सकते हैं जो क्रय-विक्रय की जटिलताओं को एक दम दूर कर सकते हैं। एक ओर वे उत्पादकों से सीधे माल ख़रीदकर, साधारण जनता के लिए, क़रीब-क़रीब लागत मूल्य पर फुटकर बिक्री कर सकेंगे। दूसरी ओर वे किसानों की उत्पादक शक्ति की रक्षा में भी उनकी सहायता पहुँचा सकते हैं।

राजाराम के द्वार पर दोनों में ये बातें हो ही रहीं थीं कि उसी समय किशोरीलाल उधर से आ निकले।

राजाराम ने उसे बुलाकर पूछा—कहो भाई, मैंने सुना है कि तुमने बीज के लिए अनाज फिर उस धनपशु महाजन से ही ख़रीदा। मैंने तो तुम्हें बता दिया था कि अग्निहोत्री जी के यहाँ से ले आना।

किशोरीलाल बेचारा उस समय एकदम से उदास हो गया। बोला—भैया, तुम नहीं जानते, हमारा एक-एक दिन आज कल किस तरह कटता है। किसी-किसी दिन तो केवल चने चबाकर ऊपर से लोटा भर पानी पीकर दिन काटना पड़ता है। किसी से कहता नहीं हूँ; क्योंकि जब कोई दुःख बटानेवाला नहीं है, तो अपनी दुख-भरी कहानी भी कहना व्यर्थ है। महाजन ने तो सवैया लेने के लालच का ख़्याल करके बीज हमें उधार दे दिया है।

राजराम ने देखा, सचमुच दुःख के कारण किशोरीलाल की आँखों में आँसू भर आये हैं।

इसके बाद फिर एक सन्नाटा-सा छा गया। किशोरीलाल चला गया। बिहारी भी अपने आवास की ओर चल दिया। किन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल होते-होते राजाराम ने कहा—जीजा जी, आप इलाहाबाद तब जाइये, जब यहाँ अपने लोगों का एक संगठन करके एक सहयोग-समिति बनवा दी जाय।

तब तो बिहारी प्रसन्नता से जैसे उछल पड़ा।

पैंतालीसवाँ अध्याय

वस्तुओं की क़ीमतों का पारस्परिक सम्बन्ध

आज रविवार का दिन है। इसलिये बिहारी के कमरे में उनके कई मित्र बैठे हुए बात-चीत कर रहे हैं। मोहन घर के अन्दर चाय बना रहा है। इधर पन्द्रह दिनों से पानी नहीं बरसा है। आसमान में बादल घिर आते हैं। कुछ बूँदें भी गिर जाती हैं। लोग सोचने लगते हैं, पानी बरसेगा। परन्तु फिर उनका यह अनुमान मिथ्या सिद्ध होता है। पानी न बरसने के कारण कभी-कभी जो ऊमस बहुत अधिक हो जाती है, तो लोग एक ओर बेचैनी का अनुभव करते हैं; दूसरी ओर लोगों का ध्यान खेती और फ़सल के अन्धकार की ओर भी आकृष्ट हो जाता है।

ज्ञानचन्द बोले—सारा आषाढ़ समाप्ति पर है और पानी का कहीं पता नहीं है। इसका मतलब तो स्पष्ट रूप से मुझे यही जान पड़ता है कि इस साल दुर्भिक्ष हुए बिना नहीं मानेगा।

वीरेश्वर जानता है कि ज्ञानचन्द अपने घर का मज़बूत आदमी है। अतएव उसने कह दिया—हो दुर्भिक्ष, आपको क्या? मरण तो हम लोगों का है, जो देहात पर निर्भर करते हैं।

इसी समय मोहन चाय लेकर आ पहुँचा। सबके आगे प्लेट और कप रखकर वह स्वयं एक ओर बैठ गया।

ज्ञानचन्द ने चाय का पहला घूँट पीते हुए कहा—कभी-कभी वीरेश्वर बाबू, तुम जब बिल्कुल बच्चों की-सी बातें करने लगते हो, तो मुझे तुम पर

बड़ा क्रोध आता है। अरे भले आदमी, अर्थशास्त्र की इतनी-सी बात तुम नहीं जानते हो कि वस्तुओं की क़ीमत में घटती-बढ़ती प्रायः एक साथ हुआ करती है। दुर्भिक्ष के कारण अगर अनाज मँहगा होगा, तो इसका प्रभाव अन्य वस्तुओं पर भी पड़ेगा।

वीरेश्वर ने आश्चर्य के साथ पूछा—सो कैसे हो सकता है? असल में मँहगा होगा गेहूँ, साथ में अन्य अनाज भी मँहगे हो सकते हैं। किन्तु साग-भाजी क्यों मँहगी होगी? आलू-कोंहड़ा क्यों मँहगा होगा?

बिहारी हँसने लगा। बोला—बस रहने दो, वीरेश्वर। अर्थशास्त्र न सही, किन्तु साधारण बुद्धि तो तुम में होनी चाहिए। अरे, इतना तो तुमको सोचना चाहिये कि जब पानी नहीं बरसता, तो केवल अनाज की पैदावार की ही कोई महान क्षति होती हो, सो बात नहीं है। साग-भाजी की उत्पत्ति भी उसी मात्रा में कम हो जाती है। और फिर साग-भाजी के लिये भी तो पानी की आवश्यकता होती है। उत्पत्ति का प्रभाव पूर्ति पर पड़ता है। पूर्ति जब कम होती है तो वस्तु की दर बढ़ ही जाती है।

इस समय मोहन को उस दिन की याद आ गयी जब वह चाचा के साथ बाज़ार गया था। सड़क के किनारे देहाती लोग अपनी-अपनी तरकारी की डलिया रक्खे बैठे हुये थे। एक से आलू का भाव पूछा। उसने उत्तर दिया—ले लीजिये साहब दो आने सेर।

चाचा ने कहा था—यह भी सोना-चाँदी है।

दूकानदार—अरे हजूर! सोना-चाँदी नहीं तो क्या हुआ। यहाँ बाज़ार में आठ सेर से ज़्यादा गेहूँ नहीं मिलता। तरकारी न मँहगी करी तो खाई कहाँ से। लीजिये, आप छः पैसे सेर में ही ले लें।

चाचा—छ नहीं पाँच में दो, तो सेर भर तौल दो। यही आलू तो पहले दो पैसे में भी मारा-मारा फिरता था।

दूकानदार—अब साहब, इससे कम नहीं मिल सकता। आप चाहे बाज़ार देख आवें।

चाचा—ऐसा!

दूकानदार—हाँ साहब, हम झूठ नहीं कहते। अगर बाज़ार में आपको कोई छः पैसे में भी देदे तो मैं आपको एक सेर आलू मुफ़्त में तौल दूँ।

चाचा—अच्छा, तो सेर भर आलू दे दो।

आलू लेकर और पैसे देकर वह चाचा के साथ आगे बढ़ गया था।

वीरेश्वर बोला—बात तो जान पड़ती है, तुम सही कहते हो। किन्तु यह एक विचित्र बात है कि अनाज तेज़ होने का असर तरकारी पर भी पड़ता है।

बिहारी—एक तरकारी क्या, सभी चीज़ पर पड़ता है। जब अनाज खाने वालों को अधिक दाम देने पड़ेंगे, तो वे सभी आय बढ़ाने की कोशिश करेंगे। मज़दूर अधिक मज़दूरी मांगेंगे, नौकरी पेशे वाले तनख्वाह बढ़वाना चाहेंगे और व्यापारी व हर तरह के दूकानदार भी अपने-अपने माल की क़ीमत बढ़ा देंगे।

वस्तुओं की क़ीमत में एक पारस्परिक सम्बन्ध भी रहता है। यदि गेहूँ की क़ीमत किसी कारण से बढ़ती है तो साथ ही चना, बाजरा, जव इत्यादि की क़ीमत भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत जब गेहूँ की क़ीमत कम होने लगती है, तो चना, बाजरा, जव इत्यादि की क़ीमत भी घट जाती है।

इसी समय मोहन के मन में एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ। उसने पूछा—परन्तु जब सोने-चाँदी की क़ीमत बढ़ती है, तब ?

मोहन के चाचा—तब अन्य वस्तुओं की क़ीमत सस्ती हो जाती है। बात यह है सोना-चाँदी तो विनिमय का माध्यम है। जब नोटों की क़ीमत कम हो जाती है, तो वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है।

मोहन—किन्तु कभी-कभी वस्तुओं की क़ीमत में स्वतंत्र रूप से भी परिवर्तन होते हैं।

चाचा चाय का कप ख़तम करते हुए बोले—वस्तुओं की क़ीमत में जो परिवर्तन स्वतंत्र रूप से होते हैं, उनका प्रभाव भी वस्तुओं की माँग और पूर्ति पर होता है। साथ ही वस्तु की माँग तथा पूर्ति में जो परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव उस वस्तु की क़ीमत पर ही नहीं पड़ता, वरन् अन्य वस्तुओं की क़ीमत पर भी पड़ता है।

ज्ञानचन्द—पर आजकल तो अपना देश संकटों से गुज़र रहा है। देश में जो वस्तुओं की क़ीमत बढ़ी हैं, उसका एक कारण ब्रिटेन-जर्मनी युद्ध है।

मोहन के चाचा—वस्तुओं की क़ीमतों में जो एक साथ उलट-फेर होते हैं, अर्थशास्त्र में उनके तीन कारण माने गये हैं। (१) रुपये-पैसे की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि, (२) युद्धकाल में वस्तुओं की उत्पति में कमी और (३) व्यवसायिक चक्र के द्वारा।

वीरेश्वर पूछ बैठा—रुपये-पैसे की अत्यधिक वृद्धि से आप का क्या मतलब है? क्या उससे कोई हानि-लाभ भी होता है?

मोहन के चाचा—यह वृद्धि विशेषतः नोटों के प्रचार से हो जाती है! रुपये-पैसे की मात्रा के बढ़ जाने से सब वस्तुओं की क़ीमतें बढ़ती हैं। पर सब की एकसी नहीं बढ़तीं। इससे माँग में जो परिवर्तन होता है उसका प्रभाव पूर्ति पर पड़ता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। क़ीमत बढ़ने से उत्पादकों को लाभ होता है, किन्तु उपभोक्ताओं को हानि होती है।

ज्ञानचन्द—किन्तु क़र्ज़दारों तथा व्यापारियों को लाभ होता है।

मोहन—और महायुद्ध के समय में वस्तुओं की क़ीमतों में उलट-फेर होने का क्या परिणाम होता है?

चाचा—महायुद्ध के कारण कुछ आवश्यक वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। मज़दूरों की संख्या घटती जाती है, मज़दूरी बढ़ती जाती है, साथ ही वस्तुओं की क़ीमत भी बढ़ती है। बाज़ार में नोटों की प्रधानता हो जाती है, वस्तुओं की क़ीमत पुनः बढ़ती है। यहाँ तक कि महायुद्ध के बाद भी बढ़ती रहती है। तभी तो सरकार को वस्तुओं की क़ीमतों पर नियंत्रण करने की आवश्यकता पड़ जाती है।

वीरेश्वर—किन्तु अभी यह स्पष्ट नहीं हुआ कि सरकार को वस्तुओं के मूल्य पर नियंत्रण करने की आवश्यकता क्यों पड़ जाती है?

वीरेश्वर के अज्ञान पर मुसकराते हुए बिहारी ने कहा—सरकार ऐसे समय यदि वस्तुओं के मूल्य पर नियंत्रण न करे, तो देशभर में मार-काट और

लूटमार जारी हो जाय। याद है, लड़ाई आरम्भ होने के बाद ही कितनी दूकानें लुट गयीं ?

मोहन—कौन लूटता होगा, चाचा ?

चाचा—ग़रीब बेचारे—मज़दूर, राज, मिल के नौकर। मिलों के मालिक जब मज़दूरी नहीं बढ़ाते तो हड़ताल कर दी जाती है। यदि हड़ताल कुछ दिन में सफल न हुई तो हड़ताल करनेवाले मज़दूर भूखों मरने लगते हैं। मरता क्या न करता ? भूखों मरनेवाले ही दूकानों पर हमला करके खाने-पीने का सामान लूट ले जाते हैं।

मोहन—इसके अलावा चोर-डाकू भी बढ़ जाते होंगे।

चाचा—क्यों नहीं ? लोगों को ख़र्च करने के लिए अधिक पैसों की आवश्यकता होती है। अतः वे चोरी-डाका करना भी आरम्भ कर देते हैं।

मोहन—यदि सरकार ऐसे समय में अपनी दूकानें खोल दे और सस्ते दाम पर खाद्य पदार्थ बेचे, तो ये सब बातें न हो।

चाचा—सरकारी दूकानें भी खोली जाती हैं। इसके अलावा अधिक मँहगी होने पर सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह स्वयं मिल या फ़ैक्टरी खोलकर मँहगी वस्तुओं को तैयार करे।

मोहन—या वह लोगों को धन से सहायता दे और उन्हें ऐसी मिलें व कारख़ाने खोलने के लिए उत्साहित करे।

चाचा—सरकार यह भी कर सकती है। यदि अकाल जैसे किसी कारण से क़ीमतों का नियंत्रण होता है तो दूसरी बात है वरना युद्ध के कारण नियंत्रण में तो सरकार बहुत-सी बाहर से आनेवाली वस्तुओं को भी देश के अंदर बनवा सकती है। यह देश के उद्योग-धंधों की उन्नति करने का स्वर्ण-अवसर होता है। इस लड़ाई के कारण यदि हमारी सरकार चाहे तो यहाँ कतिपय दवाइयाँ, कागज़, इंजन, मोटर आदि तैयार करने के कार-ख़ाने खुल सकते हैं।

इसी समय मोहन पान ले आया।

पान खाते हुए ज्ञानचन्द ने कहा—किन्तु वस्तुओं के मूल्य पर नियंत्रण सरकार को यों भी करना पड़ता है।

मोहन के चाचा—जब व्यापारी लोग उपभोक्ताओं से उचित से अधिक दाम वसूल करते हैं, तब। और ऐसा प्रायः तभी होता है, जब कई कम्पनियाँ मिलकर एक बन जातीं और व्यवसाय पर एकाधिकार स्थापित करना चाहती हैं। उस दशा में सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे कि वस्तुओं की क़ीमत कम रहे।

मोहन—लागत-से-भी कम।

चाचा—नहीं, नहीं, कम-से-कम लागत के बराबर अवश्य हो।

मोहन—यह समस्या तो सरकार के समक्ष सदैव बनी रहती होगी।

चाचा—हाँ, पर जब देश में शांति रहती है तब भारत में तो इस बात पर बहुत कम ध्यान रहता है। पर जब देश किसी युद्ध में फँस जाता है अथवा जब दो राष्ट्रों के मध्य आरम्भ होनेवाले युद्ध के कारण उस देश के आयात-निर्यात के पदार्थों में काफ़ी परिवर्तन उपस्थित हो जाता है तब यह समस्या अधिक गम्भीर हो जाती है।

मोहन—अच्छा, तो युद्ध के कारण आयात-निर्यात में कैसे परिवर्तन होते हैं?

चाचा—आजकल अंग्रेज़ और जर्मनों के मध्य युद्ध चल रहा है। इस कारण समुद्र पर जहाज़ों का चलना कम हो गया है। किराये बढ़ गये हैं, माल आना कम हो गया है। जर्मनी से आनेवाली दवाइयाँ और रंग तो बिल्कुल बंद हो गये हैं।

मोहन—रंग वग़ैरह का आना बंद हो जाने के कारण ये वस्तुएँ मँहगी हो गई होंगी।

ज्ञानचन्द—मँहगी तो होंगी ही। समस्या तो यह है कि जिनके पास माल था वे सबसे अधिक लाभ उठाने के लिए दुगने-चौगुने दाम माँगने लगे।

मोहन—जब माल आना कम हो गया तो माल जाना भी कम हो गया होगा।

चाच—हाँ, वह माल, जो जर्मनी जाता था, बिल्कुल बंद है। पर हमारे माल तो अधिकतर इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, ब्रेजिल, अमरीका, न्यूज़ीलैण्ड, इजिप्ट आदि देशों में जाते थे। कुछ किराये-भाड़े की वजह से और कुछ

ब्रिटिश सरकार की अधिक माँग के कारण हमारे निर्यात में काफ़ी अन्तर हुआ है। ब्रिटिश सरकार यहाँ से सेना के लिए अनाज कपड़ा वग़ैरह ख़रीदती है। अतः गेहूँ, चावल, चना आदि अनाज मँहगे हो रहे हैं।

मोहन—दूकानदार माल बेचना भी तो बंद कर सकते हैं।

चाचा—क्यों नहीं, जब लड़ाई छिड़ी थी तो बहुत से दूकानदारों ने—जैसे लोहेवाले, अनाजवाले तथा तेलवाले—माल बेचना सचमुच बंद कर दिया था। उनके ऐसा करने से दाम और चढ़ गये।

मोहन—क्यों ?

चाचा—लोगों को जिस चीज़ की ज़रूरत है वह यदि नहीं मिलेगी तो वे उसके लिए अधिक दाम देने को तैयार हो ही जायेंगे। फिर ऐसे समय इस कारण दाम और बढ़ जाते हैं कि लोगों की माँग बढ़ जाती है।

मोहन—ऐसा क्यों होता है ?

चाचा—जिसने सुना कि अमुक वस्तु की क़ीमत बढ़ रही है वही उसे अधिक मात्रा में ख़रीदने दौड़ पड़ा। बस माँग दुगनी-तिगुनी हो गई। और यह तो तुम जानते ही हो कि माँग बढ़ने से क़ीमत बढ़ जाती है।

मोहन—पर चीज़ें तो अनगिनती होती हैं। सरकार किन-किन का भाव निश्चित करती होगी ?

चाचा—सरकार सब वस्तुओं का भाव थोड़े ही निश्चित करती है। वह तो ख़ास-ख़ास जीवन की आवश्यक वस्तुओं की क़ीमत स्वयं एलान कर देती है।

मोहन—आवश्यक वस्तुएँ जैसे गेहूँ, जौ, चना आदि।

चाचा—हाँ, गेहूँ, जौ, चना, अरहर की दाल, मूँग की दाल। यही नहीं, मिट्टी का तेल, साबुन आदि की भी गणना अब तो आवश्यक वस्तुओं में होने लगी है। अतएव सरकार इनका भाव भी निश्चित कर देती है।

मोहन—अच्छा चाचा, भारत जैसे बड़े देश में किस प्रकार भाव का निश्चय किया जाता है ?

चाचा—यहाँ केन्द्रीय और प्रांतीय सरकार क़ीमतों का मूल्य नियंत्रण नहीं करती। वे ज़िले के अफ़सरों और कलक्टरों को यह अधिकार दे देती हैं कि वे अपने-अपने हल्क़ों में उचित भाव का प्रबन्ध करें। कलक्टर को यह अधिकार मिल जाने पर वह पहले के बाज़ार-भाव का पता लगाकर अपने भावों की घोषणा करा देता है। पुलिसवालों से वह इस बात की ख़बर लगाता रहता है कि सब दूकानदार एलान किये दामों पर वस्तुओं की बिक्री करते हैं या नहीं।

वीरेश्वर—यदि कोई न बेचे या कोई किसी मुहल्ले में कोई वस्तु तेज़ दामों में बेच दे, तो किसी को क्या पता चल सकता है?

चाचा—खैर, ऐसा तो अक्सर होता है। परन्तु यदि तुम्हें कोई वस्तु कोई दूकानदार एलान से अधिक दामों से दे और तुम इस बात की सूचना सबूत के साथ पुलिस को दो, तो उस दूकानदार को दंड मिलेगा। परन्तु तब भी लुका-छिपी से वस्तुएं मँहगी बिकती ही रही हैं। मैं ही कई बार उन दिनों गेहूँ ला चुका। खाने योग्य अच्छा गेहूँ आठ-सवा-आठ सेर में लाता था, हालाँकि नम्बर एक माल का सरकारी भाव नौ सेर फ़ी रुपये का था। ऐसे अवसरों पर दूकानदार किसी प्रकार की रसीद तो देते नहीं। पर केवल मूल्य निश्चित करने से काम ख़त्म नहीं हो जाता। यह पता लगाना ज़रूरी होता है कि किस वस्तु की क़ीमत अब कितनी घटानी और बढ़ानी चहिए।

मोहन—यह कैसे होता है?

चाचा—इस हेतु प्रांतीय तथा केन्द्रीय सरकार के अफ़सर उत्पत्ति व भाव के आँकड़े इकट्ठे करते हैं और लोगों के रहन-सहन के व्यय का पता लगाते हैं। इसका एक अलग महकमा-सा ही खुल जाता है। समय-समय पर प्रांतीय अफ़सरों की बैठक होती रहती है जिसमें वे क़ीमतों के नियंत्रण सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार करते हैं। उनका ध्येय यह होता है कि वस्तुओं की क़ीमतों में उचित तथा अनिवार्य्य वृद्धि न रोकी जाय पर अनुचित वृद्धि करने की प्रवृत्ति का दमन हो।

मोहन—उचित वृद्धि कैसे होती है?

चाचा—जैसे आजकल जर्मन पनडुब्बियों के डर से समुद्र पर जहाज़ों के चलाने में जोखिम बढ़ गई है। इस कारण भाड़े के बढ़ जाने से निर्यात माल की क़ीमत में कुछ वृद्धि होनी ही चाहिए। यह बढ़ती बढ़े ख़र्च के अनुपात में हो सकती है। यदि इसकी जगह कोई व्यक्ति क़ीमत दुगनी कर दे तो उसका यह कार्य सर्वथा अनुचित और दण्डनीय होगा।

मुसकराते हुए ज्ञानचन्द ने कहा—आज तो मोहन अर्थशास्त्र की गहराई में पहुँच रहा है। हाँ हाँ, चुप क्यों हो रहे, आगे बढ़ो। एक बात जो छूट रही है, उसे भी पूरा कर लो। हाँ, तो अब यह भी बतलाइये बिहारी बाबू कि वस्तुओं की क़ीमतों की घटती-बढ़ती का व्यावसायिक चक्र से क्या सम्बन्ध रहता है?

बिहारी—यह व्यावसायिक चक्र प्रायः सात वर्ष में पूरा होता है। फ़सलें अच्छी होती हैं, उद्योग-धंधों में भी उन्नति होती है। वस्तुओं की माँग बढ़ती है, क़ीमतें भी बढ़ती हैं। माल की उत्पत्ति बहुत अधिक बढ़ने से व्यवसायी लोग स्टाक जमा कर लेते हैं। तब वस्तुओं की क़ीमतें गिरने लगती हैं। यदि उस समय फ़सल अच्छी हो गई, तो वस्तुओं की क़ीमत और भी गिर जाती हैं। फलतः सभी वस्तुओं की क़ीमतें गिर जाती हैं और तब फिर देश में एक बार आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है। फिर कुछ समय बाद उद्योग-धंधों की उन्नति होने लगती है और वस्तुओं की क़ीमतें बढ़ती है।

ज्ञानचन्द बोले—ख़ूब! इस वार्तालाप को आपने समाप्त बहुत अच्छी जगह किया बिहारी बाबू! वस्तुओं की क़ीमत के अत्यधिक बढ़ने से भी आर्थिक हलचल और अत्यधिक घटने से भी। और इसी को मर्यादित करता है, अर्थशास्त्र। लेकिन और तो सभी को चाय पिलायी मोहन, सिर्फ़ एक व्यक्ति के साथ बहुत अन्याय किया।

मोहन आश्चर्य्य के साथ ज्ञानचन्द की ओर देखने लगा।

तब ज्ञानचन्द ने कहा—उस व्यक्ति का नाम है मोहन।

और मोहन ने लजाकर जैसे अपना सिर नीचे कर लिया और कहा—मैं चाय नहीं पीता। मुझे आदत नहीं है।

बिहारी ने कह दिया—हमारे यहाँ कुछ संस्कार ऐसे चले आ रहे हैं कि बच्चों को चाय पीने की आदत पड़ने नहीं दी जाती।

ज्ञानचन्द—यद्यपि मोहन अब वैसा छोटा बच्चा नहीं है, तो भी मैं इसे अच्छा ही समझता हूँ।

छियालीसवाँ अध्याय

वस्तुओं की क़ीमत

एकाधिकार में

संध्या का समय था। दफ़्तर से लौटकर विहारी बाबू अपनी बैठक में आरामकुर्सी पर लेटे हुए थकावट मिटा रहे थे। वहीं अलग एक कुर्सी पर मोहन भी बैठा हुआ था। भोजन तैयार होने में अभी कई घंटे की देर थी। इसी कारण मोहन के चाचा ने कहा—जाओ, अब तो बन गया होगा।

मोहन तब अन्दर जाकर दो तश्तरियों में गरम समोसे ले आया। जल-पान करते हुए चाचा ने कहा—आज कहीं चलोगे ?

मोहन—आज बाज़ार चलिये। रोज़ तो पार्क की सैर करते हैं, चलिये आज बाज़ार की सैर करें। बहुत दिन से उधर गये भी नहीं हैं।

चाचा—बाज़ार ! अच्छा, अपनी चाची से पूछ आओ, कोई चीज़ तो नहीं मँगानी है।

मोहन की चाची ऊपर थी। मोहन उसके पास जाकर बोला—चाची, बाज़ार से कोई चीज़ तो नहीं मँगानी है ?

चाची—क्यों ? क्या बाज़ार जा रहा है ?

मोहन—हाँ, चाचा ने पूछा है कि क्या लाना है।

चाची—नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिये।

मोहन को बाज़ार जाने की कुछ ऐसी उमंग सवार हो गई कि उसे चाची की यह बात अच्छी नहीं लगी। वह बोला—

चाचा ने कहा है कि जल-पान कर ही चुके हैं। चलो पहले बाज़ार तक घूम आवें, तब तक भोजन भी बन जायगा। तभी आकर खायेंगे।

चाची—अच्छा तो जल्दी आना।

मोहन लौटकर चाचा से बोला—कुछ नहीं चाहिये।

और झटपट अपना जूता पहन आया। इधर बिहारी बाबू मोहन के साथ घर से चलने को हुए, उधर बाहर से उनके बच्चों का झुंड खेलता हुआ आ पहुँचा।

'बाबू, कहाँ जा रहे हो?' 'हम भी चलेंगे' 'हम भी घूमने चलेंगे' की आवाज़ के साथ उन्होंने उनके कुरते को पकड़ लिया। इतने में अंदर से आवाज़ आयी—

"अरे मोहन, सुन तो, एक बात कहना भूल ही गई।"

मोहन के चाचा—देख मोहन, तेरी चाची क्या कह रही है। फिर वे बच्चों से बोले—तुम कहाँ चलोगे! मैं एक ज़रूरी काम से जा रहा हूँ। अभी थोड़ी देर में आता हूँ। तुम लोग तब तक चलकर खाना खाओ।

"नहीं, नहीं, हम भी चलेंगे" कहकर तीनों बालक चिल्ला उठे।

इतने में मोहन लौट आया। उसके हाथ में पाँच रुपये का नोट था। उसे चाचा को देते हुए वह बोला—

चाची ने कहा है कि बग़लवाली को मलेरिया का बुख़ार बार-बार चढ़ आता है। डाक्टर ने एक बार उन्हें एटेबेरिन की गोलियाँ बताई थीं। वही पंद्रह गोलियाँ लाने को कहा है। पहले तीन रुपये की आई थी।

इतने में बच्चे बोल उठे—ऊँ-ऊँ तुम बाज़ार जा रहे हो। हम भी बाज़ार चलेंगे।

चाचा—अरे! मैं तो काम से जा रहा हूँ। उधर से तुम्हारे लिए मिठाई लेता आऊँगा। तुम सब चलो, मैं अभी आता हूँ।

बच्चे—तो मोहन भैया कहाँ जा रहे हैं?

चाचा—मोहन को भी काम है।

इस प्रकार बच्चों को दम-दिलासा देकर चाचा-भतीजे बाज़ार की ओर चल दिये।

चाचा—मोहन, चलो पहले एटेवेरिन ख़रीद लें।

मोहन—चलिये।

सामने किंग कम्पनी की दूकान थी। दोनों उसमें चले गये। एटेवेरिन का दाम पूछा, तो उत्तर मिला कि पौने चार रुपये की पंद्रह गोलियाँ मिलेंगी।

चाचा—पौने चार रुपये की! अभी उस दिन तो तीन रुपये की मेरे यहाँ गई हैं! यह भी सोना-चाँदी है कि आये दिन भाव घटता-बढ़ता रहता है?

किंग कम्पनी का कम्पाउंडर बोला—साहब, यह दवा जर्मनी की बनी हुई है। और जर्मनी का माल आना अब बिल्कुल बंद हो गया है। जिसके पास जो कुछ है उसका वह ज़्यादा दाम तो लेगा ही। फिर मैं तो आपसे वही दाम माँग रहा हूँ, जो बम्बई में चालू है।

चाचा—तो इतने ज़्यादा दाम लीजिएगा?

कम्पाउंडर—अरे इलाहाबाद भर में किसी के पास यह दवाई है ही नहीं। मुझे तो आप से और ज़्यादा कहना चाहिये था; पर अब जो कह दिया, सो कह दिया। आप दवा लेते जाइये और तमाम बाज़ार घूम लीजिये। अगर यह दवा कहीं मिल भी जाय तो मैं आपको दाम लौटा दूँगा।

चाचा—ऐसा है, तब तो एकाधिकार का मामला है। जब आप ही के पास यह दवा है तो आप जो दाम कहियेगा, देना पड़ेगा। पौने चार छोड़ आप पाँच भी माँगिये तो जिसे गरज़ होगी, ले जायगा।

कम्पाउंडर—हाँ साहब, ग़रज़ तो बावली होती ही है। पर मैं आप से ज़्यादा नहीं ले रहा हूँ। अगर मैं चाहूँ तो इसी को एक रुपये फ़ी गोली बेच सकता हूँ। मलेरिया के पुराने मरीज़ झख मारकर ले जायेंगे।

चाचा—ख़ैर, यह लीजिये पाँच का नोट। पंद्रह गोलियाँ दे दीजिये और सवा रुपये।

गोलियाँ लेकर जब बिहारी बाबू दूकान से बाहर हुए तो मोहन ने पूछा—यह एकाधिकार का क्या मामला है?

चाचा—एकाधिकार के मतलब होते हैं किसी वस्तु की पूर्त्ति पर केवल एक का ही अधिकार होना। अर्थशास्त्र में एकाधिकार के अंतर्गत उस वस्तु

के विनिमय का विवेचन किया जाता है जिसे तैयार करने में केवल एक व्यक्ति या संस्था का हाथ होता है।

मोहन—तब तो अधिकतर सभी वस्तुएँ एकाधिकार के अन्तर्गत आ जायँगी। कैंची सिगरेट कोई दूसरी कम्पनी नहीं बनाती। पनामा ब्लेड भी केवल जर्मनी से आता है। यही हाल गोल्डफ़्लैक सिगरेट और नेसेट ब्लेड का है।

चाचा—ठीक, पर एकाधिकार तो उसी समय माना जाता है जब किसी वस्तु की जगह और कोई वस्तु काम में न आ सके। अर्थात् जिस वस्तु के अलावा अन्य उपयोग्य वस्तुएँ ही न हो।

मोहन—पर ऐसा तो शायद ही कभी होता हो।

चाचा—पूर्ण एकाधिकार तो आदर्शमात्र है। एटेवेरिन को ही ले लो। इलाहाबाद में इस मामले में किंग कम्पनी को इस समय एकाधिकार है; परन्तु एक निश्चित क़ीमत तक ही। यदि किंग कम्पनी बहुत अधिक क़ीमत माँगे, तो मरीज़ लोग डाक्टरों को इस बात की सूचना देंगे। और तब वे उन्हें कोई दूसरी दवाई लेने को कहेंगे।

मोहन—तब फिर अर्थशास्त्र में एकाधिकार का अधिक महत्व नहीं होगा?

चाचा—वाह! पूर्ण एकाधिकार न होने से क्या? हो सकता है कि कोई व्यक्ति या संस्था किसी वस्तु को इतना अधिक तैयार करती हो कि उसकी पूर्ति का असर बाज़ार-भाव पर काफ़ी पड़ता हो। ऐसी हालत में उस व्यक्ति या संस्था का लगभग पूर्ण एकाधिकार होगा।

मोहन—पर ऐसा अधूरा एकाधिकार भी बहुत कम होता होगा।

चाचा—नहीं, अपूर्ण एकाधिकार तो अनेक जगह फैला हुआ है। टाटा कम्पनी को भारतीय लोहे पर एकाधिकार है। जर्मनी की बेयर कम्पनी की दवाइयाँ तमाम दुनिया में प्रसिद्ध थीं। उनकी उत्तमता के कारण उस कम्पनी को दवाइयों में एकाधिकार था। यही कारण है कि जर्मन माल रुक जाने के कारण एटेवेरिन, केम्पोज़न आदि दवाइयों की जगह कोई अन्य दवाई नहीं मिलती।

अर्थशास्त्र के अंतर्गत पूर्ण एकाधिकार पर विचार किया जाता है; क्योंकि इसके निष्कर्ष अपूर्ण एकाधिकार के सम्बन्ध में भी क़रीब-क़रीब लागू होते हैं।

मोहन—पर चाचा, यहाँ म्युनिसिपैलिटी को पानी पर एकाधिकार है, सरकार का डाकख़ाने पर एकाधिकार है।

चाचा—ठीक, पर यह एक भिन्न प्रकार का एकाधिकार है। अर्थशास्त्री जब साधारणतः एकाधिकार की बात करता है तो उसका मतलब जन-साधारण अथवा सार्वजनिक संस्था के एकाधिकार से होता है, न कि राज्य के एकाधिकार से।

मोहन—दोनों में भिन्नता क्या है?

चाचा—सरकार एकाधिकार करके ऊँचे दाम नहीं वसूल करती। अक्सर वह ऐसी वस्तुओं को दाम-के-दाम पर बेचती है। और कभी-कभी तो घाटे पर भी।

मोहन—तब सरकार ऐसा काम क्यों करती है जिससे हानि की ही सम्भावना रहती है?

चाचा—सरकारी एकाधिकार तथा साधारण एकाधिकार की उत्पत्ति तो एक ही प्रकार के कारणों से होती है। जिन की चर्चा यहाँ की गयी है। बहुधा बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करने से उत्पादन-व्यय घट जाता है और फलतः क़ीमत कम ली जाती है।

मोहन—पर यह तो दूसरों को समझाने की बातें हैं।

चाचा—सुनो तो। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए अधिक रुपया लगाना पड़ता है। साधारण प्रतिद्वंद्वियों के पास इतनी रक़म तो रहती नहीं। एकाधिकार प्राप्त करने के पश्चात् एकाधिकारी ऐसी क़ीमत लेता है जिससे उसका मुनाफ़ा अधिकतम हो। परन्तु सरकार ऐसी वस्तुओं का एकाधिकार लेती है जिन्हें अन्य कोई संस्था उचित क्षमता से नहीं तैयार कर सकती। बात यह है कि सरकार तो जनता का पालन-पोषण या देख-भाल करनेवाली संस्था है। उसका लाभ जनता का लाभ है। अतएव यदि वह लाभ ले भी रही हो, तो अन्त में उसे उस लाभ को जनता में ही बाँट देना पड़ेगा। इसलिये वह ऐसी वस्तुओं को अधिकतर लागत-मात्र पर बेचती है।

मोहन—जिस प्रकार अधिक क़ीमत ले लेने पर सरकार को लाभ की रक़म जनता में पुनः बाँटने का कष्ट उठाना पड़ेगा, उसी प्रकार यदि वह कम दाम लेगी तो उसे बाद में जनता से बाद में दाम वसूल करना पड़ेगा। इसीलिये कम दाम भी लेना ठीक नहीं।

चाचा—ठीक, पर जब कभी दाम कम होने के कारण सरकार को घाटा होता है तो उसकी नीति उस घाटे की पूर्ति अमीरों से कराने की होती है।

मोहन—क्यों ?

चाचा—क्योंकि अमीरों के पास रुपये की इतनी अधिकता रहती है कि उनके लिये उसका इतना महत्व नहीं होता जितना ग़रीब के लिये। पर यह बात मैं फिर कभी सरकारी आय-व्यय के विषय में बताते समय खुलकर बताऊँगा।

मोहन—और इस समय ?

चाचा—वाह, क्या तुम यह नहीं जानना चाहते कि एकाधिकारी किस प्रकार अपनी वस्तु का मूल्य निश्चित करता है ?

मोहन—ज़रूर। पर आपने तो कहा कि वह ऐसी क़ीमत लेता है जिससे उसका लाभ अधिक-से-अधिक हो।

चाचा—ठीक। पर लाभ से तुम क्या समझते हो ?

मोहन—वस्तुओं के बेचने से जो रक़म आती है उसमें से समूचे उत्पादन-व्यय को घटा देने से लाभ निकल आता है।

चाचा—ठीक। एकाधिकारी इसी प्रकार के लाभ को अधिकतम बनाता है।

मोहन—पर वह यह कैसे पता लगाता होगा कि अमुक मूल्य पर मेरा लाभ अधिकतम होगा ?

चाचा—यह तो तुम मानोगे ही कि एकाधिकारी को बाज़ार की हालत मालूम रहती है। अतः तुम यह कह सकते हो कि उसे माँग की सारिणी ज्ञात रहती है। तभी वह एकाधिकारी अपनी वस्तु को उसी मात्रा में उत्पन्न करता है, जिससे सीमान्त-लागत व सीमान्त क़ीमत बराबर हों।

मोहन—इस तरह बातें करते हुए दोनों घर लौट आये।

मोहन ने पूछा—क्या इस सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त भी निश्चित रहता है ?

चाचा—क्यों नहीं ? एकाधिकारी का उद्देश्य उत्पत्ति से अधिकाधिक लाभ करना होता है, न कि वस्तुओं को अधिक मात्रा में उत्पन्न करना। जब वह देखता है कि अब उत्पत्ति पर लाभ की मात्रा घट रही है, तब वह उत्पादन बन्द कर देता है।

मोहन—मान लीजिये कि कोई बिजली की कम्पनी है। नगर भर में उसे एकाधिकार प्राप्त है। अब उसे किस प्रकार यह मालूम हो सकता है कि प्रतिदिन अमुक परिमाण में उसे बिजली उत्पन्न करनी चाहिए ?

चाचा—कम्पनी का प्रबन्धकर्ता उस दशा में यह पता लगाएगा कि विभिन्न मात्राओं में बिजली की उत्पत्ति पर प्रति यूनिट (इकाई) लागत खर्च क्या पड़ेगा ? साथ ही वह यह भी जानने की चेष्टा करेगा कि विभिन्न क़ीमतों पर किस मात्रा में बिजली माँगी जायगी। (एक पुस्तक उठाकर), धन की उत्पत्ति, नामक इस पुस्तक में इस विषय की एक तालिका दी हुई है। देखो वह नीचे लिखे अनुसार है—

प्रति दिन बिजली की उत्पत्ति हज़ार यूनिट में	लागत-खर्च प्रति यूनिट	क़ीमत प्रति यूनिट (जिस पर सब परिमाण माँगा जायगा)	एकाधिकार का लाभ प्रति दिन प्रति हज़ार आने
१	।=)	॥)	२
२	।-)	।=)	२
३	।)	।-)	३
४	≡)	।)	४
५	=)॥।	≡)॥।	५
६	=)	≡)	६
७	-)॥	=)।	४ ३/११
८	-)	-)॥।	४
९	-)।	-)।	कुछ लाभ नहीं
१०	-)॥।	-)	हानि

इस तालिका को ध्यान से देखो तो तुम्हें मालूम होगा कि इस कम्पनी को सर्वाधिक लाभ तब होगा, जब वह ६ हज़ार यूनिट बिजली प्रति दिन उत्पन्न करे। उसे तब ६ हज़ार आने प्रति दिन लाभ होगा। जब वह ७ हज़ार यूनिट उत्पन्न करेगी, तब उसका लाभ कम होने लगेगा। इसीलिए वह ६ हज़ार यूनिट ही प्रति दिन उत्पन्न करेगी। इसके आगे वह उत्पत्ति बढ़ाने का प्रयत्न न करेगी। इसके सिवा यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार कम्पनी को तो सर्वाधिक लाभ प्राप्त हो जायगा, किन्तु उपभोक्ताओं को क्रमागत वृद्धि नियम के फलस्वरूप लागत-ख़र्च में कमी पड़ने का पूरा लाभ न मिल सकेगा। बात यह है कि जब कम्पनी आठ हज़ार यूनिट बिजली प्रति दिन बनाना स्वीकार करे, तभी उसका लागत-ख़र्च सब से कम होगा। परन्तु उस दशा में उसका दैनिक लाभ चार हज़ार आना ही होगा। इसीलिए कम्पनी ६ हज़ार यूनिट उत्पन्न करके ६ हज़ार आना प्रतिदिन लाभ उठाना चाहेगी और उपभोक्ताओं को जो कम लाभ मिलेगा, उसकी चिन्ता न करेगी।

मोहन—परन्तु कोई भी उपाय क्या ऐसा नहीं हो सकता कि उपभोक्ताओं को इस कम्पनी का पूरा लाभ प्राप्त हो सके ?

चाचा—क्यों नहीं ? सरकार अथवा म्युनिसिपैलिटी, जिसने उस कम्पनी को बिजली सप्लाई करने का अधिकार दे रक्खा है, चाहे तो एग्रीमेंट के समय यह शर्त भी लगा सकती है कि कम्पनी उस नगर की सीमा के अन्दर =) प्रति यूनिट से अधिक दाम न ले सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि कम्पनी को आठ हज़ार यूनिट बिजली प्रतिदिन उत्पन्न करके उसे -)॥ प्रति यूनिट की दर से बेचना पड़ेगा। इस प्रकार इधर उपभोक्ताओं को -)॥ प्रति यूनिट पर बिजली मिलेगी, उधर कम्पनी को भी चार हज़ार आना प्रति दिन का लाभ होगा।

मोहन—परन्तु सरकार अथवा म्युनिसिपैलिटी प्रति यूनिट क़ीमत -)॥ से घटाकर -)। ही कर दे, तो क्या हो ?

चाचा—तब कम्पनी बिजली सप्लाई करने का ठेका ही न लेगी।

मोहन—तब तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि एकाधिकार पर जब नियंत्रण नहीं किया जाता, तभी उपभोक्ताओं को हानि होती है।

चाचा—बिल्कुल यही बात है। पर कभी-कभी एकाधिकारी एक ही माल को कई क़ीमतों से बेचता है।

मोहन—यह कैसे? ऐसा करने से तो उसका मुनाफ़ा अधिक नहीं होता होगा।

चाचा—मुनाफ़ा अधिकतम करना तो उसका ध्येय सदैव रहता ही है। कभी-कभी उसके ग्राहक दो या अधिक भागों में बँटे होते हैं। दोनों वर्ग एक स्थिति में नहीं होते। हो सकता है कि एक में अमीर हों, दूसरे में ग़रीब। यह भी हो सकता है कि एक भारत में हों, तो दूसरे विलायत में। प्रायः डाक्टर अमीरों से अधिक फ़ीस लेते हैं और ग़रीबों से कम।

पर एकाधिकारी यदि दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर दो भिन्न-भिन्न क़ीमत लेता है तो एक बात का ख़्याल रखता है। दोनों क़ीमतों का अंतर एक जगह से दूसरी जगह माल लेजाने के भाड़े से कम होता है। फिर माल के एक जगह से दूसरी जगह जाने का डर नहीं रहता।

मोहन—अगर वह इलाहाबाद और कलकत्ता में दो दर से माल बेचता है तो माल कलकत्ते से इलाहाबाद आ सकता है या यहाँ से कलकत्ते जा सकता है। यह भी संभव है कि दोनों ओर के किराये एक से न हों। तब वह किस किराये को ध्यान में रखेगा?

चाचा—पर माल तो उसी जगह जा सकता है जहाँ क़ीमत अधिक है। उत्पादक तो केवल कम क़ीमतवाली जगह से अधिक क़ीमतवाली जगह माल ले जाने के किराये को ध्यान में रखेगा।

मोहन—ठीक तो है। पर चाचाजी, ऐसी हालत में एकाधिकारी किस प्रकार क़ीमतें निश्चित करता होगा?

चाचा—मैंने तुम्हें बताया न, कि व्यापारी को माँग की दशा मालूम रहती है। बस जैसी तालिका मैंने अभी दिखाई थी इसी प्रकार की तालिका द्वारा वह पता लगा लेगा कि किन क़ीमतों पर दोनों जगह का मिश्रित मुनाफ़ा अधिकतम होगा। और यह आसानी से समझलेने की बात है कि यदि वह प्रत्येक स्थान से अधिकतम मुनाफ़ा उठावे तो उसका मिश्रित मुनाफ़ा भी अधिकतम होगा।

मोहन--ठीक। पर इसके मतलब तो यह हुए कि एकाधिकारी ख़रीदारों से अधिक से अधिक पैसा लेना चाहता है।

चाचा—इसमें क्या शक ? तभी तो सरकार एकाधिकारियों को तोड़ने के फेर में लगी रहती है। अमरीका में भाँति-भाँति के क़ानून हैं, जिनके कारण भिन्न-भिन्न कम्पनियाँ मिलकर एक नहीं हो सकतीं।

मोहन – ऐसे क़ानून से क्या लाभ ?

चाचा—उनके अलग रहने से उनमें आपस में लाग-डाँट बनी रहती है। अतः क़ीमत कम रहती है। यदि वे सब मिलकर एक हो जायँ तो वह ग्राहक से मनमानी क़ीमत वसूल कर सकती हैं।

मोहन—इससे तो अच्छा यह है कि ऐसे कामों को सरकार स्वयं अपने हाथ में ले ले। इस तरह उसे बड़ा झंझट भी उठाना पड़ता होगा।

चाचा—कभी कभी सरकार ऐसा भी कर बैठती है। पर अधिकतर वह गुट्ट-बन्दी तोड़ने के क़ानून बनाती है। इसके अलावा सरकार एकाधिकार में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की क़ीमत का नियंत्रण भी करती है।

मोहन—सो किस तरह ?

चाचा—रेल के भाड़े की सीमा सरकार ही तै करती है। कोई रेलवे कम्पनी उससे अधिक भाड़ा नहीं ले सकती। पाठ्यपुस्तकें स्वीकृत हो जाने पर प्रकाशक को एकाधिकार की प्राप्ति हो जाती है। तुम्हारी पाठ्यपुस्तकों का मूल्य जो पुस्तकों पर छपा है वह सरकार द्वारा ही निश्चित किया गया है। शुरू-शुरू में जब ये पुस्तकें विचारार्थ निर्णायक कमेटियों के सामने गयी होंगी, तब संभव है, इनमें से कुछ पुस्तकों की क़ीमत कुछ अधिक भी रक्खी गई हो। बात यह है कि पुस्तक स्वीकार करते समय कमेटी प्रायः मूल्य में परिवर्तन कर देती है। सरकार इस परिवर्तन को स्वीकार कर लेती है।

मोहन—अच्छा, ये इक्के ताँगे-वाले बड़ा तंग करते हैं। म्युनिसिपैलिटी द्वारा इनको भी तो एकाधिकार प्राप्त रहता है। क्या इनके लिए किराये का कोई नियम नहीं है ?

चाचा—नियम क्यों नहीं है? इक्का-टाँगा का किराया उसकी श्रेणी के हिसाब से म्युनिसिपालिटी द्वारा निश्चित रहता है। पर प्रायः देखा यह जाता है कि साधारण जनता उतना भी किराया नहीं दे पाती, जितना सरकार या म्युनिसिपालिटी से निश्चित रहता है। इसीलिये ये लोग जब देखते हैं कि यात्री परदेशी है और उसके पास यात्रा के लिए पैसे काफ़ी होंगे, या वह देखने में अमीराना ठाठ या पद-मर्यादा का मालूम होता है, तो ये लोग निश्चित दर से कुछ दाम बढ़ा भी देते हैं। प्रायः यह तभी होता है, जब कोई विशेष पर्व या त्योहार होता है।

इसी समय अन्दर से आवाज़ आयी—मोहन, मोहन, चलो।

तब दोनों भोजन करने के लिए अन्दर चल दिये।

प्रश्न है कि क्या उस समय मोहन के चाचा यह सोच रहे थे—लेकिन हमारे गृह-कार्यों में गृहिणी का एकाधिकार मुझे बहुत अंशों में निर्दोष जान पड़ता है?

सैंतालीसवाँ अध्याय

एकाधिकार में प्रतिस्पर्द्धा

रात के आठ बजे होंगे। मुनियाँ और बिल्लू बिहारीबाबू के छोटे-छोटे दो बच्चे हैं। मुनियाँ बिल्लू से एक साल बड़ी है। दोनों इस समय सोने की चेष्टा में हैं। बिल्लू की आँखें झपक रही हैं। पर मुनियाँ कभी आँख बन्द कर लेती है और कभी-कभी झूठ-मूठ मोहन की आँखों में अँगुली गड़ाती हुई हँसती है। उसे नींद नहीं आ रही है।

मोहन के चाचा इसी समय आ गये। वे रूमाल में बरफ़ लटकाये हुए थे। आते ही मकान के नीचे से बोले—बरफ़ कौन-कौन खायगा ?

झट मुनियाँ उठ बैठी। बोली—दद्दा, बाबू बरफ़ ले आये हैं।

बिल्लू भी आधा सोता आधा जगता उठ बैठा। बोला—बरफ़ मैं भी लूँगा, सब।

फिर क्या था। बात-की-बात में दोनों सजग होकर भागे। यहाँ तक कि चाचा के पास पहुँचते-पहुँचते दोनों में वाक्‌युद्ध होने लगा।

"चल, तुझे नहीं मिलेगी। बाबू मुझे ही सब देना।" बिल्लू को पीछे ढकेलती हुई मुनियाँ ने कहा।

बिहारी—अरे, बहुत बरफ़ है! सब को मिलेगी। जाओ अपनी चाची से कहो कि आधी बरफ़ का पानी बनालें और आधी किसी टाट के टुकड़े में लपेटकर रख दें।

इतने में ऊपर से मोहन ने पुकारा—चाचा, ऊपर चले आओ। यहाँ पानी है।

आगे-आगे बिहारीबाबू चले और पीछे-पीछे बरफ़ के प्रेमी मुनियाँ और बिल्लू। मुनियाँ कह रही थी—मैं सबसे बड़ा टुकड़ा लूँगी। बिल्लू को ज़रा-सी मिलेगी।

बिल्लू जवाब दे रहा था—चल, तुझे माँ से कहकर कुछ नहीं दिलाऊँगा। तू तो खेल रही थी। मैं गिनती याद कर रहा था, चुपके-से।

मुनिया—मैं कहाँ खेल रही थी? तूने सुराही जो तोड़ डाली। बाबू इसे कुछ मत देना। इसने सुराही तोड़ दी।

बिल्लू—तुमने तो कंकड़ मारकर उसमें छेद कर दिया और मेरा नाम लगाती है। बड़ी झूठी है।

लड़ते-झगड़ते दोनों ऊपर पहुँचे। चाची ने कहा—

इतनी बरफ़ आज कैसे ले आये?

मोहन के चाचा—घर लौट रहा था तो चौराहे पर सुना कि कोई चिल्ला-कर कह रहा है—पैसे सेर, पैसे सेर, बरफ़ के ढेले, पैसे सेर। मैंने सोचा, लाओ आज सेर भर लेता चलूँ।

फिर क्या था, बरफ़ का पानी बनाया गया। सब ने प्रेम से पिया। अपने हिस्से का पानी पीते-पीते मोहन ने पूछा—

आज यह इतनी सस्ती कैसे हो गई? उस दिन आपने रमेश बाबू के लिए मँगाई थी, तब तो चार पैसे सेर आई थी।

चाचा—इलाहाबाद में दो बरफ़ख़ाने हैं; दोनों अलग-अलग मालिकों के।

मोहन—जब दोनों एकमत हो जाते होंगे, तभी बरफ़ मँहगी बिकती होगी।

चाचा—परन्तु यदि किसी वस्तु के विक्रय में दोही प्रधान विक्रेता हों, तो न तो वहाँ एकाधिकार ही चल सकता है और न पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा। यह भी ज़रूरी नहीं कि दोनों मिलकर समझौता करलें। क्योंकि यदि समझौता हो गया तो एकाधिकार हो जायगा। यह तो एक वस्तु के दो एकाधिकारी होने का उदाहरण है।

मोहन—अच्छा, अगर दोनों एकाधिकारी लाग-डाँट करने लगें तो ?

चाचा—वे लाग-डाँट करने में, एक दूसरे का काम बन्द करवाने की इच्छा से, बरफ़ की दरों को किसी भी हद तक गिरा सकते हैं।

मोहन—तो पैसे सेर बरफ़ बेचनेवाला क्या यही कर रहा है ?

चाचा—हाँ, और उसे हानि हो रही है।

मोहन—तो हानि सहते हुए वह अपने माल को क्यों बेचता है ?

चाचा—बात यह है कि वह सोचता है कि थोड़ी-सी हानि उठाकर दूसरे बरफ़वाले का काम अगर उसने बन्द करवा दिया तो फिर उसकी चाँदी रहेगी। तब वह भाव बढ़ाकर अपना सारा घाटा पूरा कर लेगा।

मोहन—इस तरह कितने दिनों में दूसरे का काम बन्द हो जायगा ?

चाचा—इस हालत में काम तो किसी का बन्द नहीं हो सकता।

मोहन—क्यों ?

चाच—क्योंकि एक अकेला ही सारे शहर की माँग पूरी कर नहीं सकता। इसके अलावा दोनों बराबर के व्यवसायी हैं। जब बराबर के व्यवसायियों में प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ होती है, तो अंत में सुलह हो जाती है। जब एक बड़ी और छोटी कम्पनी में प्रतिपर्द्धा होती है तब ले-देकर छोटी कम्पनी को ही हानि होती है। या तो अन्त में छोटी कम्पनी बन्द हो जाती है या बड़ी कम्पनी उसे अपने में मिला लेती है।

मुनियाँ और बिल्लू तब तक माँ के पास जाकर सो गये थे।

मोहन ने पूछा—अच्छा चाचा, एकाधिकारी लोग कभी-कभी संख्या में दो से अधिक भी हो जाते होंगे।

चाचा—क्यों नहीं ? हमारे शिक्षा-विभाग में ही कभी-कभी ऐसा हुआ है। मान लो, सरकार ने सम्पूर्ण प्रान्त के लिए पाठ्य-पुस्तकों के कई सेट स्वीकार कर लिये हैं। अब डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्डों की शिक्षा-कमेटी को यह अधिकार दे दिया गया है कि वे जिस सेट को अपने ज़िले अथवा नगर के स्कूलों में चलाना चाहें, उन्हें जारी करें।

ऐसी दशा में जितने प्रकाशकों के सेट स्वीकृत कर लिये गये, वे सब एकाधिकारी हो गये।

मोहन—परन्तु इससे यह तो प्रकट नहीं हुआ कि जन-साधारण पर इसका क्या प्रभाव पड़ा। किस अंश में उसे लाभ हुआ, और किस अंश में हानि।

चाचा—जनता को तो तभी लाभ पहुँच सकता था, जब डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्डों की शिक्षा-कमेटियों के प्रतिनिधि पुस्तकों का चुनाव करने में दृढ़ होते। तुम्हें मालूम होगा कि अकसर साधारण योग्यता के लोग भी उस कमेटी में जा पहुँचते हैं। वे जनता का हित न देखकर अपना व्यक्तिगत लाभ देखते हैं। अतः इसका दुष्परिणाम यह होता है कि लोग पक्षपात करते हैं। जिस प्रकाशक ने अपनी रीडरें स्वीकृत कराने में अधिक रुपये खर्च किये, वह बाज़ी मार ले गया।

मोहन—तब तो इस तरह से कई प्रकाशकों को एकाधिकारी बना देना अच्छा नहीं हुआ। अच्छा चाचा, इस विषय में सरकार का मूल भाव क्या रहता है?

चाचा—सरकार तो चाहती है कि स्थानिक स्वराज्य की इन शाखाओं के प्रतिनिधियों को जब कुछ काम करने का अवसर मिला है, तब उन्हें अपने ज़िले के अन्तर्गत प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण स्वाधीनता रहे। जिस सेट को वे अपने बच्चों के लिए अधिक लाभदायक समझें, उसी को जारी करें। किन्तु सरकार का यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। प्रकाशकों ने दो तरह से बेईमानी की। एक तो स्वीकृत कराने में, दूसरे बेचने में।

मोहन—बेचने में किस तरह?

चाचा—मान लो, शहर का कोई बुकसेलर शिक्षा-कमेटी के किसी अधिकारी का रिश्तेदार हुआ। बस, फिर क्या है, उसने ठहरा लिया कि अगर मैंने आपका सेट मंजूर करा लिया, तो आपको साधारण दर से इतना अधिक कमीशन देना होगा। कभी-कभी तो दबाव में आकर इन बुकसेलरों को माल उधार भी दे दिया गया, जिसका रुपया फिर कभी वसूल नहीं हुआ।

मोहन—पर यह तो परोक्ष रूप से रिशवत ही हुई।

मोहन—अच्छा, अगर दोनों एकाधिकारी

चाचा—वे लाग-डाँट करने में, एक दू

इच्छा से, बरफ़ की दरों को किसी भी हद तक

मोहन—तो पैसे सेर बरफ़ बेचनेवाला क

चाचा—हाँ, और उसे हानि हो रही है

मोहन—तो हानि सहते हुए वह अपने

चाचा—बात यह है कि वह सोचता दूसरे बरफ़वाले का काम अगर उसने बन्द चाँदी रहेगी। तब वह भाव बढ़ाकर लेगा।

मोहन—इस तरह कितने दिनों में दूसरे

चाचा—इस हालत में काम तो किसी

मोहन—क्यों?

चाच—क्योंकि एक अकेला ही सारे सकता। इसके अलावा दोनों बराबर के व्यव यियों में प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ होती है, तो इ एक बड़ी और छोटी कम्पनी में प्रतिपर्द्धा होत को ही हानि होती है। या तो अन्त में छो बड़ी कम्पनी उसे अपने में मिला लेती है।

मुनियाँ और बिल्लू तब तक माँ के पास जा

मोहन ने पूछा—अच्छा चाचा, एकाधिका दो से अधिक भी हो जाते होंगे।

चाचा—क्यों नहीं? हमारे शिक्षा-विभाग है। मान लो, सरकार ने सम्पूर्ण प्रान्त के लिए स्वीकार कर लिये हैं। अब डिस्ट्रिक्ट तथा म्युं कमेटी को यह अधिकार दे दिया गया है अपने ज़िले अथवा नगर के स्कूलों में चलाना

यह वार्तालाप तो अब यहीं समाप्त हो गया था। पर इसी के बाद बिहारी बाबू ने पूछ लिया—पुरानी पुस्तकें बेचनेवाले उस बुकसेलर के यहाँ गये थे?

मोहन—हाँ, गया था। 'साहित्य-समीक्षा' वहाँ मिल गयी है।

चाचा ने कहा—यह भी एकाधिकार का ही लाभ है। यद्यपि इसमें भी प्रतिस्पर्द्धा थोड़ी-बहुत तो चलती ही है।

चाचा—ऐसा भी हुआ है कि प्रतिस्पर्द्धी बुकसेलरों ने कह दिया कि जो रीडर स्वीकृत हुई है, वह तो अभी छपकर तैयार नहीं हुई और विद्यार्थियों की बड़ी हानि हो रही है, उसका जिम्मेदार कौन होगा ? और इस तरह अन्त में जिस प्रकाशक ने उनको अधिक कमीशन देना स्वीकार किया, उसी की रीडरें उस ज़िले में प्रचलित हो गयीं।

मोहन—अच्छा तो जब इस तरह से प्रकाशकों को एकाधिकारी बनाने में, प्रतिस्पर्द्धा के कारण, गड़बड़ी होती है, तब फिर उसका नियंत्रण कैसे किया जाता है ?

चाचा—तब प्रतिस्पर्द्धा बन्द करके प्रत्येक रीडर के लिए ज़िलों का बँटवारा कर दिया जाता है। ऐसा ही इस समय भी हमारे प्रांत में चल रहा है। इससे प्रकाशकों को पूर्ण एकाधिकार मिल जाता है।

मोहन—किन्तु इससे जनता का क्या लाभ होता है ?

चाचा—जनता का सबसे अधिक लाभ तो तभी होता है, जब सरकार एकाधिकारियों पर नियंत्रण रखती है। पुस्तकों की क़ीमत कम-से-कम करने का अधिकार सरकार के हाथ में होता है। और उसका फल जन-साधारण की शिक्षा के विकास के लिए बहुत हितकर होता है। जब बच्चों की पढ़ाई का खर्चा कम-से-कम होगा, तब वे अधिक-से-अधिक संख्या में पढ़ सकने में समर्थ होंगे ही।

मोहन—प्रकाशकों को इस तरह पूर्ण एकाधिकार दे देने से जनता का क्या और भी कोई लाभ होता है ?

चाचा—क्यों नहीं होता ? अगर कोई रीडर कई वर्ष तक चल जाती है, तो जो लड़के एक कक्षा में उत्तीर्ण होकर आगे की कक्षा में चले जाते हैं, उनकी पाठ्यपुस्तकें ग़रीब बच्चों के पढ़ने के काम में आती हैं। जो बच्चे पुस्तकें नहीं ख़रीद सकते, वे इस तरह पुरानी पुस्तकें पा जाते हैं। अगर पूर्ण एकाधिकार प्रकाशकों को प्राप्त न हो, और प्रति वर्ष प्रकाशकों में प्रतिस्पर्द्धा चले, और पाठ्यक्रम बदलता रहे तो उसका फल भोगना पड़ेगा साधारण जनता के ग़रीब बच्चों को।

मोहन का मुँह क्रोध से तमतमा उठा। बोला—यह दूकानदारी नहीं हो सकती। इसे मैं दूसरे शब्दों में कहूँगा कि लूट है।

राजाराम भी कम प्रभावित नहीं हुआ। उसने कहा—यह सरासर धोखेबाजी है। दूकानदारी इसे क्यों कहा जाय? यह तो सरासर बेईमानी है—बेईमानी।

मोहन ने कहा—क्यों चाचाजी, आख़िर यह अन्धेर कब तक चलेगा?

बिहारी बाबू ने उत्तर दिया—अब इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकता कि कब तक चलेगा। हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि दूकानदारी की यह प्रथा बहुत दोष-पूर्ण है। वस्तुओं का अत्यधिक मूल्य बतलाना, फिर भाव-ताव करना और अन्त में लौटते ग्राहक के बतलाये हुए दाम को स्वीकार कर माल देना सचमुच अच्छा नहीं है।

राजाराम—असुविधा तो इससे ज़रूर होती है, पर अगर दूकानदार ऐसा न करें, तो ग्राहक माल न ख़रीदे और दूकानदार हाथ-पर-हाथ धरे मक्खियाँ मारा करें।

बिहारी—तुम यहाँ भूल रहे हो राजाराम। वस्तुओं का दाम अगर एक हो और फिर उसमें कहने की गुंजाइश न रक्खी जाय, तो कुछ दिनों के बाद जब लोगों को यह मालूम हो जायगा कि सभी दूकानों पर दाम निश्चित है, तो समय की भी बचत होगी और ख़रीदार और दूकानदार दोनों को सुविधा हो जायगी।

मोहन—कहते तो तुम ठीक हो चाचा, पर ऐसा हो कैसे सकता है?

बिहारी—क्यों नहीं हो सकता? जब दाम एक रहेगा, तो मोल-भाव करने की ज़रूरत ही न होगी।

राजाराम—और दूकानदारी में लाभ का अंश जो कम हो जायगा सो?

बिहारी—यही तो तुम ग़लत सोचते हो। लाभ की मात्रा जब दाल में नमक के बराबर होगी, तब बिक्री भी निश्चित ही अधिक होगी।

मोहन—लेकिन हमारे देश में दूकानदारी का अर्थ ही माना जाता है, ठगी और धूर्तता। सत्यता और ईमानदारी तो इन लोगों में रह ही नहीं गयी।

अड़तालीसवाँ अध्याय

दूकानदारी

राजाराम आजकल अपने जीजा बिहारी के यहाँ आया हुआ है। नित्य वह बिहारी के साथ घूमने निकलता है। कल रविवार था। बिहारी की छुट्टी भी थी। इसलिए वह उसके साथ चौक गया हुआ था। साथ में मोहन भी था। इधर-उधर घूमने के बाद जब बिहारी सब्ज़ीमण्डी की दूकानों की ओर चला, तो देखता क्या है कई आदमी कलमी आम लिये बैठे हैं।

राजाराम ने पूछा—कैसे दिये हैं?

दूकानदार ने जवाब दिया—रुपये के दस दिये हैं हुज़ूर।

और इतना कहकर वह उन आमों की उठावा-धरी करने लगा।

बिहारी आगे बढ़ गया। फिर धीरे से बोला—चुपचाप सब चीज़ देखते चलो। बात शुरू की नहीं कि इन लोगों के जाल में फंसे नहीं।

तब देर तक तीनों घूमते रहे। अन्त में मुहम्मदअली पार्क में एक बेंच पर आ बैठे। बिहारी ने कहा—सुना था कि अमेरिका में दूकानदारी इस दर्जे को पहुँच गयी है कि वहाँ दूकान पर पहुँचकर कोई आदमी बिना कोई चीज़ लिये वापस नहीं जा सकता। पर संयोग से कोई चला ही जाय, तो दूकान पर जो लोग सौदा पटाने के कार्य पर नियुक्त होते हैं, उनकी नौकरी पर आ बीते। पर अमेरिका की बात रही अमेरिका में। यहाँ पर भी ऐसे विक्रेताओं की कमी नहीं है, जिनसे बात करने का अर्थ है फँसना। तुमने उस आदमी से आम के दाम पूछे तो उसने बतलाया कि रुपये के दस दिये हैं। पर तुम अगर बीस भी कहते, तो अन्त में वह स्वीकार कर लेता।

मोहन का मुँह क्रोध से तमतमा उठा। बोला—यह दूकानदारी नहीं हो सकती। इसे मैं दूसरे शब्दों में कहूँगा कि लूट है!

राजाराम भी कम प्रभावित नहीं हुआ। उसने कहा—यह सरासर धोखेबाजी है। दूकानदारी इसे क्यों कहा जाय? यह तो सरासर बेईमानी है—बेईमानी।

मोहन ने कहा—क्यों चाचाजी, आख़िर यह अन्धेर कब तक चलेगा?

बिहारी बाबू ने उत्तर दिया—अब इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकता कि कब तक चलेगा। हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि दूकानदारी की यह प्रथा बहुत दोष-पूर्ण है। वस्तुओं का अत्यधिक मूल्य बतलाना, फिर भाव-ताव करना और अन्त में लौटते ग्राहक के बतलाये हुए दाम को स्वीकार कर माल देना सचमुच अच्छा नहीं है।

राजाराम—असुविधा तो इससे ज़रूर होती है, पर अगर दूकानदार ऐसा न करें, तो ग्राहक माल न ख़रीदे और दूकानदार हाथ-पर-हाथ धरे मक्खियाँ मारा करें।

बिहारी—तुम यहाँ भूल रहे हो राजाराम। वस्तुओं का दाम अगर एक हो और फिर उसमें कहने की गुंजाइश न रक्खी जाय, तो कुछ दिनों के बाद जब लोगों को यह मालूम हो जायगा कि सभी दूकानों पर दाम निश्चित है, तो समय की भी बचत होगी और ख़रीदार और दूकानदार दोनों को सुविधा हो जायगी।

मोहन—कहते तो तुम ठीक हो चाचा, पर ऐसा हो कैसे सकता है?

बिहारी—क्यों नहीं हो सकता? जब दाम एक रहेगा, तो मोल-भाव करने की ज़रूरत ही न होगी।

राजाराम—और दूकानदारी में लाभ का अंश जो कम हो जायगा सो?

बिहारी—यही तो तुम ग़लत सोचते हो। लाभ की मात्रा जब दाल में नमक के बराबर होगी, तब बिक्री भी निश्चित ही अधिक होगी।

मोहन—लेकिन हमारे देश में दूकानदारी का अर्थ ही माना जाता है, ठगी और धूर्तता। सत्यता और ईमानदारी तो इन लोगों में रह ही नहीं गयी।

अड़तालीसवाँ अध्याय

दूकानदारी

राजाराम आजकल अपने जीजा बिहारी के यहाँ आया हुआ है। नित्य वह बिहारी के साथ घूमने निकलता है। कल रविवार था। बिहारी की छुट्टी भी थी। इसलिए वह उसके साथ चौक गया हुआ था। साथ में मोहन भी था। इधर-उधर घूमने के बाद जब बिहारी सब्ज़ीमण्डी की दूकानों की ओर चला, तो देखता क्या है कई आदमी कलमी आम लिये बैठे हैं।

राजाराम ने पूछा—कैसे दिये हैं?

दूकानदार ने जवाब दिया—रुपये के दस दिये हैं हुज़ूर।

और इतना कहकर वह उन आमों की उठावा-धरी करने लगा।

बिहारी आगे बढ़ गया। फिर धीरे से बोला—चुपचाप सब चीज़ देखते चलो। बात शुरू की नहीं कि इन लोगों के जाल में फंसे नहीं।

तब देर तक तीनों घूमते रहे। अन्त में मुहम्मदअली पार्क में एक बेंच पर आ बैठे। बिहारी ने कहा—सुना था कि अमेरिका में दूकानदारी इस दर्जे को पहुँच गयी है कि वहाँ दूकान पर पहुँचकर कोई आदमी बिना कोई चीज़ लिये वापस नहीं जा सकता। पर संयोग से कोई चला ही जाय, तो दूकान पर जो लोग सौदा पटाने के कार्य पर नियुक्त होते हैं, उनकी नौकरी पर आ बीते। पर अमेरिका की बात रही अमेरिका में। यहाँ पर भी ऐसे विक्रेताओं की कमी नहीं है, जिनसे बात करने का अर्थ है फँसना। तुमने उस आदमी से आम के दाम पूछे तो उसने बतलाया कि रुपये के दस दिये हैं। पर तुम अगर बीस भी कहते, तो अन्त में वह स्वीकार कर लेता।

मोहन का मुँह क्रोध से तमतमा उठा। बोला—यह दूकानदारी नहीं हो सकती। इसे मैं दूसरे शब्दों में कहूँगा कि लूट है।

राजाराम भी कम प्रभावित नहीं हुआ। उसने कहा—यह सरासर धोखेबाजी है। दूकानदारी इसे क्यों कहा जाय? यह तो सरासर बेईमानी है—बेईमानी।

मोहन ने कहा—क्यों चाचाजी, आख़िर यह अन्धेर कब तक चलेगा?

बिहारी बाबू ने उत्तर दिया—अब इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकता कि कब तक चलेगा। हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि दूकानदारी की यह प्रथा बहुत दोष-पूर्ण है। वस्तुओं का अत्यधिक मूल्य बतलाना, फिर भाव-ताव करना और अन्त में लौटते ग्राहक के बतलाये हुए दाम को स्वीकार कर माल देना सचमुच अच्छा नहीं है।

राजाराम—असुविधा तो इससे ज़रूर होती है, पर अगर दूकानदार ऐसा न करें, तो ग्राहक माल न ख़रीदे और दूकानदार हाथ-पर-हाथ धरे मक्खियाँ मारा करें।

बिहारी—तुम यहाँ भूल रहे हो राजाराम। वस्तुओं का दाम अगर एक हो और फिर उसमें कहने की गुंजाइश न रक्खी जाय, तो कुछ दिनों के बाद जब लोगों को यह मालूम हो जायगा कि सभी दूकानों पर दाम निश्चित है, तो समय की भी बचत होगी और ख़रीदार और दूकानदार दोनों को सुविधा हो जायगी।

मोहन—कहते तो तुम ठीक हो चाचा, पर ऐसा हो कैसे सकता है?

बिहारी—क्यों नहीं हो सकता? जब दाम एक रहेगा, तो मोल-भाव करने की ज़रूरत ही न होगी।

राजाराम—और दूकानदारी में लाभ का अंश जो कम हो जायगा सो?

बिहारी—यही तो तुम ग़लत सोचते हो। लाभ की मात्रा जब दाल में नमक के बराबर होगी, तब बिक्री भी निश्चित ही अधिक होगी।

मोहन—लेकिन हमारे देश में दूकानदारी का अर्थ ही माना जाता है, ठगी और धूर्तता। सत्यता और ईमानदारी तो इन लोगों में रह ही नहीं गयी।

अड़तालीसवाँ अध्याय

दूकानदारी

राजाराम आजकल अपने जीजा बिहारी के यहाँ आया हुआ है। नित्य वह बिहारी के साथ घूमने निकलता है। कल रविवार था। बिहारी की छुट्टी भी थी। इसलिए वह उसके साथ चौक गया हुआ था। साथ में मोहन भी था। इधर-उधर घूमने के बाद जब बिहारी सब्ज़ीमण्डी की दूकानों की ओर चला, तो देखता क्या है कई आदमी कलमी आम लिये बैठे हैं।

राजाराम ने पूछा—कैसे दिये हैं?

दूकानदार ने जवाब दिया—रुपये के दस दिये हैं हुज़ूर।

और इतना कहकर वह उन आमों की उठावा-धरी करने लगा।

बिहारी आगे बढ़ गया। फिर धीरे से बोला—चुपचाप सब चीज़ देखते चलो। बात शुरू की नहीं कि इन लोगों के जाल में फंसे नहीं।

तब देर तक तीनों घूमते रहे। अन्त में मुहम्मदअली पार्क में एक बेंच पर आ बैठे। बिहारी ने कहा—सुना था कि अमेरिका में दूकानदारी इस दर्जे को पहुँच गयी है कि वहाँ दूकान पर पहुँचकर कोई आदमी बिना कोई चीज़ लिये वापस नहीं जा सकता। पर संयोग से कोई चला ही जाय, तो दूकान पर जो लोग सौदा पटाने के कार्य पर नियुक्त होते हैं, उनकी नौकरी पर आ बीते। पर अमेरिका की बात रही अमेरिका में। यहाँ पर भी ऐसे विक्रेताओं की कमी नहीं है, जिनसे बात करने का अर्थ है फँसना। तुमने उस आदमी से आम के दाम पूछे तो उसने बतलाया कि रुपये के दस दिये हैं। पर तुम अगर बीस भी कहते, तो अन्त में वह स्वीकार कर लेता।

मोहन का मुँह क्रोध से तमतमा उठा। बोला—यह दूकानदारी नहीं हो सकती। इसे मैं दूसरे शब्दों में कहूँगा कि लूट है।

राजाराम भी कम प्रभावित नहीं हुआ। उसने कहा—यह सरासर धोखेबाजी है। दूकानदारी इसे क्यों कहा जाय? यह तो सरासर बेईमानी है—बेईमानी।

मोहन ने कहा—क्यों चाचाजी, आखिर यह अन्धेर कब तक चलेगा?

बिहारी बाबू ने उत्तर दिया—अब इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकता कि कब तक चलेगा। हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि दूकानदारी की यह प्रथा बहुत दोष-पूर्ण है। वस्तुओं का अत्यधिक मूल्य बतलाना, फिर भाव-ताव करना और अन्त में लौटते ग्राहक के बतलाये हुए दाम को स्वीकार कर माल देना सचमुच अच्छा नहीं है।

राजाराम—असुविधा तो इससे ज़रूर होती है, पर अगर दूकानदार ऐसा न करें, तो ग्राहक माल न ख़रीदे और दूकानदार हाथ-पर-हाथ धरे मक्खियाँ मारा करें।

बिहारी—तुम यहाँ भूल रहे हो राजाराम। वस्तुओं का दाम अगर एक हो और फिर उसमें कहने की गुंजाइश न रक्खी जाय, तो कुछ दिनों के बाद जब लोगों को यह मालूम हो जायगा कि सभी दूकानों पर दाम निश्चित है, तो समय की भी बचत होगी और ख़रीदार और दूकानदार दोनों को सुविधा हो जायगी।

मोहन—कहते तो तुम ठीक हो चाचा, पर ऐसा हो कैसे सकता है?

बिहारी—क्यों नहीं हो सकता? जब दाम एक रहेगा, तो मोल-भाव करने की ज़रूरत ही न होगी।

राजाराम—और दूकानदारी में लाभ का अंश जो कम हो जायगा सो?

बिहारी—यही तो तुम ग़लत सोचते हो। लाभ की मात्रा जब दाल में नमक के बराबर होगी, तब बिक्री भी निश्चित ही अधिक होगी।

मोहन—लेकिन हमारे देश में दूकानदारी का अर्थ ही माना जाता है, ठगी और धूर्तता। सत्यता और ईमानदारी तो इन लोगों में रह ही नहीं गयी।

अड़तालीसवाँ अध्याय

दूकानदारी

राजाराम आजकल अपने जीजा बिहारी के यहाँ आया हुआ है। नित्य वह बिहारी के साथ घूमने निकलता है। कल रविवार था। बिहारी की छुट्टी भी थी। इसलिए वह उसके साथ चौक गया हुआ था। साथ में मोहन भी था। इधर-उधर घूमने के बाद जब बिहारी सब्ज़ीमण्डी की दूकानों की ओर चला, तो देखता क्या है कई आदमी कलमी आम लिये बैठे हैं।

राजाराम ने पूछा—कैसे दिये हैं?

दूकानदार ने जवाब दिया—रुपये के दस दिये हैं हुज़ूर।

और इतना कहकर वह उन आमों की उठावा-धरी करने लगा।

बिहारी आगे बढ़ गया। फिर धीरे से बोला—चुपचाप सब चीज़ देखते चलो। बात शुरू की नहीं कि इन लोगों के जाल में फंसे नहीं।

तब देर तक तीनों घूमते रहे। अन्त में मुहम्मदअली पार्क में एक बेंच पर आ बैठे। बिहारी ने कहा—सुना था कि अमेरिका में दूकानदारी इस दर्जे को पहुँच गयी है कि वहाँ दूकान पर पहुँचकर कोई आदमी बिना कोई चीज़ लिये वापस नहीं जा सकता। पर संयोग से कोई चला ही जाय, तो दूकान पर जो लोग सौदा पटाने के कार्य पर नियुक्त होते हैं, उनकी नौकरी पर आ बीते। पर अमेरिका की बात रही अमेरिका में। यहाँ पर भी ऐसे विक्रेताओं की कमी नहीं है, जिनसे बात करने का अर्थ है फँसना। तुमने उस आदमी से आम के दाम पूछे तो उसने बतलाया कि रुपये के दस दिये हैं। पर तुम अगर बीस भी कहते, तो अन्त में वह स्वीकार कर लेता।

मोहन का मुँह क्रोध से तमतमा उठा। बोला—यह दूकानदारी नहीं हो सकती। इसे मैं दूसरे शब्दों में कहूँगा कि लूट है।

राजाराम भी कम प्रभावित नहीं हुआ। उसने कहा—यह सरासर धोखेबाजी है। दूकानदारी इसे क्यों कहा जाय? यह तो सरासर बेईमानी है—बेईमानी।

मोहन ने कहा—क्यों चाचाजी, आख़िर यह अन्धेर कब तक चलेगा?

बिहारी बाबू ने उत्तर दिया—अब इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकता कि कब तक चलेगा। हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि दूकानदारी की यह प्रथा बहुत दोष-पूर्ण है। वस्तुओं का अत्यधिक मूल्य बतलाना, फिर भाव-ताव करना और अन्त में लौटते ग्राहक के बतलाये हुए दाम को स्वीकार कर माल देना सचमुच अच्छा नहीं है।

राजाराम—असुविधा तो इससे ज़रूर होती है, पर अगर दूकानदार ऐसा न करें, तो ग्राहक माल न ख़रीदे और दूकानदार हाथ-पर-हाथ धरे मक्खियाँ मारा करें।

बिहारी—तुम यहाँ भूल रहे हो राजाराम। वस्तुओं का दाम अगर एक हो और फिर उसमें कहने की गुंजाइश न रक्खी जाय, तो कुछ दिनों के बाद जब लोगों को यह मालूम हो जायगा कि सभी दूकानों पर दाम निश्चित है, तो समय की भी बचत होगी और ख़रीदार और दूकानदार दोनों को सुविधा हो जायगी।

मोहन—कहते तो तुम ठीक हो चाचा, पर ऐसा हो कैसे सकता है?

बिहारी—क्यों नहीं हो सकता? जब दाम एक रहेगा, तो मोल-भाव करने की ज़रूरत ही न होगी।

राजाराम—और दूकानदारी में लाभ का अंश जो कम हो जायगा सो?

बिहारी—यही तो तुम ग़लत सोचते हो। लाभ की मात्रा जब दाल में नमक के बराबर होगी, तब बिक्री भी निश्चित ही अधिक होगी।

मोहन—लेकिन हमारे देश में दूकानदारी का अर्थ ही माना जाता है, ठगी और धूर्तता। सत्यता और ईमानदारी तो इन लोगों में रह ही नहीं गयी।

अड़तालीसवाँ अध्याय

दूकानदारी

राजाराम आजकल अपने जीजा बिहारी के यहाँ आया हुआ है। नित्य वह बिहारी के साथ घूमने निकलता है। कल रविवार था। बिहारी की छुट्टी भी थी। इसलिए वह उसके साथ चौक गया हुआ था। साथ में मोहन भी था। इधर-उधर घूमने के बाद जब बिहारी सब्ज़ीमण्डी की दूकानों की ओर चला, तो देखता क्या है कई आदमी कलमी आम लिये बैठे हैं।

राजाराम ने पूछा—कैसे दिये हैं?

दूकानदार ने जवाब दिया—रुपये के दस दिये हैं हुज़ूर।

और इतना कहकर वह उन आमों की उठावा-धरी करने लगा।

बिहारी आगे बढ़ गया। फिर धीरे से बोला—चुपचाप सब चीज़ देखते चलो। बात शुरू की नहीं कि इन लोगों के जाल में फंसे नहीं।

तब देर तक तीनों घूमते रहे। अन्त में मुहम्मदअली पार्क में एक बेंच पर आ बैठे। बिहारी ने कहा—सुना था कि अमेरिका में दूकानदारी इस दर्जे को पहुँच गयी है कि वहाँ दूकान पर पहुँचकर कोई आदमी बिना कोई चीज़ लिये वापस नहीं जा सकता। पर संयोग से कोई चला ही जाय, तो दूकान पर जो लोग सौदा पटाने के कार्य पर नियुक्त होते हैं, उनकी नौकरी पर आ बीते। पर अमेरिका की बात रही अमेरिका में। यहाँ पर भी ऐसे विक्रेताओं की कमी नहीं है, जिनसे बात करने का अर्थ है फँसना। तुमने उस आदमी से आम के दाम पूछे तो उसने बतलाया कि रुपये के दस दिये हैं। पर तुम अगर बीस भी कहते, तो अन्त में वह स्वीकार कर लेता।

मोहन का मुँह क्रोध से तमतमा उठा। बोला—यह दूकानदारी नहीं हो सकती। इसे मैं दूसरे शब्दों में कहूँगा कि लूट है।

राजाराम भी कम प्रभावित नहीं हुआ। उसने कहा—यह सरासर धोखे-बाजी है। दूकानदारी इसे क्यों कहा जाय? यह तो सरासर बेईमानी है—बेईमानी।

मोहन ने कहा—क्यों चाचाजी, आख़िर यह अन्धेर कब तक चलेगा?

बिहारी बाबू ने उत्तर दिया—अब इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकता कि कब तक चलेगा। हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ कि दूकानदारी की यह प्रथा बहुत दोष-पूर्ण है। वस्तुओं का अत्यधिक मूल्य बतलाना, फिर भाव-ताव करना और अन्त में लौटते ग्राहक के बतलाये हुए दाम को स्वीकार कर माल देना सचमुच अच्छा नहीं है।

राजाराम—असुविधा तो इससे ज़रूर होती है, पर अगर दूकानदार ऐसा न करें, तो ग्राहक माल न ख़रीदे और दूकानदार हाथ-पर-हाथ धरे मक्खियाँ मारा करें।

बिहारी—तुम यहाँ भूल रहे हो राजाराम। वस्तुओं का दाम अगर एक हो और फिर उसमें कहने की गुंजाइश न रक्खी जाय, तो कुछ दिनों के बाद जब लोगों को यह मालूम हो जायगा कि सभी दूकानों पर दाम निश्चित है, तो समय की भी बचत होगी और ख़रीदार और दूकानदार दोनों को सुविधा हो जायगी।

मोहन—कहते तो तुम ठीक हो चाचा, पर ऐसा हो कैसे सकता है?

बिहारी—क्यों नहीं हो सकता? जब दाम एक रहेगा, तो मोल-भाव करने की ज़रूरत ही न होगी।

राजाराम—और दूकानदारी में लाभ का अंश जो कम हो जायगा सो?

बिहारी—यही तो तुम ग़लत सोचते हो। लाभ की मात्रा जब दाल में नमक के बराबर होगी, तब बिक्री भी निश्चित ही अधिक होगी।

मोहन—लेकिन हमारे देश में दूकानदारी का अर्थ ही माना जाता है, ठगी और धूर्तता। सत्यता और ईमानदारी तो इन लोगों में रह ही नहीं गयी।

राजाराम—व्यवसाय में ईमानदारी और बेईमानी में विशेष भेद
माना जाता। सौदा पटाने के उद्देश्य को लेकर ग्राहक को राज़ी करने में
बातें बढ़ाकर की जाती हैं, नीति में कहा गया है कि वह मिथ्या
होता।

बिहारी—वह नीति नहीं है। मैं उसे दुर्नीति कहूँगा। लोगों को धोखा
देने के लिए उत्साहित करना कोई अच्छी बात नहीं हो सकती। यह ग़लती
समाज के कुछ गिने-चुने उन लोगों की, जो साधारण जनता के कथित
धार्मिक विश्वासों और उनकी रूढ़िगत परम्पराओं के पृष्ट-पोषण से लाभ
उठाकर उसका शोषण करते आये हैं। यह सोचना कि व्यवसाय में ईमानदारी
की आवश्यकता नहीं है, सरासर नादानी है। यह हमारे देश के
राजनीति विशारदों का अज्ञान—और मैं तो कहूँगा कि उनकी अकर्मण्यता
है, इसी कारण व्यावसायिक और औद्योगिक क्षेत्रों में इस क़दर धाँधली च
रही है।

राजाराम—पर जीजाजी, मैं फिर कहूँगा कि ऐसी दूकानदारी में धोखेबा
उतनी अधिक नहीं है जितनी खाद्य तथा व्यवहार में आनेवाली अन्य वस्तु
में मिलावट के सम्बन्ध में होती है।

मोहन—हाँ चाचा, शुद्ध घी प्राप्त करना ही कठिन हो रहा है। हमारे य
घी यद्यपि अकसर गाँव से आता ही रहता है; तो भी कभी-कभी तो ज़रूरत
ही जाती है।

बिहारी अब राजाराम की ओर देखकर बोल उठा—तुमको आश्च
हो रहा है। पर यहाँ स्थिति यह है कि घी-तो-घी असली तेल भी—पीले सर
है और का—बाज़ार भर खोज आओ, नहीं मिलेगा।

राजाराम—सुना है कि कुछ म्युनिसिपालिटियों तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड
अधिकारियों ने कुछ नगरों और कुछ ज़िलों में इस विषय में कुछ नियंत्रण कि
है और उनको सफलता भी मिली है।

बिहारी—जब तक सरकार द्वारा इन बेईमानों को उचित दण्ड दिला
की अच्छी व्यवस्था न होगी, तब तक आजकल की इस दोषपूर्ण प्रथा
कोई सुधार होना संभव नहीं है।

मोहन—और चाचा, समाचार-पत्रों में भी तो झूठी विज्ञापनबाज़ी का आजकल ख़ूब दौर-दौरा है। दवाइयों का विज्ञापन देखिए, तो ऐसा मालूम होगा कि बस अब इधर-उधर भटकने की ज़रूरत नहीं रही। धन्वन्तरि महाराज का अवतार हो गया है। केवल पैसा ही ख़र्च करने की ज़रूरत है। संसार में अब कोई ऐसा मर्ज़ नहीं रह गया, जो अमुक औषधालय की दवाइयाँ व्यवहार करने से अच्छा न हो जाय।

राजाराम—पर इस विषय में एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। विज्ञापनबाज़ी को तो आप बुरा कहने लगे, पर ख़रीदार लोग ही जब अन्धे बनकर सौदा ख़रीदें, तो दूकानदार का क्या दोष हो सकता है? फिर विज्ञापन में कोरी झूठी बातें ही रहती हैं, यह कहना भी उचित नहीं है। मान लो, किसी ग्राहक ने एक बार कोई दवा भूल से मँगवा भी ली, तो उससे व्यवसायी का क्या बनता-बिगड़ता है?

बिहारी—परन्तु यहाँ तुम यह भूल रहे हो राजाराम कि ऐसे भी व्यवसायी हो सकते हैं, जो यह सोच लें कि हमें तो अपने दवाइयों का इतना अधिक प्रचार करना है कि एक बार सभी देशवासी कोई-न-कोई चीज़ उन से ख़रीद लें। देश की जन-संख्या तो पैंतिस करोड़ है। अगर हम इसमें से दो तिहाई बच्चों के लिए निकालें तो लगभग बारह करोड़ ग्राहक तो भी हमें मिल जाते हैं। मतलब यह कि धोखेबाज़ व्यवसायियों का यह भी उद्देश्य हो सकता है कि वे जनता को केवल एक बार धोखा देकर रुपया लूटना चाहते हों।

राजाराम—सभी क्षेत्रों में अर्थ की यह जो लूट-खसोट होती है, मुझे इसका एकमात्र कारण देश की ग़रीबी मालूम होती है। जब लोगों को अपने खाने-पीने और पहनने, बाल-बच्चों का भरण-पोषण करने तक का सुभीता नहीं होता, तब वे बेचारे क्या करें। तभी तो कहा जाता है कि मरता क्या न करता! पेट के लिये सभी कुछ करना पड़ता है। मुझे तो लोगों की हालत देखकर कभी-कभी बड़ी पीड़ा होती है। तभी मैं सोचता रह जाता हूँ कि ये अपराधी, दुष्ट और पापी, कोई भी वास्तव में दोषी नहीं हैं। पेट की ज्वाला ही यह सब करा रही है।

राजाराम—व्यवसाय में ईमानदारी और बेईमानी में विशेष भेद नहीं माना जाता। सौदा पटाने के उद्देश्य को लेकर ग्राहक को राज़ी करने में जो बातें बढ़ाकर की जाती हैं, नीति में कहा गया है कि वह मिथ्या नहीं होता।

बिहारी—वह नीति नहीं है। मैं उसे दुर्नीति कहूँगा। लोगों को धोखा देने के लिए उत्साहित करना कोई अच्छी बात नहीं हो सकती। यह ग़लती है समाज के कुछ गिने-चुने उन लोगों की, जो साधारण जनता के कथित धार्मिक विश्वासों और उनकी रूढ़िगत परम्पराओं के पृष्ट-पोषण से लाभ उठाकर उसका शोषण करते आये हैं। यह सोचना कि व्यवसाय में ईमानदारी की आवश्यकता नहीं है, सरासर नादानी है। यह हमारे देश के राजनीति विशारदों का अज्ञान—और मैं तो कहूँगा कि उनकी अकर्मण्यता है, इसी कारण व्यावसायिक और औद्योगिक क्षेत्रों में इस क़दर धाँधली चल रही है।

राजाराम—पर जीजाजी, मैं फिर कहूँगा कि ऐसी दूकानदारी में धोखेबाज़ी उतनी अधिक नहीं है जितनी खाद्य तथा व्यवहार में आनेवाली अन्य वस्तुओं में मिलावट के सम्बन्ध में होती है।

मोहन—हाँ चाचा, शुद्ध घी प्राप्त करना ही कठिन हो रहा है। हमारे यहाँ घी यद्यपि अकसर गाँव से आता ही रहता है; तो भी कभी-कभी तो ज़रूरत पड़ ही जाती है।

बिहारी अब राजाराम की ओर देखकर बोल उठा—तुमको आश्चर्य हो रहा है। पर यहाँ स्थिति यह है कि घी-तो-घी असली तेल भी—पीले सरसों है और का—बाज़ार भर खोज आओ, नहीं मिलेगा।

राजाराम—सुना है कि कुछ म्युनिसिपालिटियों तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के अधिकारियों ने कुछ नगरों और कुछ ज़िलों में इस विषय में कुछ नियंत्रण किया है और उनको सफलता भी मिली है।

बिहारी—जब तक सरकार द्वारा इन बेईमानों को उचित दण्ड दिलाने की अच्छी व्यवस्था न होगी, तब तक आजकल की इस दोषपूर्ण प्रथा में कोई सुधार होना संभव नहीं है।

बिहारी ने कहा—लाओ अब चार-छै आम ले ही लें। मुनियाँ और बिल्लू को कुछ तो ले चलना चाहिये।

पर राजाराम ने तब भी आश्चर्य्य प्रकट करते हुए कहा—लेकिन ग़ज़ब हो गया। इन्हीं आमों का भाव इसने रुपये के दस बतलाया था। सचमुच इस प्रकार की दूकानदारी पर नियंत्रण होना चाहिये।

बिहारी—किसी अंश तक तुम्हारा यह कथन सत्य है। पर यह तो एक न्यायाधीश, एक विचारक और आगे चलकर एक विश्व-नियंता का भाव है। और मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जन-साधारण के प्रति तुम्हारा भाव ऐसा सहानुभूतिपूर्ण है। परन्तु इस विषय में मैं एक विशेष दृष्टि रखता हूँ। और वह यह कि सत्य, धर्म और न्याय का पालन तो ऐसा क्षेत्र है, जिसमें ग़रीबी और अमीरी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बल्कि मुझे तो यह जानकर अत्यन्त क्लेश होता है, जब मैं सुनता हूँ कि कोई ग़रीब उत्पादक या दूकानदार बेईमानी कर रहा है। धर्म की भावना को तो हमें हर हालत में ग्रहण करना पड़ेगा। धर्म को त्यागकर अगर मनुष्य क्रय-विक्रय के क्षेत्र में सफल भी हुआ तो उसकी सफलता समाज के लिये कदापि हितकर नहीं हो सकती। अधर्म से उत्पन्न धन न तो हमारी रक्षा कर सकता है, न हमें सफल बना सकता है। मुझे तो इस विचार में कोई एक महत् रहस्य छिपा हुआ मिलता है कि अधर्म से उत्पन्न धन जैसे आता है, वैसे ही चला भी जाता है। और इस प्रकार मुझे कहना पड़ेगा कि बेईमानी अथवा धोखे-बाज़ी से जो धन प्राप्त होता है वह दूकानदार के लिए उन्नति का कारण न होकर नाश का कारण होता है।

मोहन—अच्छा चाचा, यह सब तो आपने ठीक कहा। परन्तु दूकानदार यदि बहुत कम मुनाफ़ा लेने लगे, तो जब वस्तुओं का मूल्य गिरने लगता है, तब उस समय वह हानि से कैसे बच सकता है?

बिहारी—उसका भी एक उपाय है। जब सब वस्तुओं का मूल्य बढ़ने लगता है, उस समय आवश्यकता इस बात की रहती है कि वह लागत-खर्च से कुछ अधिक ले। इस विशेष लाभ का अर्ध-भाग वह एक कोष के रूप में सुरक्षित रक्खे। उस कोष का वह रुपया उस समय काम दे सकता है, जब वस्तुओं का मूल्य घटने लगता है।

राजाराम बोल उठा—अच्छा अब हम लोग चलें। बात करते देर हुई।

तब सब लोग चल खड़े हुए। जब वे फिर चौराहे पर आये, तो क्या देखते हैं कि वह कुँजड़ा आम की वही झल्ली लिये हुए उन्हीं आमों को तीन-तीन पैसे के हिसाब से चिल्ला-चिल्लाकर फुटकर बेच रहा है।

विहारी ने कहा—लाओ अब चार-छै आम ले ही लें। मुनियाँ और बिल्लू को कुछ तो ले चलना चाहिये।

पर राजाराम ने तब भी आश्चर्य्य प्रकट करते हुए कहा—लेकिन ग़ज़ब हो गया। इन्हीं आमों का भाव इसने रुपये के दस बतलाया था। सचमुच इस प्रकार की दूकानदारी पर नियंत्रण होना चाहिये।

उनचासवाँ अध्याय

जुआ और सट्टेबाज़ी

"कल, चाचा, मैंने एक बड़ी विचित्र बात सुनी। मैं तो दंग रह गया।" मोहन ने कहा।

उत्सुकता से उसके चाचा ने पूछा—क्या ?

मोहन बोला—जगदीश के मुहल्ले में दो सेठ रहते हैं। वे एक पार्क में बेंच पर बैठे हवा खा रहे थे। शाम के वक्त बादल घिर आये, तो उनमें से लाला हरकिशनलाल बोले—जान पड़ता है, आज पानी ज़रूर बरसेगा।

लाला गोपीनाथ ने जवाब दिया—ग़लत बात है। तुम क्या जानो कि कौन बादल बरसनेवाले होते हैं और कौन सिर्फ़ गरजनेवाले।

इस बात पर हरकिशन को ताव आ गया। बोले—आप कहते क्या हैं ? क्या मैं इतना भी नहीं जानता ? क्या आप मुझे एक अबोध बच्चा समझते हैं ?

गोपीनाथ ने बिल्कुल गम्भीर होकर जवाब दिया—अबोध बच्चा भी कभी ऐसी ग़लती नहीं करता। आप की बुद्धि तो उससे भी गयी-गुज़री है। मैं कहता हूँ, आज पानी बरसना दूर रहा, छिड़काव तक नहीं हो सकता।

हरकिशन से अब और सहन न हुआ। बोले—तब फिर कुछ-कुछ हार-जीत ठहर जाय। यों बातें लड़ाने से क्या फ़ायदा ? अरे हाँ फिर, दो-चार हज़ार यों ही सही। आप भी क्या कहेंगे कि किसी से पल्ला पड़ा था।

गोपीनाथ बोले—तब तो इसका मतलब यह हुआ कि आप रुपये की गरमी से अपनी बात मनवाना चाहते हैं। अच्छी बात है। मैंने भी अब तक पैदा ही पैदा किया है, खोया कुछ भी नहीं है। आज ऐसा ही सही! बोलिए, कितने की बाज़ी रही?

लाला हरकिशनलाल ने जवाब दिया—दो हज़ार से नीचे तो मैं कभी बदता नहीं।

लाला गोपीनाथ ने स्वीकार कर लिया। फल यह हुआ कि पानी सचमुच कल क़तई नहीं बरसा और लाला हरकिशनलाल को लाला गोपीनाथ के आगे हार मान लेने के कारण आज दो हज़ार रुपये दे देने पड़े। इसी विजय के उपलक्ष्य में गोपीनाथ के घर दावत थी। जगदीश ने मुझे बतलाया है।

चाचा—यह जुआ है।

मोहन तो आश्चर्य्य से चकित हो गया। बोला—आप कहते क्या हैं चाचा जी! जुआ तो सुरही को कहते हैं, जो दिवाली पर खेला जाता है।

चाचा—केवल सुरही की चाल से बाज़ी लड़ाना जुआ नहीं है। जुआ अनेक प्रकार का होता है। रेस में लोग बाज़ी लगाते हैं, लाटरी में टिकट ख़रीदते हैं, चौसर के खेल में भी जुआ होता है। तुम शायद जानते ही हो कि इसी खेल में पांडव अपना सब राज्य हार गये थे! ताश के खेल में रनिंग-फ़्लश एक खेल होता है। उसमें हर एक चाल के लिए रुपये-पैसे की एक सीमा रहती है। जब पत्ते ज़ोरदार आ जाते हैं, तब चाल बढ़ जाती है। कभी-कभी उसमें लोग अपनी सारी सम्पत्ति तक रख देते हुए देखे गये हैं। ये सब लोग असल में जुआ ही तो खेलते हैं।

मोहन—लेकिन अभी तक मैं यह नहीं समझा कि जुआ कहते किसको हैं।

चाचा—अच्छा, तो तुम यह चाहते हो कि मैं तुमको जुए की परिभाषा बतलाऊँ।

मोहन चुप रहकर सिर ज़रा-सा नीचा करके थोड़ा मुसकराने लगा।

चाचा बोले—फल के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त किये बिना जब लोग केवल

उनचासवाँ अध्याय

जुआ और सट्टेबाज़ी

"कल, चाचा, मैंने एक बड़ी विचित्र बात सुनी। मैं तो दंग रह गया।" मोहन ने कहा।

उत्सुकता से उसके चाचा ने पूछा—क्या?

मोहन बोला—जगदीश के मुहल्ले में दो सेठ रहते हैं। वे एक पार्क में बेंच पर बैठे हवा खा रहे थे। शाम के वक्त बादल घिर आये, तो उनमें से लाला हरकिशनलाल बोले—जान पड़ता है, आज पानी ज़रूर बरसेगा।

लाला गोपीनाथ ने जवाब दिया—ग़लत बात है। तुम क्या जानो कि कौन बादल बरसनेवाले होते हैं और कौन सिर्फ़ गरजनेवाले।

इस बात पर हरकिशन को ताव आ गया। बोले—आप कहते क्या हैं? क्या मैं इतना भी नहीं जानता? क्या आप मुझे एक अबोध बच्चा समझते हैं?

गोपीनाथ ने बिल्कुल गम्भीर होकर जवाब दिया—अबोध बच्चा भी कभी ऐसी ग़लती नहीं करता। आप की बुद्धि तो उससे भी गयी-गुज़री है। मैं कहता हूँ, आज पानी बरसना दूर रहा, छिड़काव तक नहीं हो सकता।

हरकिशन से अब और सहन न हुआ। बोले—तब फिर कुछ-कुछ हार-जीत ठहर जाय। यों बातें लड़ाने से क्या फ़ायदा? अरे हाँ फिर, दो-चार हज़ार की ही सही। आप भी क्या कहेंगे कि किसी से पल्ला पड़ा था।

गोपीनाथ बोले—तब तो इसका मतलब यह हुआ कि आप रुपये की गरमी से अपनी बात मनवाना चाहते हैं। अच्छी बात है। मैंने भी अब तक पैदा ही पैदा किया है, खोया कुछ भी नहीं है। आज ऐसा ही सही! बोलिए, कितने की बाज़ी रही?

लाला हरकिशनलाल ने जवाब दिया—दो हज़ार से नीचे तो मैं कभी बदता नहीं।

लाला गोपीनाथ ने स्वीकार कर लिया। फल यह हुआ कि पानी सचमुच कल क़तई नहीं बरसा और लाला हरकिशनलाल को लाला गोपीनाथ के आगे हार मान लेने के कारण आज दो हज़ार रुपये दे देने पड़े। इसी विजय के उपलक्ष्य में गोपीनाथ के घर दावत थी। जगदीश ने मुझे बतलाया है।

चाचा—यह जुआ है।

मोहन तो आश्चर्य से चकित हो गया। बोला—आप कहते क्या हैं चाचा जी! जुआ तो सुरही को कहते हैं, जो दिवाली पर खेला जाता है।

चाचा—केवल सुरही की चाल से बाज़ी लड़ाना जुआ नहीं है। जुआ अनेक प्रकार का होता है। रेस में लोग बाज़ी लगाते हैं, लाटरी में टिकट ख़रीदते हैं, चौसर के खेल में भी जुआ होता है। तुम शायद जानते ही हो कि इसी खेल में पांडव अपना सब राज्य हार गये थे। ताश के खेल में रनिंग-फ़्लश एक खेल होता है। उसमें हर एक चाल के लिए रुपये-पैसे की एक सीमा रहती है। जब पत्ते ज़ोरदार आ जाते हैं, तब चाल बढ़ जाती है। कभी-कभी उसमें लोग अपनी सारी सम्पत्ति तक रख देते हुए देखे गये हैं। ये सब लोग असल में जुआ ही तो खेलते हैं।

मोहन—लेकिन अभी तक मैं यह नहीं समझा कि जुआ कहते किसको हैं।

चाचा—अच्छा, तो तुम यह चाहते हो कि मैं तुमको जुए की परिभाषा बतलाऊँ।

मोहन चुप रहकर सिर ज़रा-सा नीचा करके थोड़ा मुसकराने लगा।

चाचा बोले—फल के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त किये बिना जब लोग केवल

संयोग पर अवलम्बित रहकर कोई वाज़ी वद देते और फलतः रुपये-पैसे अथवा सम्पत्ति के रूप में उससे होनेवाले लाभ-हानि के उत्तरदायी होते हैं, तब उस रीति को जुआ कहते हैं। जैसे मैं कहने लगूँ कि आज तुम्हारे मामा राजाराम अवश्य आनेवाले हैं। और तुम कहते जाओ कि आज तो वे आ नहीं सकते। इसी विवाद को लेकर हम लोग आपस में पचीस रुपये की हार-जीत तै कर लें, तो यह जुआ होगा। परन्तु शर्त यह है कि राजाराम के आने न आने के सम्बन्ध में किसी को कोई ज्ञान न हो। अर्थात् दोनों ही स्थितियाँ सम्भवजन्य हों। वे आ सकते हों, और नहीं भी आ सकते हों। या मान लो, कोई आम है। मेरे देखने में वह मीठा मालूम होता है। परन्तु तुम कहो कि यह तो विल्कुल खट्टा है। अब अगर हम दोनों इसके सम्बन्ध में अबोध हों और तो भी इस पर एक वाज़ी वद लें और फलतः उससे होनेवाले लाभ-हानि के उत्तरदायी हों, तो यह जुआ होगा।

मोहन ने पूछा—अच्छा चाचा, मान लो, मैंने कहा कि मैं इस साल मैट्रिक में फ़र्स्ट डिवीज़न पाऊँगा। अगर न पाऊँ, तो १००) ज़ुरमाना दूँगा और अगर पा जाऊँ तो मुझे १००) आप इनाम के रूप में दें। मेरी यह वाज़ी भी क्या जुए में शामिल मान ली जायगी।

चाचा—यह जुआ नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें तुम्हारा प्रयत्न भी शामिल है। यह बात केवल संयोग की नहीं हो सकती। यह भी संभव है कि तुम्हें अभी से अपनी योग्यता पर पूर्ण विश्वास हो, और आगे भी तुम बराबर प्रयत्नशील बने रहो, तो प्रथमश्रेणी प्राप्त करना तुम्हारे लिए कुछ भी कठिन न होगा। इसमें तुम सफल हो सकते हो। परन्तु जुए में ऐसा नहीं होता। उसमें आदमी प्रायः अन्धकार में रहता है। बादलों के सम्बन्ध में भी यह कह सकना कठिन है कि आज वे बरसेंगे या नहीं, हाँ, कोई विशेष कारण ही हो तो बात दूसरी है। बिना विशेष ज्ञान के जो लोग बाज़ी बद लेते हैं, वे केवल संयोग के आधार पर ऐसा करते हैं। इस प्रकार बाज़ी बद लेना ही जुआ है।

मोहन—पर मैंने सुना है कि कुछ लोग अपने गाँव से केवल लोटा-डोर

लेकर चले और भूलते-भटकते पहुँच गये कलकत्ता या बम्बई। धीरे-धीरे उन्होंने या तो कोई मामूली-सी परचूनी की दूकान कर ली, अथवा उसका भी सुभीता न हुआ, तो पापड़ ही बनाकर बेचने लगे। होते-करते ऐसा भी अवसर आ गया कि सोने-चाँदी की मँहगी या मंदी को लेकर वे भविष्य के भाव पर कोई बाज़ी लगाकर दो-चार महीने में मालदार बन बैठे। तो यह क्या चीज़ हुई चाचाजी ?

चाचा—यह सट्टेबाज़ी है। इसमें वस्तुओं की भविष्य की दर के सम्बन्ध में सौदा किया जाता है। कुछ लोग वस्तुओं की दरों का भविष्य जानने में विशेषज्ञ हो जाते हैं, उनको इस बात का अन्दाज़ हो जाता है कि अमुक वस्तु का भाव इतने समय के बाद गिरेगा, अथवा चढ़ेगा। ऐसे लोग जब अपने ज्ञान के आधार पर कोई सौदा करते हैं, तब उसे सट्टेबाज़ी कहते हैं। परन्तु इस तरह का सौदा भी ख़तरे से ख़ाली नहीं होता। क्योंकि अन्दाज़ में कभी-कभी भूल भी हो सकती है। अन्दाज़ तो आख़िर ठहरा अन्दाज़, ग़लत भी वह उतर सकता है। तभी तो सट्टेबाज़ी के फेर में पड़कर बड़े-बड़े लखपती आदमी कुछ ही दिनों में अपनी सारी सम्पत्ति खो बैठते और दिवालिये होकर कंगाल हो जाते हैं।

मोहन—जब यह सौदा इस तरह ख़तरे का है, तब लोग इसके फेर में बेकार पड़ते हैं। सौदा तो ऐसा करना चाहिए, जिसमें लाभ निश्चित रूप से होने की सम्भावना हो। पर जिस सौदे में सभी अनिश्चित हो, उसमें पैसा लगाना तो निरी मूर्खता है।

चाचा—परन्तु सट्टेबाज़ी से जन-साधारण को लाभ भी पहुँचता है। जब लोग वस्तुओं की क़ीमत का भविष्य जानने में विशेषज्ञ हो जाते हैं, तब उनका यह ज्ञान वस्तुओं की माँग और पूर्ति के सम्बन्ध में सूक्ष्म अध्ययन का परिणाम होता है। जब उनको इस बात का विश्वास हो जाता है कि भविष्य में किसी वस्तु की क़ीमत गिर जायगी, तो वे एक ख़ास क़ीमत पर उस वस्तु को भविष्य में बेचने का सौदा करते हैं। और इस प्रकार वे वस्तु की क़ीमत को भविष्य में अधिक गिरने से बचाते हैं। इसके विपरीत जब उनको विश्वास हो जाता है कि भविष्य में अमुक वस्तु की क़ीमत बढ़

जायगी, तो वे एक ख़ास क़ीमत पर उसको भविष्य में ख़रीदने का सौदा करते हैं। मान लो कि किसी समय सोने की क़ीमत ४०) तोला है। अब कोई सट्टेबाज़ यह अनुमान लगाता है कि सोने की क़ीमत तीन महीने के बाद ४५) तोला हो जायगी। वह बाज़ार में जाकर ४४) तोले पर तीन महीने बाद १००० तोला सोना ख़रीदने का सौदा करता है। यदि उसका अनुमान ठीक निकलता है और तीन महीने बाद सोने का भाव ४५) तोला हो जाता है, तो उसे प्रति तोला एक रुपया अर्थात् १०००) रुपये का लाभ हो जाता है।

मोहन—अच्छा चाचा, अगर सभी सट्टेबाज़ इस तरह सोचने लगें और अपनी ख़रीद का सौदा करें, तो?

चाचा—तो सम्भव है, सोने का मूल्य ४५) रुपये तोले तक न बढ़कर केवल ४४।) रुपये तोले तक ही बढ़े। परन्तु उस दशा में भी प्रत्येक ऐसे सट्टेबाज़ को ।।।) प्रति तोले के हिसाब से लाभ तो अवश्य हो जायगा।

मोहन—तब तो कहना पड़ेगा कि सट्टेबाज़ी से जन-साधारण को एक तरह से लाभ ही होता है।

चाचा—हाँ, विशेषज्ञ सट्टेबाज़ों के सौदों से वस्तुओं की क़ीमत के घट-बढ़ में कमी तो हो जाती है और इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार उपभोक्ताओं को प्रायः लाभ होता है। किन्तु हमारे देश का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि प्रत्येक बड़े शहर में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो वस्तुओं की मांग और पूर्ति के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं रखते और केवल संयोग पर भरोसा करके भविष्य का सौदा कर बैठते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कभी-कभी तो उनका अनुमान ठीक निकलता है और उन्हें लाभ हो जाता है, परन्तु कभी कभी उनका अनुमान ग़लत भी निकल जाता है, तब उनको इतनी अधिक हानि सहन करनी पड़ती है कि उनका जीवन ही भार रूप हो जाता है। मैंने ऐसे बहुत क़िस्से सुने हैं कि सट्टे में हार जाने के कारण लोगों ने आत्मघात तक कर लिया है। यह स्थिति वास्तव में बड़ी भयावह है।

मोहन—तो चाचा, जो लोग इस तरह हज़ारों-लाखों रुपये का सौदा करते

हैं, वे उस भाव पर माल ख़रीदकर अपने यहाँ रख लेते होंगे और फिर जब उसकी अवधि आ जाती होगी, तब बेच देते होंगे।

चाचा—नहीं, ऐसा नहीं होता। ये लोग माल ख़रीदते नहीं, भविष्य की तिथि पर जो बाज़ार-भाव होता है, सौदे की दर से उससे पड़नेवाले अन्तर की रक़म लेते या देते हैं। इस तरह ये लोग सट्टेबाज़ी में पूरा रुपया नहीं लगाते, केवल अन्तर चुका देने भर की जिम्मेदारी का निर्वाह करने की शक्ति रखते हैं।

मोहन—तब तो इन लोगों को कभी-कभी बड़ी कठिनाई में पड़ जाना होता होगा।

चाचा—कठिनाई! अरे जब कभी इनके पास अन्तर की रक़म चुकाने का सुभीता नहीं होता, तब इन्हें अपनी स्त्री का गहना तक बेचकर घाटे की रक़म पूरी करनी पड़ती है। मकान, जायदाद, मोटर, गाड़ी वग़ैरह सभी बिक जाते हैं। कल जिनकी कोठियाँ खड़ी रहती हैं, आज वे दिवालिये हो बैठते हैं और किराये पर रहने के लिये उन्हें मकान तक नहीं मिलता। यहाँ तक कि अगर उनका कोई सगा सम्बन्धी, आत्मीय या आश्रयदाता न हुआ, तो उनका सामान सड़क पर मारा-मारा फिरता है। बाल-बच्चे अलग रोते और विलाप करते पाये जाते हैं! ऐसा भयानक और दुःखद दृश्य उपस्थित हो जाता है कि देखकर आखों में आँसू आ जाते हैं!

मोहन—गाँवों में भी ऐसे जुआड़ियों की कमी नहीं होती चाचाजी। कभी-कभी मैंने सुना है कि दिवाली में मुहल्लेभर में और तो सभी के घर हँसी-ख़ुशी के साधन और सामान जुटाये गये, पर गार्गीदीन के घर चूल्हा तक नहीं जला! बात यह थी कि वे जुए में कई सौ रुपये हार गये थे और अन्त में स्त्री की निगाह बचाकर उसका सारा ज़ेवर तक चुराकर उठा ले गये थे!

चाचा—इस तरह के जुए से देश की बड़ी हानि होती है। देहात में दिवाली के अवसर पर तो यह जुआ केवल दो दिन होता है। परन्तु शहरों में वस्तुओं के भावी भाव को लेकर जो सौदे होते हैं—और हमें कहना पड़ेगा कि जो अधिकांश रूप से जुए ही होते हैं—वे तो वहाँ नित्य होते रहते हैं। इससे औद्योगिक और व्यावसायिक शक्तियों का निरन्तर जो क्षय

होता है, वह वर्णन से परे है। सरकार को चाहिए कि इसपर नियंत्रण करे।

चाचा-भतीजे में ये बातें हो ही रही थीं कि उसी समय मोहन से मिलने के लिये जगदीश आ पहुँचा। बोला—चलो, घूमने चलते हो।

मोहन ने कहा—चाचा जी, अभी मैं इन्हीं की बात कह रहा था। क्यों, लाला हरकिशनलाल जी को आख़िर दो हज़ार रुपये देने ही पड़े?

जगदीश ने जवाब दिया—रुपया तो उन्होंने चुका दिया, पर आज ही वे बम्बई भाग गये हैं। कहते गये हैं, अब जब तक दस-पाँच हज़ार रुपये पैदा न कर लूँगा तब तक यहाँ आकर मुँह न दिखाऊँगा!

पचासवाँ अध्याय

क्रय-विक्रय का आदर्श

"देखो मोहन, वह वृद्ध आदमी जो धीरे-धीरे टहलता हुआ जा रहा है, जानते हो, कौन है ?"

चाचा ने मोहन से पूछा।

मोहन ने जवाब दिया—मैं तो नहीं जानता चाचा। पर क्या ये महाशय कोई ऐसी विशेषता रखते हैं, जिसके जानने की मुझे आवश्यकता ही हो ?

चाचा—ये हमारे नगर के गौरव हैं। कलकत्ता और बम्बई जैसे नगरों में इनकी बड़ी-बड़ी दुकानें हैं।

मोहन—इससे क्या ? दूकानें तो ऐसे सैकड़ों आदमियों की हो सकती हैं। लक्ष्मी ऐसी वस्तु है कि जिसके पास होती है, उसमें गुण-ही-गुण देख पड़ते हैं। सारे अवगुण उसके छिप जाते हैं। कोई ऐसी बात बताइये, जिससे इनकी महानता पर प्रकाश पड़े।

चाचा—तो फिर सुनो। अब इनकी अवस्था सत्तर वर्ष से ऊपर है। लेकिन जब ये चौदह वर्ष के थे, तो मंगलपुर से कानपुर भाग आये थे। कहते हैं, उस समय इनके पास फूटी कौड़ी भी न थी। साथ में केवल एक लोटा-डोर था। ओढ़ने और बिछाने तक के लिए इनके पास कपड़े न थे।

मोहन ने आश्चर्य्य से कहा—अच्छा !

चाचा—हाँ, तभी तो मैंने पहले ही कहा था, ये हमारे नगर के गौरव हैं।

मोहन—किन्तु यह तो केवल आर्थिक दृष्टि से उन्नति करने की बात हुई।

चाचा—पर आर्थिक दृष्टि से उन्नति करना कोई मामूली बात नहीं है। जो व्यक्ति अपनी ईमानदारी, मेहनत और असाधारण प्रतिभा की बदौलत इतनी उन्नति कर सकता है, अवश्य ही वह हमारी प्रशंसा का पात्र है।

मोहन—अच्छा तो बतलाइये। मैं अब बीच में नहीं बोलूँगा।

चाचा—सबसे पहले इन्होंने एक हलवाई की दूकान पर कड़ाई आदि बर्तन मलने का काम किया। दिनभर सबेरे से लेकर रात के ग्यारह बजे तक ये उस दूकान पर काम करते थे और रात को जब दूकान बन्द हो जाती, तो उसी पर सो जाते। बिछौने के स्थान पर दूकान की कड़ी जमीन होती और तकिया के स्थान पर इनके हाथ। खाने को दूकान में जो कुछ भी मिल जाता, उसी पर संतोष कर लेते। नहीं तो खाने को रोटी नहीं मिली। कभी बासी ठण्डे पराठे, कभी पूरी अथवा बची-खुची मिठाइयों के टुकड़े-मात्र इनका भोजन रहता था। कहते हैं, प्रारम्भ के उन दिनों कभी ऐसा नहीं हुआ कि भोजन से इन्हें तृप्ति मिली हो। देहात से आते समय जो शरीर यथेष्ट तन्दुरुस्त था, आग, धुएँ, मक्खियों, कीड़ों तथा बर्रों से घिरे और रात-दिन के काम से लथ-पथ, पसीने से तर रहकर काम में पिसते रहने के कारण वह अब क्षीण हो चला था। माता-पिता नहीं थे, भाई भी कोई नहीं था। काम से इतनी भी छुट्टी नहीं मिलती थी कि कहीं घड़ी-दो-घड़ी के लिए टहल ही आते। दूकान से भागजाने को जी होता था। लेकिन जब ख्याल आ जाता कि गाँव में तो रोटी का एक टुकड़ा भी देनेवाला कोई नहीं है, तो मन मसोसकर रह जाते थे। कोई भी तो ऐसा नहीं था, जिससे अपना दुख कहते। कभी-कभी रात में नींद नहीं आती थी। गाँव के ही स्वप्न देखते रहते। बचपन याद आता, साथ के अवारा लड़के याद आते और माता-पिता का प्यार याद आता। घंटों रोते रहते।

एक दिन की बात है, एक और पड़ोसी दूकानदार ने इनको रात के बारह बजे इसी दशा में देख लिया। उसके हृदय में दया थी, धर्म था। उसने पूछा—आज इतनी रात को सोने के बजाय रोते क्यों हो रामधन?

पर रामधन हिचकियाँ मार-मारकर रो रहा था। कोई जवाब वह उस समय कैसे देता ?

आगन्तुक ने फिर पूछा—आख़िर बात क्या है रामधन कुछ तो बताओ।

रामधन ने तब अपना सारा दुख-सुख उस दूकानदार से कह दिया। इसका फल यह हुआ कि दूसरे दिन से उसे हलवाई की दूकान छोड़कर इस नये दूकानदार के यहाँ नौकरी मिल गयी।

अब रामधन को पहले की अपेक्षा कुछ आराम था। यह दूकान किसी एक चीज़ की नहीं, बल्कि बहुतेरी चीज़ों की थी। पेटेंट साबुन, तेल, कंघा, क़ैंची, ब्रश, टुथपेस्ट, बच्चों के तरह-तरह के खिलौने, छड़ियाँ, छाते, सोडा, चाय के प्लेट्स, क़लम, दवात, स्याही, लालटेन, शीशे के गिलास, बूट की पालिश, फ़ीते—तात्पर्य यह कि दैनिक व्यवहार में आनेवाली सैकड़ों वस्तुओं की वह दूकान थी। एक शब्द में कहूँ, तो कहना होगा कि उसके दूकानदार जनरल मर्चेण्ट थे। यहाँ रामधन को केवल आध पेट भोजन नहीं, वरन् नक़द दस रुपये मिलते थे। खाने के लिए दूकानदार ने एक होटल में प्रबन्ध कर दिया था। वक्त ज़रूरत पर रामधन उस होटलवाले की भी कुछ सेवा कर देता और इस कारण वह उस रामधन से (पाँच रुपये) भोजन का लागत मात्र ही ले लेता था। दूकान पर उसे सवेरे दस बजे से रात के नौ बजे तक रहना पड़ता। अब वह खुली हवा में साँस ले सकता था, घूम सकता था, और अपने भविष्य के सम्बन्ध में सोच सकता था। कभी-कभी होटल में आनेवाले बाबुओं से उसे कुछ पैसे भी इनाम के रूप में मिल जाते थे। और इस तरह चार-पाँच रुपये महीने वह बराबर बचा लेता था।

किन्तु रामधन का अब तक का यह जीवन ऐसा था, जिसे हम अपने पैरों खड़ा होने योग्य बनने का पहला क़दम कह सकते हैं। इस दशा में रामधन ने केवल तीन वर्ष नौकरी की। अब उसके पास लगभग दो सै रुपये हो गये थे। रात-दिन वह यह सोचा करता था कि क्या कभी कोई ऐसा दिन भी होगा, जब इसी तरह की एक दूकान उसकी भी होगी। काम करते-करते वह इसी तरह के स्वप्न देखा करता।

रामधन सेवा के कार्य में बड़ा निपुण था। दूकान पर उसके सुपुर्द जो कुछ काम था, उसे तो वह पूरा करता ही था। साथ ही दूकानदार लाला जगतनारायण के घर पर अक्सर चला जाता और जगतबाबू के घर के अन्दर जाकर गृहस्थी-सम्बन्धी आवश्यक सामान भी ले आता। इसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे वह लालाजी के परिवार का एक विश्वास-पात्र नौकर हो गया।

रामधन चाहता, तो एक छोटी-मोटी दूकान अब भी कर सकता था। पर उसके सामने एक बड़ी कठिनाई यह थी कि वह पढ़ा-लिखा कुछ न था और उमर अब उसकी अठारह वर्ष की हो गयी थी। तो भी प्रायः वह सोचा करता, क्या कोई ऐसा दिन होगा, जब मैं इतना पढ़ जाऊँगा कि इसी तरह की दूकानदारी कर सकूँगा। चीज़ों के नाम वह जान गया था। कहाँ से कौन माल किस भाव आता है, इसका ज्ञान धीरे-धीरे उसे हो चला था। किन्तु पत्र-व्यवहार करने की योग्यता भी तो उसे होनी चाहिए थी।

एक दिन की बात है जगतबाबू खाना खाने के लिए घर गये हुए थे। ज्योंही लौटे, तो देखते क्या हैं, रामधन एक स्लेट पर कुछ लिख रहा है। किन्तु ज्योंही उसकी निगाह उन पर पड़ी, त्योंही रामधन ने स्लेट की रेखाएँ मेट दीं। तब दूकान पर बैठते ही उन्होंने सब से पहले वह स्लेट देखी, जिसमें कुछ टेढ़े-मेढ़े अक्षर ग म र स के रूप में बने हुए थे। जब तक दूकानदारी का समय रहा, तब तक तो वे काम में लगे रहे। पर ज्योंही दूकान बढ़ाने की वेला आयी, जगतबाबू ने रामधन से पूछा—दूकान बढ़ाकर तुम घर पर अपना जो वक्त बरबाद करते हो, क्यों न उसको रात्रि-पाठशाला में बिताओ। अभी पढ़ लोगे तो बहुत अच्छा होगा।

बस, फिर क्या था, रामधन रात्रि-पाठशाला में पढ़ने लगा।

इसी तरह दो साल और बीत गये। अब रामधन को वेतन में १२) मिलते थे। ७) महीने की बचत वह अब उससे बराबर कर ही रहा था। इस तरह कुल मिला कर अब उसके पास लगभग पाँच सौ रुपये हो गये थे, जो सेविंग बैंक में उसी के नाम से जमा थे।

उन्हीं दिनों जगतबाबू का एक मकान बन रहा था और उस मकान में उनका सारा रुपया लग चुका था। जाड़े के दिन थे, माल क़रीब-क़रीब चुक गया था। और नया माल मँगाने के लिए अब उनके पास और रुपये नहीं रह गये थे। सोच-विचार में बैठे बैठे वे इतने उदास थे कि चिन्ता-भाव उनकी मुद्रा से स्पष्ट झलकता था। दूकान बढ़ाकर जब वे घर चलने लगे, तो रामधन ने पूछा—बाबू जी, अगर आप मुझे माफ़ कर दें, तो मैं एक बात पूछूँ ? आप आज किसी चिन्ता में डूबे हुए जान पड़ते हैं।

जगतबाबू—लेकिन तुम उस चिन्ता को दूर नहीं कर सकते।

रामधन—लेकिन बाबू, कुछ मालूम भी तो हो। मैंने आपका बहुत नमक खाया है। अगर किसी काम आ सकूँ, तो आप मुझे उसके मौक़े से दूर क्यों रखते हैं ?

जगतबाबू—कुछ रुपये की ज़रूरत आ पड़ी है। दूकान में माल इस क़दर कम है कि अगर एक हज़ार रुपये का और इन्तज़ाम न हुआ, तो दूकान उठा देनी पड़ेगी। उसके बाद क्या होगा, यही सोचता हूँ। चाहूँ तो मकान के आधार पर क़र्ज़ मिल सकता है। पर यह बात है कितनी बेइज़्ज़ती की कि मकान पूरा बन भी न पाये और उसे गिरवी रखने की नौबत आ जाय! घर में ज़ेवर मुश्किल से दो हज़ार का होगा। बीबी से उसे उतरवाता हूँ तो भी घर की शांति भंग होती है। क्या करूँ, क्या न करूँ, कुछ समझ में नहीं आता, रामधन। ऐसा जान पड़ता है, यह मकान मुझे खा जायगा!

रामधन से अब और सहन न हुआ। झट से वह बोल उठा—आप की पूरी सेवा के लायक़ तो मैं अभी नहीं हुआ, लेकिन पाँच सौ रुपये तो जमा कर ही लिये हैं। आप चाहें, तो कल ही निकाल लूँ।

जगतबाबू इस बात को सुनकर उछल पड़े। बोले—अच्छी बात है! रुपये तुम कल उठा लो। रह गये पाँच सौ, सो इतने का प्रबन्ध मैं किसी तरह कर लूँगा।

दूसरे दिन रामधन ने ५००) निकालकर जगतबाबू के हाथ पर रख दिये। उधर जगतबाबू ने पाँच सौ रुपये बैंक से क़र्ज़ ले लिया। इस तरह फ़सल के समय की उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो गयी।

यह सब तो हुआ, लेकिन रामधन की इच्छा अभी पूरी नहीं हुई थी। तीन महीने बाद जगतबाबू ने कह दिया था, जिस दिन तुम्हें रुपये की ज़रूरत हो, कह देना—रुपया तैयार है।

रामधन ने कह दिया—वह तो आप ही का है। मुझे उसकी कोई ज़रूरत नहीं है।

धीरे-धीरे साल का आख़ीर आया और हानि-लाभ का चिट्ठा बनने लगा। रामधन दिन-भर अपने काम में लगा रहता। वह देखता रहता, कौन माल कहाँ से—किस भाव से—आता है। धीरे-धीरे वह अब चिट्ठियाँ पढ़ने लगा था। अक्षर उसके सुन्दर नहीं बनते थे, तो भी शुद्ध-शुद्ध वह लिख तो सकता ही था। अन्त में जब खाता नया बनाया गया और बही का पूजन हो गया तो जगतबाबू ने रामधन से कहा—एक खुशख़बरी तुमको सुनाता हूँ, रामधन।

रामधन ने पूछा—बतलाइये।

जगतबाबू बोले—मेरी गृहिणी ने कल रात में कहा था—रामधन का रुपया बहुत फलता है। इस साल जितना लाभ हुआ उतना कभी नहीं हुआ था। इससे तो अच्छा है, दूकान में उसका एक आने का हिस्सा कर दिया जाय। सो इस साल की जो आमदनी हुई है, उसके तुम्हारे हिस्से की रक़म दो सौ के लगभग होती है। पाँच सौ तुम्हारी जो पूँजी है, वह इससे अलग है। कुल मिलाकर ७००) होते हैं। ये रुपये या तो तुम मुझसे कल ले लो, या दूकान के हिस्से के रूप में जमा रक्खो।

मोहन इसी समय बोल उठा—उस दिन से रामधन जगतबाबू की दूकान में एक आने का हिस्सेदार हो गया।

चाचा—लेकिन रामधन की उन्नति का यह इतिहास तो अभी प्रारम्भ का ही है। इसके बाद जो उसका असली विकास हुआ, उसकी कथा भी कम रोचक नहीं है। सृष्टि का यह चक्र बड़ा विचित्र है। किसके उत्थान के साथ किसका पतन मिश्रित है, संलग्न है, कोई नहीं जानता। जगतबाबू एक दिन इस असार संसार को छोड़कर चलते बने। और तब रह गये, उनके वे

बच्चे, जो अभी पढ़ ही रहे थे। दुख-सुख तो जीवन के साथ लगे हैं। किन्तु काल-चक्र तो अपनी गति से चलता ही रहता है। जगतबाबू को मनुष्य की पहचान थी, वे रामधन की विकासशील प्रतिभा और ईमानदारी से परिचित थे। परन्तु उनके देहावसान के बाद, उनके बड़े लड़के, जो यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे, रामधन से परिचित न थे। कुछ अवारा दोस्तों ने उनके कान भर दिये। और उसका फल यह हुआ कि रामधन को उसका हिस्सा देकर उन्होंने उसे दूकान से अलग कर दिया।

यह सब कुछ हुआ, किन्तु रामधन के हृदय में कोई अन्तर नहीं आया था। दूकान से अलग होकर उसने अलग दूकान तो करली, पर जगतबाबू के परिवार के प्रति उसकी श्रद्धा का भाव अब भी कम नहीं हुआ था।

उधर जगतबाबू की दूकान पर जो दूसरा आदमी रक्खा गया वह खाऊ था। उसकी नियत अच्छी नहीं थी। अतः उसका नतीजा यह हुआ कि वह दूकान टूट गयी।

मोहन—किन्तु रामधन की दूकान तो तब और भी उन्नति पर रही होगी।

चाचा—उसकी दूकानदारी जो बराबर उन्नति करती गयी, उसका एक रहस्य था।

मोहन—वह क्या ?

चाचा—बात यह है कि उसने कभी भी अपने ग्राहकों को ठगने का प्रयत्न नहीं किया। ईमानदारी से काम करना ही उसकी सफलता की कुंजी थी। कभी-कभी वस्तुओं के दाम अनाप-शनाप बढ़ जाया करते हैं। दूकानदारों को यह मौक़ा रहता है कि वे चाहे तो समय के अनुसार कुछ अधिक रुपया लाभ रूप में पैदा करलें, और चाहे अपनी दूकान की साख और भी अधिक बैठा लें।

मोहन—लेकिन जब वस्तुओं का दाम बढ़ गया हो, तब उन बढ़ी हुई क़ीमतों पर माल न बेचना भी कोई बुद्धिमानी तो है नहीं।

चाचा—बात यह है कि वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने पर भी जो दूकानदार उनका अधिक मूल्य नहीं बढ़ाता, थोड़ा ही लाभ लेकर संतोष कर

लेता है, उसके ग्राहकों की संख्या अधिक बढ़ जाती है। और दूकानदारी का यह एक नियम-सा है कि जो ग्राहक एक बार जम जाते हैं, वे बिना विशेष कारण के जल्दी नहीं उखड़ते। रामधन ने ऐसा ही किया। एक तो उसने अन्य दूकानदारों की अपेक्षा वस्तुओं का मूल्य अधिक नहीं बढ़ाया, दूसरे बढ़ी हुई क़ीमतों से होनेवाले लाभ की रक़म को विशेष कोप के रूप में जमा रक्खा।

मोहन—एक ही बात हुई। चाहे उस रक़म को हम अपने स्थायी कोष में जमा कर लें, चाहे उसे अलग रहने दें। जो रुपया एक बार अपना हो चुका, वह हो चुका। उसका उपयोग तो आदमी समय आने पर करेगा ही।

चाचा—एक दृष्टि से तुम्हारा यह कहना ठीक है। पर प्रायः होता यह है कि लोग अत्यधिक लाभ से होनेवाली रक़म को अपने निजी उपभोग में ले आते हैं। किन्तु रामधन ने ऐसा नहीं किया। उसने उस रक़म को वस्तुओं का मूल्य घटने के संकट-काल के लिए सुरक्षित रक्खा।

मोहन—अच्छा, फिर।

चाचा—उसकी दूकान इस बात के लिए भी प्रसिद्ध थी कि एक तो उसमें माल विशुद्ध और नया मिलता है, दूसरे भाव-ताव करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, सब वस्तुओं का दाम निश्चित है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह बच्चा ही हो, चला जाय, दामों में कोई अन्तर न होगा।

मोहन—अच्छा, माना कि एक विशेष कोप के सम्बन्ध में उसने एक नया प्रयोग किया। लेकिन इसका परिणाम आख़िर क्या हुआ?

चाचा—परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों के बाद जब वस्तुओं का मूल्य बराबर घटने लगा, तब उसके समान कुछ अन्य व्यवसायी तो घाटे में आकर समाप्त हो गये, किन्तु रामधन के व्यवसाय पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

मोहन—अच्छा, ठीक है। किन्तु यह प्रयोग उसे सूझा किस तरह?

चाचा—बात यह है कि रामधन अब इतना समर्थ हो गया था कि अर्थ-शास्त्र की बारीक बातों के मर्म को समझ सकता था। उसका अध्ययन बराबर

जारी था। एक बार उसने किसी अर्थशास्त्री से वार्तालाप में क्रय-विक्रय के आदर्श के सम्बन्ध में बहुतेरी बातें जान ली थीं। अवसर आने पर उसने उनका प्रयोग किया और उसे सफलता मिली। और इसी तरह ये रामधन उन्नति करते-करते आज दिन ऐसी ऊँची हैसियत को पहुँच गये हैं।

मोहन—तो क्रय-विक्रय का आदर्श आप यही मानते हैं न, कि लाभ थोड़ा लिया जाय; ताकि विक्रय का परिमाण बढ़ता रहे? वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने पर लाभ के एक अंश को विशेषकोष के रूप में संचित रक्खा जाय, जो उस समय काम आये, जब वस्तुओं का मूल्य घट रहा हो। वस्तुएँ विशुद्ध और नयी दी जायँ और सब के लिये दाम एक हो।

चाचा—हाँ बस, सार रूप में तो यही है।

चाचा-भतीजे ये बातें करते हुए जिस समय घूमकर लौट रहे थे उसी समय रामधन भी उधर से आ निकले।

मोहन सोचने लगा—मनुष्य धूल-भरा हीरा है। कौन जानता था कि एक अनाथ बालक एक दिन इतना बड़ा आदमी बन जायगा!

इक्यावनवाँ अध्याय

वितरण की समस्या
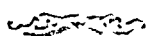
बिहारीबाबू अपनी बैठक में बैठे हुए हैं। एक दैनिकपत्र उनके हाथ में है। चुपचाप उसे पढ़ रहे हैं। पत्र में कानपुर के एक मिल में हड़ताल होने का समाचार छपा हुआ है। इसी समय राजाराम वहाँ आ पहुँचे। आजकल वे भी यहीं आये हुए हैं। कोर्ट में उनका एक मुक़दमा पेश है। पत्र में हड़ताल का समाचार पढ़कर और तत्काल राजाराम को सामने पाकर बिहारीबाबू ने पूछा—तुमने कानपुर की हड़ताल का कुछ हाल-चाल नहीं बतलाया राजाराम ?

इसी समय वहाँ मोहन भी आ पहुँचा।

राजाराम ने कहा—हड़ताल तो बड़े ज़ोर की है। शुरू हुए पन्द्रह दिन हो चुके। मिल मालिक अपनी ज़िद पर स्थिर हैं। हड़ताली मज़दूरों के दल-के-दल शहर की ख़ास-ख़ास सड़कों पर निकलते हैं। सारा शहर उनके नारों से गूँज उठता है। ऊपर से देखने से मालूम होता है कि मज़दूरों का यह आन्दोलन बहुत शक्ति-शाली है। परन्तु भीतरी स्थिति वास्तव में बहुत नाज़ुक है। ज़्यादातर मज़दूर साप्ताहिक वेतन पाते हैं। पाँच-सात दिन व्यतीत हो जाने पर उनके लिए खाने तक का पैसा नहीं रह जाता। मज़दूरों के नेता जब उन्हें उनका हिताहित समझाते हैं, कष्ट उठाकर भी हड़ताल पर दृढ़ रहने के लिए ज़ोर देते हैं, तो जोश में आकर वे प्रतिज्ञा-बद्ध हो जाते हैं। परन्तु सोचने की बात है कि वे भूख की दारुण ज्वाला कहाँ तक सहन कर सकते हैं! अधिकांश मज़दूरों की हालत बहुत ही ख़राब है। इतने ही दिनों

अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं। उनके चेहरे पीले पड़ गये हैं और आँखें तो जैसे
। में धँस गई हैं। जिनके बाल-बच्चे हैं, उनकी हालत और भी ख़राब है।
र खुद भूख सह लेता है, किन्तु बच्चों को भूख से तड़पते हुए
देख सकता। कुछ लोगों ने, जिनमें समाजवादी कांग्रेसमैन प्रमुख
इन लोगों को सहायता पहुँचाने के लिए कुछ चन्दा भी किया है—
आटा-दाल भी बाँटा गया है। परन्तु मज़दूरों की संख्या तो हज़ारों पर
इस तरह किसको-किसको सहायता पहुँचाई जा सकती है? सबसे अधिक
था उन लोगों को सहायता पहुँचाने की है, जो इस तरह खुले तौर से
। दुर्दशा बतलाना नहीं चाहते, चाहे भूखों क्यों न मर जायँ। ऐसे ही
वर की बात है, जब एक मज़दूर की स्त्री अपने बच्चे के लिए दूध का
। न कर सकी, तो गंगा में डूबकर मर गयी!

राजाराम के इस कथन के बाद, कुछ क्षणों तक, कमरे भर में, एक
ा-सा छा गया। तदनन्तर बिहारी ने कहा—यह तो एक विशेष परिस्थिति
त है। परन्तु हमारे देश के मज़दूरों की दशा तो यों भी बहुत ख़राब
उनको न भर-पेट भोजन मिलता है और न तन ढकने को समुचित
। ही। उनको वेतन इतना कम दिया जाता है कि वह सब आवश्यकीय
ों के लिए भी पर्याप्त नहीं होता।

मोहन—मगर मिल-मालिकों को लाभ तो ख़ूब होता है। मिल के बने
दार्थों की बिक्री भी ख़ूब होती है। फिर क्या कारण है कि मज़दूरों को
वेतन नहीं मिलता? सम्भव है, कुछ अयोग्य लोगों को कम वेतन दिया
हो और आन्दोलन सब लोग मिलकर करते हों।

बिहारी—हाँ, यह भी एक कारण हो सकता है; परन्तु विचारणीय यह
कि बिना वेतन बढ़ाये उनकी कार्य्य-क्षमता किस प्रकार बढ़ सकती है?
कारण तो यह है कि हमारे देश में वितरण के सिद्धांतों का पूर्णरूप से
। ही नहीं होता।

राजाराम—यह वितरण की समस्या क्या है और कैसे विकसित हुई है?

बिहारी—तुम जानते हो कि पूर्व काल में (और कहीं-कहीं अब भी)
छोटे गाँवों में कारीगर लोग—जैसे तेली, कुम्हार, चमार, बढ़ई तथा

लोहार आदि—सारा कार्य्य अपने ही हाथों से करते थे। इस उत्पत्ति में घर के ही सब लोग हाथ बटाते थे। और फिर वे जो कुछ तैयार करते थे उसे पास-पड़ोस के हाट में बेच आते थे। इस प्रकार जो कुछ उन्हें बिक्री से मिलता था, वही सब उनकी आमदनी होती थी। वे इसी से अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे। न वे किसी के नौकर थे और न किसी के देनदार।

मोहन—परन्तु उसको कच्चे माल का दाम तो देना ही पड़ता होगा।

बिहारी—नहीं, बहुत-सा कच्चा माल तो उन्हें प्रकृतिक साधनों से मिल जाता था। उस काल में एक ही व्यक्ति प्रायः बहुत सी चीज़ें पैदा करता था। वही सूत कातता था, कपड़ा बुनता था और खेती का काम करता था। ऐसी अवस्था में वितरण का प्रश्न उठना सम्भव ही न था। एक ही व्यक्ति मालिक भी था और मज़दूर भी। वही सब कुछ था।

मोहन—परन्तु यह अवस्था तो बहुत पहले थी। अब तो कहीं भी ऐसी दशा नहीं देखी जाती।

बिहारी—हाँ, जैसे-जैसे जन-संख्या बढ़ती गई मनुष्यों की आवश्यकताएँ बढ़ती गईं तथा उनकी बुद्धि भी विकसित होती गई। नयी-नयी मैशीनें बनायी जाने लगीं। ऐसी बहुत सी मैशीनों का आविष्कार विलायत में १८वीं शताब्दी में हुआ। इन मैशीनों से काम जल्दी और अधिक मात्रा में होने लगा और इनमें मेहनत भी कम पड़ने लगी। अतः स्वाभाविक था कि वस्तुओं के दाम भी कम होते गये। सस्ती वस्तुएँ बनने लगीं और धीरे-धीरे बड़े पैमाने पर उनकी उत्पत्ति होने लगी।

इस प्रकार एक ओर माल सस्ता बनने लगा और दूसरी ओर उनकी बिक्री अधिक होने लगी, तो लाभ भी ख़ूब मिलने लगा। अतः लोगों ने कारख़ानों को स्थापित करना शुरू किया। परन्तु कारख़ाने स्थापित करने के लिए ज़मीन की आवश्यकता पैदा हुई। अतएव लोगों ने कारख़ाने स्थापित करने के लिए ज़मीन भी ली। तब उस पर बड़े-बड़े पुतलीघर बनाये गये।

मोहन—परन्तु आरम्भ में तो यह काम बहुत ही जोखिम का रहा होगा; क्योंकि मज़दूर भी काफ़ी कुशल न होंगे और मालिकों की भी जानकारी परिमित ही रही होगी। इसके सिवा पूँजी के डूब जाने का काफ़ी भय रहता होगा।

बिहारी—इसी लिए तो व्यवस्थापकों ने शीघ्र ही प्रबन्ध किया। कल-पुर्ज़े टूटने के कारण जो हानि होती थी उसके लिए उन्होंने एक अलग कोष क़ायम किया। कुल आमदनी मिलने पर एक निश्चित रक़म इसमें जमा की जाने लगी। बाद में नई मैशीनें ख़रीदी गयीं। हानि से बचने के लिए कारख़ाने का बीमा कराया गया। माल की माँग बढ़ाने के लिए विज्ञापन भी ख़ूब किया गया। इस प्रकार तुम देखोगे कि उन सभी साधनों का जिन्हें हमने तुमको उत्पत्ति के विषय में बतलाते हुए समझाया था, यहाँ समावेश हो गया। अब वर्तमान समय में ज़मीदार से ज़मीन मिलती है, मज़दूरों से श्रम मिलता है, पूँजीपतियों से पूँजी मिलती है और व्यवस्थापक लोग अपनी कुशाग्र बुद्धि से सारे कारख़ाने का संचालन करते हैं। समस्त साधनों का वे उचित रीति से उपयोग करते हैं, जिससे हर एक साधन अधिक-से-अधिक लाभदायक तथा उपयोगी बन सके। फिर इस प्रकार जो द्रव्य उत्पत्ति से प्राप्त होता है उसमें से कच्चे माल का ख़र्च, भाप, बिजली इत्यादि का ख़र्च, मैशीनों की घिसावट, विज्ञापन, बीमा, बिक्री इत्यादि का ख़र्च निकाल देने पर जो रक़म बचती है उसमें इन सभी का हिस्सा होता है। ज़मीदार अपनी भूमि का 'लगान' माँगता है, मज़दूर अपने श्रम की 'मज़दूरी' माँगते हैं, पूँजीपति अपनी पूँजी का 'सूद' माँगता है और व्यवस्थापक भी कारखाने का संचालन करने के लिये 'लाभ' चाहते हैं।

मोहन—मेरी समझ में तो प्रत्येक उत्पत्ति में मज़दूरों को ही अधिक कार्य करना पड़ता है।

बिहारी—परन्तु ज़मींदारों का दावा है कि वे भूमि के मालिक हैं, जो कुछ उनकी भूमि पर होता है, उसमें से अधिकांश के हक़दार वे हैं। कृषि के व्यवसाय में तो वे लोग इस अधिकार को चरितार्थ कर ही लेते हैं, किन्तु अन्य उद्योग-धन्धों में उनका वह महत्व नहीं है।

मोहन—मगर मज़दूरों को ही अधिक हिस्सा मिलना चाहिये। अगर वे कार्य न करें, तो उनकी सारी मैशीनें ही न बेकार हो जायँ?

बिहारी—हाँ, तुम ठीक कहते हो। परन्तु पूँजीपति अपनी पूँजी केवल उन्हीं कार्यों में लगाने के लिए तैयार होते हैं जिनमें अधिक लाभांश उन्हीं को मिले। वे कहते हैं, कि हम पूँजी के मालिक हैं, अगर हम पूँजी न लगायें तो सारा कार्य्य ही बन्द हो जाय। बिना पूँजी के कोई बड़ा धन्धा चल ही नहीं सकता। वे अपने धन का उपयोग रोके भी रहते हैं; क्योंकि मज़दूर को जीविकोपार्जन के लिए कार्य्य मिलना आवश्यक है और उसे विवश होकर पूँजीपति की बातें मान लेनी पड़ती हैं। पूँजीपति ये सब बातें भली प्रकार जानते हैं। इसीलिए वे अपनी ज़िद पर दृढ़ रहते हैं।

इसी प्रकार संचालकों अर्थात् व्यवस्थापकों का कहना है कि यदि वे ठीक प्रकार की व्यवस्था न करें, तो लाभ अधिक न हो, सम्भव है हानि ही हो। यह उन्हीं के परिश्रम का फल है कि इतना अधिक लाभ होता है। मिश्रित पूँजी की व्यापारिक कम्पनियों के विकास के बाद से व्यवस्थापक का महत्व बहुत बढ़ गया है; क्योंकि पूँजी के छोटे-छोटे हिस्सों में बँट जाने से उन्हें जन-साधारण से रुपया मिल जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चारों हिस्सेदार ज़मीदार, श्रमिक, पूँजीपति और व्यवस्थापक अपना-अपना हिस्सा—लगान, मज़दूरी, सूद तथा लाभ—क्रमशः बढ़ाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हरएक यही चाहता है कि उसी को सबसे अधिक मिले।

राजाराम—मुझे तो स्पष्ट देख पड़ता है कि वितरण की यही एक प्रधान समस्या है। इस प्रकार की छीना-झपटी में तो मज़दूर कभी सफल हो ही नहीं सकता, वह तो सदैव सताया ही जाता रहेगा।

बिहारी—यही कारण है कि जहाँ देखो वहाँ मज़दूरों और मालिकों के झगड़े चल रहे हैं। अन्त में पूँजीपति ही सफल होते हैं; क्योंकि सम्पत्ति के मालिक वही हैं। इसीलिए हम लोग वर्तमान औद्योगिक युग को पूँजीवाद का युग कहते हैं। भारत में भी यह समस्या विशेष महत्त्व रखती है। वितरण की समस्या न केवल आर्थिक है वरन् सामाजिक भी है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति

का इससे घनिष्ट सम्बन्ध है। अगर किसी एक हिस्सेदार को अधिक हिस्सा दे दिया जाता है तो यह निश्चय है कि दूसरे हिस्सेदार को उतना ही हिस्सा कम मिलेगा और फिर इस कारण समाज में कलह का होना अनिवार्य्य है।

इसी विषमता ने संसार में एक बृहत् आन्दोलन की नींव डाली है। इसका सबसे अधिक प्रभाव रूस पर पड़ा है। वहाँ पूँजीपति और जमींदार नष्ट कर दिये गये हैं, उनकी सम्पत्ति सरकार ने ज़ब्त करली है। भूमि और पूँजी के साधनों की मालिक सरकार है। उत्पत्ति का प्रबन्ध मजदूरों द्वारा चुनी गई पंचायत के द्वारा होता है। मज़दूरों की सुविधा और सुख के लिए सब प्रकार के साधन जुटाये जाते हैं। वहाँ सब कार्य सामूहिक रूप से किये जाते हैं। व्यक्तिगत रूप से कोई धन्धा करने की आज्ञा वहाँ किसी को नहीं है। सूद, लगान और लाभ लेनेवालों के अभाव के कारण सारी आमदनी वहाँ सरकार के कोष में जमा होती है। इसे वह मज़दूरों के ही लाभ में ख़र्च कर देती है। इस प्रकार की व्यवस्था को समाजवाद कहते हैं। इसमें भी वितरण की समस्या उपस्थित नहीं होती।

मोहन—चाचा, क्या कभी ऐसा समय आ सकता है, जब सारे भारत में यही व्यवस्था प्रचलित हो जायगी ?

बिहारी—क्यों नहीं ? इस समय तो वितरण की समस्या का सबसे उत्तम निराकरण इसी व्यवस्था के द्वारा होना सम्भव जान पड़ता है। किसी-न-किसी हद तक समाजवाद का प्रभाव सारे संसार पर पड़ा है। हमारा देश इससे वंचित कैसे रह सकता है !

राजाराम—मुझे तो वह दिन दूर जान पड़ता है।

बिहारी—मैं तो आशावादी हूँ। जीवन को सदा मैं आशामय देखता रहा हूँ।

उस दिन यह वर्तालाप यहीं समाप्त हो गया। दूसरे दिन जब राजाराम रेवन्यूबोर्ड के दफ़्तर में जा रहे थे, बिहारीबाबू फिर उसी दिन का दैनिक-

पत्र देखने लगे। राजाराम ने पूछा—है कोई नया समाचार?

बिहारी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—कानपुर के मिल-मालिकों ने मज़दूरों की अधिकांश माँगों को स्वीकार कर लिया है और दो-तीन दिन में मिल चालू हो जायँगे।

बावनवाँ अध्याय

आर्थिक लगान

स्कूल से लौटने पर मोहन ने चाचा से पूछा—चाचा, क्या राजाराम मामा चले गये ?

बिहारी ने उत्तर दिया—हाँ, चले गये। क्यों, कुछ कहना था उनसे ?

मोहन—कहना तो कुछ नहीं था। यों ही याद हो आयी। देहात का हाल-चाल उनसे मिलता रहता था। अभी कल उन्होंने बतलाया था कि कालीचरन नाई मय बाल-बच्चों के गाँव से भाग गया है। मैंने जो इसका कारण पूछा, तो उन्होंने बतलाया कि बेचारे के घर छोटे-बड़े सब मिलकर सात व्यक्ति थे, और कमानेवाला सिर्फ़ वह। बक़ाया लगान की नालिश उसके ज़मींदार ने उस पर कर दी थी। उसकी अदायगी में पहले स्त्री के टूटे-फूटे गहने बेच देने पड़े, उसके बाद बैल बेचना पड़ा। बेचारा भूखों मरने लगा था। जब किसी तरह गुज़र-बसर न हुई, तो वह गाँव से भाग खड़ा हुआ। अब कौन जाने कहाँ हो। बड़ा भला आदमी था, बड़ा .खुशामदी भी था। गाँव के प्रजावर्ग में ऐसा भला आदमी दूसरा नहीं है।

बिहारी ने मोहन के इस कथन के उत्तर में कुछ न कहा। तब मोहन को जान पड़ा, मानो चाचा कुछ सोच रहे हैं। परन्तु उसी क्षण मोहन ने कह दिया—

देखो चाचा, ये ज़मींदार लोग किसानों पर कितना अत्याचार करते हैं ! अभी कल किसी पत्र में पढ़ा था कि किसी गाँव के एक किसान की सारी

फ़सल ही तैयार होने पर ज़मीदार ने ज़ब्रन ले ली थी। एक दाना भी न बचा था। और फिर इस दूसरी फ़सल के तैयार होने पर ओला पड़ गया। सारी खेती चौपट हो गयी। जब खाने के लिए उसके पास कुछ न रह गया, तो वह शहर चला गया। उसने सोचा था, वहाँ नौकरी मिल जायगी। परन्तु जब वहाँ उसे नौकरी नहीं मिली, और जब वह बहुत अधीर बल्कि जीवन से निराश होकर सड़क पर चला जा रहा था, यकायक एक मोटर से दबकर बात-की-बात में चल बसा। अब प्रश्न यह उठता है कि ज़मीदारों का यह अत्याचार कब तक चलेगा? लगान की वसूलयाबी के सिलसिले में ऐसे अत्याचार करना सर्वथा निंद्य है।

बिहारी—यही दशा तो सारे देश की है। देश के प्रत्येक प्रान्त में किसान सताये जाते हैं। मगर इसमें ज़मीदार का क्या दोष? उसको भी तो मालगुज़ारी देनी पड़ती है। असल दोष तो शासन-पद्धति का है, जिसने ऐसी व्यवस्था बना रक्खी है। दूसरी समझनेवाली बात इस सम्बन्ध में यह है कि साधारण बोल-चाल की भाषा में जिसे हम लगान कहते हैं और आर्थिक निगाह से जिसे लगान कहेंगे, उसमें बहुत अन्तर है। साधारण बोल-चाल में लगान शब्द से वह रुपया समझा जाता है जो किसान भूमि के उपयोग करने के एवज़ में ज़मीदार को देता है। पर आर्थिक लगान इससे भिन्न होता है। यदि हमें किसी खेत का आर्थिक लगान मालूम करना हो तो उसकी कुल उपज के मूल्य में से लागत-ख़र्च घटा देने से जो कुछ बचेगा है वही 'आर्थिक-लगान' कहलायेगा।

मोहन—आपका अभिप्राय शायद यह है कि लगान की दर खेतों की उपज के अनुसार निश्चित की जानी चाहिये तथा उसी के अनुसार ज़मीदार को लेना भी चाहिये। आर्थिक लगान कैसे निकाला जाता है, इसको एक उदाहरण लेकर समझाइये।

बिहारी—मान लो, एक खेत में—

पूँजी और श्रम की	पहिली इकाई लगाने से		१५ मन नाज	पैदा होता है
,,	दूसरी	,,	१७ मन	,,
,,	तीसरी	,,	१६ मन	,,
,,	चौथी	,,	१४ मन	,,
,,	पांचवीं	,	१० मन	,,
,,	छठी	,,	७ मन	,,

यह भी मान लो कि हमारी एक इकाई बीस रुपये के बराबर है, और उपज की बिक्री बाज़ार में दो रुपया प्रति मन के हिसाब से होती है। तो पाँचवीं इकाई तक श्रम और पूँजी खेत में लगायी जायगी, क्योंकि सीमांत लागत-ख़र्च और उसकी उपज का मूल्य इसमें बराबर हो जाते हैं। पाँचवीं इकाई को हम सीमान्त की इकाई कहेंगे और उससे होनेवाली उपज को इस खेत की सीमान्त उपज। इस खेत में जब पूँजी और श्रम की पाँच इकाई लगाई जायँगी तो कुल लागत-ख़र्च १०० रुपये के बराबर होगा। उपज होगी १५+१७+१६+१४+१०=७२ मन। इसका मूल्य हुआ १४४ रुपया। इसमें से लागत-ख़र्च १०० रुपया घटा देने पर ४४ रुपया बचता है। यही ४४ रुपया इस खेत का आर्थिक लगान होगा।

अभी तो एक ही ज़मीन का उदाहरण लिया गया है, परन्तु तुम जानते हो कि सब खेतों की ज़मीन एक-सी उपजाऊ नहीं होती। प्रायः देखा जाता है कि समान-धन और परिश्रम लगाने से, समान-क्षेत्रफलवाले सबसे कम उपजाऊ दूसरे खेत से पहले खेत में अधिक उपज होती है। अतः इन दोनों खेतों की उपज में जो अन्तर होता है, उसी को आर्थिक लगान कहते हैं। भूमि का मूल्य उसकी प्राकृतिक उपयोगिता, मनुष्य द्वारा किये गये स्थायी सुधार तथा बाज़ार से उसकी दूरी पर निर्भर होता है। प्रथम दो कारणों से भूमि की उपज में अन्तर होना आवश्यक है और तीसरे कारण से उपज के बाज़ार-भाव में। जिस प्रकार समान-क्षेत्रफलवाली भूमियों पर समान पूँजी और श्रम की इकाइयाँ किसी खेत में लगाने से 'क्रमागत-ह्रास के नियम' के कारण उपज गिरती जाती है उसी तरह भिन्न-भिन्न प्रकार की

भूमियों में समान पूँजी, श्रम और व्यवस्था लगाने से खेतों की उपज में अन्तर पाया जाता है।

मोहन—चाचा, ज़रा तीन-चार खेतों का उदाहरण लेकर आर्थिक-लगान की समस्या समझाइये।

बिहारी—मान लो, किसी ग्राम में उर्वरा शक्ति के अनुसार चार प्रकार की भूमि है। इनमें से समान क्षेत्रफलवाले चार खेत लिये गये। इनमें पूँजी और श्रम की समान इकाइयाँ लगाने से जो परिणाम निकला, वह नीचे दिया जाता है।

पूँजी और श्रम की इकाई	सीमान्त उपज (मन में)			
	अ	ब	स	द
१	१५	१२	१०	८
२	१७	१३	१०	७
३	१६	१३	९	६
४	१४	१२	८	५
५	१०	९	७	४
६	७	६	५	३

मान लो कि एक इकाई पूँजी और श्रम लगाने से बीस रुपया व्यय होता है, और बाज़ार में उपज का मूल्य दो रुपया प्रति मन है। तो अ भूमि में पाँच इकाई, ब भूमि में चार इकाई और स भूमि में दो इकाई पूँजी और श्रम लगाया जायगा।

इस प्रकार सीमान्त इकाई अ भूमि में पाँचवीं, ब भूमि में चौथी और स भूमि में दूसरी है और सीमान्त भूमि स भूमि है। द भूमि की भूमि पर खेती नहीं होगी। जिस प्रकार पिछले उदाहरण में आर्थिक लगान का हिसाब लगाया गया था, उसी प्रकार इस उदाहरण में लगावें तो अ भूमि का आर्थिक लगान ४४ रुपये, ब भूमि का बीस रुपये और स भूमि का शून्य होगा।

मोहन—उपज के मूल्य में जो परिवर्तन होता है उसका आर्थिक लगान पर क्या प्रभाव पड़ता है?

चाचा—यह भी ऊपर दी गई सारिणी के उदाहरण से ही मैं स्पष्ट करता हूँ। मान लो कि उपज का मूल्य दो रुपये के स्थान पर तीन रुपया प्रति मन हो जाय और पूँजी और श्रम की लागत २० रुपया प्रति इकाई पर ही स्थिर रहे, तो अ भूमि में ६ इकाई, ब में पाँच स में पाँच और ड में दो इकाई तक पूँजी और श्रम लगाया जायगा। इससे उपज में वृद्धि हो जायगी; क्योंकि अब किसानों के लिए अधिक पूँजी और श्रम अ, ब, स खेतों में लगाना तथा चौथे दर्जे की भूमि पर भी खेती करना लाभदायक हो जायगा। आर्थिक लगान में भी वृद्धि होगी। पहिले ही की भाँति हिसाब लगाने से अ भूमि का आर्थिक लगान ११७ रुपया, ब का आर्थिक लगान ७७ रुपया, स का ३२ रुपया और ड का ५ रुपया होगा।

किन्तु उपज की माँग यदि बढ़ने के स्थान पर घट जाय, जैसा संसारव्यापी आर्थिक मन्दी के समय में हुआ था, तो उसका मूल्य गिर जायगा। मान लो कि उपज का मूल्य दो रुपया प्रति मन के स्थान पर केवल डेढ़ रुपया प्रति मन रह जाय, तो केवल अ भूमि पर चौथी इकाई तक ही पूँजी और श्रम लगाया जायगा। इससे आर्थिक लगान में भी बहुत कमी हो जायगी। अ भूमि पर वह केवल १३ रुपये के बराबर होगा। ब, स, ड की निम्नकोटि की भूमियों पर तो खेती होगी नहीं।

मोहन—पूँजी और श्रम के लागत-ख़र्च में घट-बढ़ होने से आर्थिक लगान पर क्या प्रभाव पड़ता है?

चाचा—मान लो कि ऊपर दी गई सारिणी में पूँजी और श्रम की इकाई का मूल्य २० से बढ़कर तीस रुपया हो जाय, और उपज का मूल्य वही दो रुपया प्रति मन रहे, तो केवल अ भूमि में तीसरी इकाई तक ही पूँजी और श्रम लगाया जायगा। बाक़ी तीन प्रकार की भूमियों पर खेती न हो सकेगी। उसका आर्थिक लगान भी बहुत कम रहेगा—अर्थात् केवल छः रुपया।

यदि किसी प्रकार श्रम और पूँजी की लागत बीस रुपया प्रति इकाई के स्थान पर केवल दस रुपया प्रति इकाई रह जाय तो अ, ब, स भूमियों में छठी इकाई तक और ड क्षेत्र में चौथी तक पूँजी और श्रम लगाया जायगा, जिससे उपज में बहुत वृद्धि हो जायगी और आर्थिक लगान भी अधिक होगा।

वह अ भूमि में ६८ रुपये, ब भूमि में ७० रुपये, स भूमि में ३८ रुपये ड भूमि में भी १२ रुपया होगा।

मोहन—यातायात की सुविधाओं के बढ़ाने का भी आर्थिकलगान पर कुछ असर अवश्य पड़ता होगा।

चाचा—यातायात के साधनों की सुविधा दिखलाने के लिए हम ऊपर दी गई सारिणी में से केवल दो ही भूमि अ और ब लेंगे। इनमें से अ भूमि जो विशेष उपजाऊ है, सड़क से दूर किसी ग्राम में स्थित है। और ब भूमि जो कम उपजाऊ है, नगर के निकट ही स्थित है। अब यदि हम लागत-ख़र्च दोनों भूमियों में एक ही अर्थात् बीस रुपया प्रति इकाई मानलें, तो भी उपज के मूल्य में अन्तर रहेगा। मानलो कि अ भूमि की उपज का मूल्य दो रुपया प्रति मन तथा ब भूमि की उपज का मूल्य तीन रुपया प्रति मन है। इससे अ भूमि में श्रम और पूँजी की पाँच इकाइयाँ लगायी जायँगी और उसका आर्थिक लगान ४४) होगा। ब भूमि में भी श्रम और पूँजी की पाँच ही इकाइयाँ लगेंगी, किन्तु उसका आर्थिक लगान ७७) होगा। इससे यह मालूम होता है, कि यद्यपि ब भूमि अ से कम उपजाऊ है, किन्तु नगर के निकट स्थित होने से उसका आर्थिक लगान अधिक है। यदि मान लिया जाय कि अ भूमि के निकट एक सड़क नगर तक ऐसी बना दी गई है, जिसपर नाज नगर के हाट तक ले जाने का ख़र्च ८ आना प्रति मन होता है तो गाँव में भी अनाज का मूल्य २) के स्थान पर २½ रुपया प्रति मन हो जायगा; क्योंकि कृषक को फिर आठ आना प्रति मन ढुलाई देकर तीन रुपया प्रति मन के हिसाब से नगर के हाट में बेचने का अवसर मिलेगा। उपज के भाव में इस वृद्धि का प्रभाव आर्थिक लगान पर भी पड़ेगा। अ भूमि में श्रम और पूँजी की अब भी पाँच ही इकाइयाँ लगाई जायँगी। किन्तु आर्थिक लगान ४४ रुपये के स्थान पर ८० रुपया हो जायगा।

मोहन—अच्छा चाचा, आर्थिक लगान के सिद्धांत को सबसे पहले किसने किस प्रकार प्रतिपादन किया?

चाचा अंग्रेज़ी अर्थशास्त्री रिकार्डो ने। रिकार्डो का मत था कि लगान भूमि की उर्वरा तथा नाश न होनेवाली शक्तियों के कारण उत्पन्न होता है।

उसका कथन है कि किसी नये देश में सबसे पहले उपजाऊ भूमि पर खेती होती है, फिर जन-संख्या की वृद्धि के कारण कम उपजाऊ भूमि उपयोग में लाई जाने लगती है। इन दोनों भूमियों की उपज में अन्तर होने से ही आर्थिकलगान का विकास होता है। यदि हम अधिकाधिक भूमि पर खेती करते चले जायँ तो ऐसा अवश्य होता है; किन्तु यदि हम उसी भूमि पर अधिकाधिक लागत लगाते जायँ, तो फिर प्रति पूँजी और श्रम की इकाई पर उपज कम ही होती जायगी, जैसा मैंने अभी तुमको उदाहरण देकर समझाया था।

वास्तव में भूमि का परिमित होना ही लगान का कारण है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण जब नाज की माँग बढ़ने लगती है, तो सब प्रकार की भूमियों पर अधिकाधिक पूँजी, परिश्रम और व्यवस्था लगाकर खेती की जाती है। किन्तु एक साधन के परिमित होने के कारण 'क्रमागत-ह्रास-नियम' शीघ्र लागू हो जाता है। यदि भूमि सीमित न हो तो यह नियम लागू न हो और यदि यह नियम न लागू हो तो कृषक को निम्नकोटि की भूमियों पर न जाना पड़े।

मोहन—तो फिर ऐसी दशा में लगान का उपज के मूल्य पर कोई असर ही न पड़ता होगा। मगर आजकल तो ऐसा नहीं देखा जाता।

बिहारी—तुम ठीक कहते हो। साधारणतया लगान का मूल्य निर्धारण करने में कुछ भी असर नहीं पड़ता है। बाज़ार में जितनी माँग है उसी की हद में सीमान्त भूमि या भाग की उपज से किसान का केवल लागत-ख़र्च आता है। लगान तो उससे अधिक होनेवाली उपज है। अतः मूल्य का निर्धारण लगान से नहीं होता है। हाँ, लगान का निर्धारण मूल्य से अवश्य होता है। इसी से कहा गया है कि आर्थिक लगान मूल्य का अंश नहीं है, वह तो केवल उससे प्रभावित होता है।

मोहन—तो क्या ऐसा सदैव होता है?

बिहारी—नहीं, कुछ ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य हैं, जिनमें लगान का प्रभाव मूल्य के निर्धारण पर पड़ता है। जैसे—

(१) यदि सारे ज़मीदार लोग आपस में एका कर लें, तो वे निकृष्ट-से-

निकृष्ट भूमि का भी लगान ले सकते हैं और तब किसान को उस लगान को अपनी उपज के मूल्य में अवश्य जोड़ना पड़ेगा।

(२) यदि एक भूमि पर गेहूँ बोया जाता है और किसान उस पर ऊख बोना चाहता है, जिसके लिए भूमि विशेष उपजाऊ नहीं है, तो ऐसी अवस्था में ज़मीदार कम-से-कम उतना लगान अवश्य ले लेगा, जितना गेहूँ की फ़सल बोने के समय लेता था। परिणाम यह होगा कि या तो किसान स्वयं ही इस हानि को सहन करेगा, या उसे अपनी उपज के मूल्य में जोड़ लेगा।

(३) यदि किसी देश में अत्यधिक लगान लिया जाता है, तो उसका प्रभाव भी मूल्य निर्धारण पर पड़ेगा।

मोहन—आर्थिक लगान पर दस्तूर, आबादी और स्पर्द्धा का क्या प्रभाव पड़ता है ?

बिहारी—जब आबादी, कारख़ानों की वृद्धि या रेल के खुलने के कारण ज़मीन की माँग बढ़ती है तो आर्थिक लगान भी बढ़ता है और जब आबादी कम होने लगती है तो लगान भी कम होने लगता है। जन-संख्या में वृद्धि होने के कारण, लोग अन्य उद्योग-धन्धा न पाकर खेतों की ओर झुकते हैं। पर भूमि परिमित है इसलिए प्रतियोगिता के कारण भूमि का लगान बहुत बढ़ जाता है।

यह वार्तालाप यहीं स्थगित हो गया; क्योंकि उसी समय मोहन की दृष्टि यकायक मकान से लगी हुई गली की ओर जा पड़ी। उसने देखा कि एक आदमी जो वेष-भूषा में भिक्षुक जान पड़ता है, उसी की ओर स्थिर दृष्टि से देख रहा है। कुछ क्षणों तक तो मोहन ने उसकी ओर देखा, परन्तु जब वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सका तो उसके निकट जाकर उससे प्रश्न कर दिया—क्या चाहते हो ?

भिक्षुक—कुछ नहीं, यही देखता हूँ कि तुम भी मुझे देख रहे हो !

तब तो आश्चर्य्य से चकित होकर मोहन ने कह दिया—अरे ! तुम तो कालीचरन चाचा हो ! ख़ूब भेंट हुई। लेकिन, तुमने यह वेष कैसा बना रक्खा है ? बाल-बच्चे कहाँ हैं ?

मोहन का इतना कहना था कि उस व्यक्ति का प्रमाद सजग हो उठा। वह बोला—

कैसे बाल-बच्चे! मेरे कोई नहीं है। मैं अकेला आया हूँ, अकेला ही जाऊँगा। मैं कोई आदमी हूँ, जो मेरे बाल-बच्चे हों! मैं तो जानवर हूँ, पशु हूँ। नहीं, मैं पशु भी नहीं हूँ। मैं पत्थर हूँ। ह ह ह ह! क्या देखते हो? मैं खाली हूँ!

अब मोहन को पता चला और वह बोला—ओह, यह तो पागल हो गया!

तब एक निःश्वास लेकर मोहन अन्दर चला गया। वह सोच रहा था कि अगर आर्थिकलगान से अधिक इससे ज़बरदस्ती वसूल न किया जाता, तो इसकी यह दुर्दशा कदापि न होती।

तिरपनवाँ अध्याय

ज़मींदारी प्रथा

"चाचा, जिस दिन राजाराम मामा कचेहरी गये हुए थे, उसी दिन लौटने पर उन्होंने बतलाया था कि वहाँ कई मुवक्किल लोग आपस में बैठे बातें कर रहे थे। एक साहब, जो थे तो ज़मींदार और आये भी मुक़दमा लड़ने के ही लिए थे, स्वभाव के बड़े खरे थे। उनका कहना था कि हमारे देश में ज़मींदारी प्रथा ने गाँवों की साधारण जनता का जितना अहित किया है, उतना ब्रिटिश शासन के और किसी अंग अथवा साधन ने नहीं किया। वह दिन सोने का होगा, जब यह महानाशकारी प्रथा हमारे देश से उठ जायगी।"

"एक और साहब थे चाचा जी," मोहन बोला—वह भी कोई ज़मींदार थे। उनका कहना था कि देश में जो भी जागृति इस समय देख पड़ती है, उसका अधिकांश श्रेय उसी वर्ग को है, जो शिक्षित है। और उस शिक्षित वर्ग में अधिकांश लोग, सच पूछिये तो, ज़मींदार ही हैं। जो भी सार्वजनिक संस्थाएँ, चाहे वे राजनैतिक हों अथवा सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी, हमारे देश के अन्दर जागरण का मन्त्र फूँक रही हैं, उनमें से अधिकांश की नींव ज़मींदारो ने डाली है। संकटकाल में, समाचार-पत्रों की ज़मानत अदा करने के रूप में सहायता ज़मींदारों ने की है, सभा-समाजों के संगठन और महोत्सवो के अवसर पर चन्दे की थैलियाँ उन्होने भरी हैं, बाढ़-पीड़ितों, अनाथालयों तथा दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता, शिक्षा-संस्थाओं के निर्माण और विकास, कला-कौशल और उद्योग-धंधों की उन्नति और आज तक

की समस्त हलचलों के सहायक मूलतः ज़मीदार रहे हैं। ऐसी दशा में ज़मीदारी प्रथा के नाश का स्वप्न देखना देश के उस एक वर्ग के साथ विश्वास-घात करना है, जो राष्ट्र के नव-निर्माण में कभी पीछे नहीं रहा, न भविष्य में कभी रह सकता है। रह गयी बात किसानों से अत्यधिक लगान वसूल करने की, सो इसके लिए वे क़तई ज़िम्मेदार नहीं हैं।

अब इस स्थल पर प्रश्न यह उठता है कि यह ज़मीदारी प्रथा क्या इसी तरह प्राचीनकाल से चली आ रही है?

बिहारी—नहीं मोहन, पहले न ज़मीदारी प्रथा ही थी और न अत्यधिक लगान ही। ज़मीदारी प्रथा तो अंग्रेज़ों के आने के समय से आरम्भ हुई है। फिर उसके बाद से ही लगान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती आयी है। आचार्य कौटिल्य के मतानुसार भारत में सबसे पहले मत्स्य-न्याय प्रचलित था। जैसे बड़ी मछली छोटी को खा जाती है, उसी प्रकार बलवान् तथा शक्तिशाली व्यक्ति कमज़ोर आदमियों को दबा लेते थे। इस प्रकार की परिस्थिति दूर करने के लिए प्रजावर्ग ने वैवस्वत मनु को अपना राजा चुन लिया और अन्य प्रकार के करों के साथ कृषि की उपज का छठवाँ भाग राजा को देना स्वीकार किया। परन्तु युद्ध अथवा किसी अन्य आपत्तिकाल के समय चौथाई भाग भी लिया जाता था। इसके एवज़ में राजा ने प्रजा की रक्षा का भार अपने ऊपर लेना स्वीकार किया था। इससे यह नहीं प्रकट होता कि भूमि की मिल्कियत राजा के हाथ में चली गयी।

कौटिल्य के बाद इस प्रथा में कुछ परिवर्तन हुआ। उस समय राजा की कुछ अपनी भूमि भी रहने लगी, किन्तु बाक़ी भूमि कृषकों के ही पास रही।

कर देनेवाले कृषकों के विषय में आचार्य कौटिल्य की सम्मति है कि जो भूमि जिस कृषक के पास है, वह जीवन-पर्यन्त उसी के पास रहे, किन्तु मरने के बाद राजा उसे किसी दूसरे किसान को दे सकता है। किन्तु यदि किसी कृषक ने किसी बंजरभूमि को साफ़ करके खेती करना शुरू किया है तो वह भूमि उसी के पास रहेगी, उससे ली न जायगी।

मोहन—तो क्या यही प्रथा समस्त हिन्दू तथा मुसलमान-काल में भी

रही थी ? अकबर ने तो इस प्रथा में परिवर्तन किया था। उसने सारी भूमि की पैमाइश भी करायी थी।

बिहारी—यही तो मैं बतलाना चाहता हूँ कि केवल आचार्य कौटिल्य के समय में ही नहीं, वरन् भारत के समस्त हिन्दूकाल में 'ज़मींदार' शब्द का नाम तक नहीं मिलता है। ज़मीदारी प्रथा की नींव तो मुसलमानों के आने के बाद पड़ी है। आइन-ए-अकबरी के अनुसार ज़मींदार जागीर या राजकीय ज़मीन की मालगुज़ारी वसूल करने के लिए ही है। इससे वह राज्य का कर्मचारी ही प्रमाणित होता है।

दूसरी बात उस समय तक हम यह पाते हैं कि देश की जन-संख्या आजकल से बहुत कम थी। उस समय देश के घरेलू व्यवसाय बहुत उन्नतिशील थे। इस देश के बने हुए कपड़ों की माँग अन्य देशों में भी थी। अतः देश में धन भी अधिक आता था। घरेलू व्यवसायों के उन्नतिशील होने से कृषि-कार्य की ओर लोगों का विशेष ध्यान न था। भूमि अपेक्षाकृत अधिक थी और उसके लिए पारस्परिक स्पर्द्धा भी कुछ विशेष न थी। ऐसी हालत में लगान भी अधिक न था। राज्य के शासन का संगठन आजकल सा सुव्यवस्थित न था, इससे जो कुछ लगान किसानों पर लगाया जाता था वह भी पूर्ण रूप से वसूल न होता था।

मोहन—शासन-व्यवस्था अँग्रेजों के काल में तो अधिक अच्छी रही।

बिहारी—लेकिन फिर भी वह विदेशी थी। वे यहाँ की आन्तरिक स्थिति से अच्छी तरह परिचित न थे, अतः जब ईस्ट-इन्डिया कम्पनी का प्रभुत्व बंगाल में स्थापित हो गया, तो उसे मालगुज़ारी वसूल करने में अड़चनें पड़ने लगी। उसका उपाय यह किया गया कि प्रति वर्ष ज़मीन ठेके पर दी जाने लगी। जो सबसे अधिक बोली बोलता था, उसी को ज़मीन दे दी जाती थी। इसका कुछ सन्तोषजनक परिणाम न निकला। तब उस समय के लगान का नब्बे प्रतिशत भाग मालगुज़ारी के रूप में प्रति वर्ष अदा किये जाने की शर्त पर लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त ज़मीदारों के साथ कर दिया। उसका विचार था कि विद्रोह के समय ये लोग सरकार के सहायक रहेंगे। इस प्रकार शान्ति

स्थापित होने के बाद संगठन बड़े सुव्यवस्थित ढंग से हुआ। जन-संख्या भी उसके बाद उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही। भूमि का मूल्य शीघ्रता से बढ़ने लगा। जैसे-जैसे अन्य उद्योग-धन्धे कम होते गये, भूमि की ओर लोग वैसे-ही-वैसे अधिकाधिक झुकते गये। इसके फलस्वरूप लगान में भी वृद्धि होती गयी। क्रमशः किसानों में भूमि के लिए आपस में बहुत स्पर्द्धा होने लगी। खेत छोटे-छोटे होते गये।

मोहन—तो क्या छोटे-छोटे खेतों की जो वर्तमान समस्या हमारे देश के सामने है, इसी समय से आरम्भ हुई ?

बिहारी—हाँ, तुम्हारा अनुमान ठीक है। इसी समय से यह समस्या धीरे-धीरे बढ़ चली है। और आजकल तो इसने बड़ा ही गम्भीर स्वरूप धारण कर लिया है। २० से ३० प्रतिशत किसानों के पास २½ एकड़ से भी कम भूमि रह गई है। यहाँ तक कि इस भूमि की उपज से लागत ख़र्च भी निकलना कठिन हो रहा है। आर्थिक लगान तो इस भूमि पर हो ही नहीं सकता। तिस पर भी लगान तो वसूल ही किया जाता है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे यह स्पर्द्धा और अधिक बढ़ती गयी, ज़मींदारों को मनमाना लगान वसूल करने का सुअवसर प्राप्त होता गया। लगान के अतिरिक्त वे नज़राना आदि के बहाने जहाँ तक किसान से रुपया ऐंठे मिला, ऐंठने लगे।

मोहन—पर ज़मींदार लोग किसानों से जो रुपया नज़राने के रूप में लेते हैं, बेगार के रूप में उनके श्रम का जो उपयोग करते हैं, वह तो उनका अत्याचार ही कहा जायगा। उसे हम अत्यधिक लगान की संज्ञा कैसे दे सकते हैं ?

चाचा—तब मुझे कहना पड़ेगा कि तुम लगान की परिभाषा ही नहीं समझे। उत्पन्न होनेवाली फ़सल के लागत-ख़र्च से जो अधिक उपज होती है, वह आर्थिक लगान है। उसके बाद जो अधिक लिया जाता है, उसे अत्यधिक लगान कहते हैं, फिर वह चाहे नक़द रुपये के रूप में लिया जाय, चाहे उसके रूपान्तर नज़राना या बेगार में।

मोहन—लगान की इस अत्यधिक वृद्धि का उत्तरदायित्व तो सरकार

(५) किसानों को फ़सल के मारे जाने पर उचित छूट मिलेगी।

(६) बक़ाया लगान पर सूद की दर भी निश्चित कर दी गई है।

(७) लगान भी अब मनमाना न बढ़ाया जा सकेगा। परन्तु अभी भी अधिकांश किसानों से जो लगान लिया जाता है वह आर्थिक लगान से बहुत अधिक है।

(८) किसान खेतों पर अपने तथा अपने जानवरों के लिये मकान भी बना सकेंगे।

(९) यदि किसी कारण वह उस भूमि से बेदख़ल किया जाय तो उसे उसका मावज़ा भी मिलेगा।

(१०) किसान खेतों पर पेड़ भी लगा सकेंगे।

मोहन—क्या आप इन सब सुविधाओं को देखते हुए यह कहेंगे कि लगान प्रथा एक आदर्श प्रथा है?

बिहारी—अभी आदर्श से तो बहुत दूर है। आदर्श के अनुसार तो किसी भी किसान से आर्थिक लगान से अधिक लेना अन्याय है। उपर्युक्त सब सुविधाओं के मिल जाने पर भी अधिकांश किसानों से अत्यधिक लगान वसूल होता रहेगा।

मोहन—जब ज़मींदार अत्यधिक लगान ही वसूल करते रहेंगे तो उनको अलग ही क्यों न कर दिया जाय?

बिहारी—तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। इस विषय में मतभेद आवश्यक है। ज़मींदारों के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उनका अस्तित्व देश के लिए लाभदायक हो सकता है। वे ग्राम-सुधार में बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं। किसान ग़रीब हैं। अतः ज़मींदार नये-नये प्रकार के हल, बीज, मैशीनें, उत्तम खाद किसानों को आसानी से पहुँचा सकते हैं। वे किसानों के दिन-प्रति-दिन के होनेवाले झगड़ों का निपटारा करा सकते हैं। और इस प्रकार से किसानों को अदालतों में जाने से रोक सकते हैं। वे किसानों को उचित दर पर रुपया उधार देकर उनको महाजनों के चंगुल से छुड़ा सकते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

किसानों का सहायक ज़मीदार

"आज सोमवार है। किन्तु वह दिन मंगलवार का था। इस समय तो दोपहर है। किन्तु उस समय दिन नहीं था, रात थी और ग्यारह बज रहे थे। आजकल तो दुर्भिक्ष के लक्षण कहीं-कहीं देख पड़ते हैं, परन्तु उस समय ऐसी कोई बात न थी। वर्षा अच्छी हो गई थी और कृषकों को कम से कम वर्षा के सम्बन्ध में कोई शिकायत न थी।"

बिहारी के इस कथन को मोहन बहुत ध्यान से सुन रहा था। उसे पता नहीं चल रहा था कि चाचा जी आख़िर कहने क्या जा रहे हैं! इसीलिए उसे थोड़ा विस्मय भी हो रहा था। उसके मन में आया कि इसी स्थल पर वह टोंक दे और कहे कि आख़िर आप कहना क्या चाहते हैं। किन्तु मोहन को बिहारी की बात के बीच में टोंकने की आवश्यकता नहीं पड़ी। क्योंकि इसके बाद ही वे बोल उठे—ऐसे ही समय ठाकुर ज्ञानसिंह का जन्म हुआ था।

मोहन ने पूछा—इन ठाकुर साहब में ऐसी क्या ख़ास बात थी, जो आप इस विचित्र भूमिका के साथ उनकी बात उठा रहे हैं?

चाचा—दिन, समय, मास, तिथि तथा सुकाल आदि का यों कोई महत्व नहीं है। किन्तु यदि किसी विशिष्ट योग्यता अथवा गुण के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध हो जाता है, तो उसके संसर्ग से जीवन और जगत की साधारण से साधारण बात का भी विशेष महत्व हो जाता है। ज्ञानसिंह ऐसे ही ज़मीदार थे। आश्चर्य्य के साथ मोहन ने कहा—ज़मीदार?

कि कोई उन्हें सता तो नहीं रहा है, किसी के ज़ोर-ज़ुल्म के शिकार तो वे नहीं हो रहे हैं!

मोहन—तो क्या फ़सल ख़राब होने पर वे अपने आसामियों का लगान माफ़ कर दिया करते थे?

चाचा—हाँ, उनमें ऐसी ही उदारता थी। यद्यपि उनके जीवन का यह एक धार्मिक पहलू था। किन्तु इससे कौन इनकार कर सकता है कि अपने आसामियों की तकलीफ़ उनसे देखी नहीं जाती थी। इसी कारण कभी-कभी तो सरकारी मालगुज़ारी अदा करने भर के लिए भी रुपया वसूल न होता था। ऐसी स्थिति में विवश होकर उन्हें कर्ज़ तक लेना पड़ता था!

मोहन—तब तो उनकी सारी-की-सारी रियासत ही कर्ज़ में डूब गयी होगी।

चाचा—हाँ, उनके जीवन-काल में तो ऐसा नहीं हुआ, पर उनके स्वर्ग-वास के बाद रियासत कोर्ट-आफ़्-वार्ड के अधीन ज़रूर आ गयी थी। पर उसका मुख्य कारण रियासत पर कर्ज़ होना न था। बल्कि यह था कि उनके बच्चे तब तक वयस्क नहीं हो पाये थे। धर्म का फल कभी बुरा नहीं होता मोहन। जो लोग दया-धर्म में अपना कुछ पैसा खो देते हैं, वे सदा तकलीफ़ ही उठाते हैं, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। ज्ञानसिंह इस महान् सत्य से परिचित थे। वे कहा करते थे कि आदमी मूलतः सच्चा और ईमानदारी प्राणी है। अगर मैं उसके साथ भलाई करूँगा, तो यह सम्भव नहीं है कि वह मेरे साथ छल करे और हमारी रक़म घोंट जाय। मुझे तो इस बात का पक्का विश्वास है कि किसान के पास अगर लगान अदा करने के लिए रुपया होगा, तो वह तक़ाज़े की कभी परवा नहीं करेगा।

मोहन—अच्छा तो उनके इस विश्वास का फल क्या होता था?

चाचा—अकसर ऐसे अवसर आते थे कि जब रुपये की अत्यधिक कमी के कारण संकटकाल उपस्थित होने की नौबत आ जाती थी, ठीक उसी समय कई-कई आसामी लोग मानों मिलकर रुपया चुका जाते थे। बल्कि ठाकुर साहब को भी संदेह हो जाता था। वे सोचने लगते थे कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि इनको हमारी परिस्थिति का पता लग गया है और अपने को संकट में डाल कर लगान चुकाने आये हैं! पर ऐसे अवसरों पर भी

वे प्राय: यह जरूर कह लेते थे कि अगर ज़्यादा तक़लीफ़ में हो, तो रुपये लौटा ले जाओ। कुछ दिनों बाद दे जाना। पर वे लोग उनकी बात सुन कर चकित हो जाते। कोई-कोई तो ऐसे समय उनकी इस सहृदयता पर नितान्त द्रवित हो उठते और उनके चरणों पर आँसू गिराने को तत्पर हो जाते थे।

मोहन—तो उनके ज़माने में आसामियों के खेतों की बेदख़ली होने की नौबत भला काहे को आती होगी।

चाचा—उनके सभी आसामी उनके ज़माने में ही मौरूसीदार हो गये। इसका फल यह हुआ है कि अब तक उनकी संतानें ठाकुर साहब के कुटुम्बियों की निरन्तर कल्याण कामना किया करती हैं।

मोहन—किन्तु यह तो बहुत बड़े उच्च आदर्श की बात आप कर रहे हैं। सभी ज़मीदार तो ऐसी साधु प्रकृति के हो नहीं सकते।

चाचा—यह तुम ठीक कहते हो कि सभी ज़मीदार ऐसे सदाशय और उदार, साधु प्रकृति, और धर्म-परायण नहीं हो सकते; किन्तु जगत कल्याण के लिए हमें आदर्श तो ऐसा ही उच्च रखना चाहिये। किसी महात्मा का बचन है कि आदर्श वह नहीं है, जो प्राप्त हो जाय। वह तो आगे बढ़ने और ऊँचे उठने के लिये एक कल्पित स्थिति होती है। इसलिए यह सोच लेना कि सभी ऐसे नहीं हो सकते, इसलिए हम भी न बनें, उचित नहीं है। आदर्श को प्राप्त करने की चेष्टा हमें अवश्य करनी चाहिए। इस सिलसिले में हमें ठाकुर साहब के जीवन की कुछ बातें याद आ रही हैं। एक बार कोई चरवाहा जानवर चराते-चराते ईख के पास से निकलने लगा। तीसरे पहर का समय था और तब तक उसके मुँह में तोले भर गुड़ की डली भी नहीं गई थी। भूख के मारे वह नितान्त व्याकुल हो रहा था। अतएव दो-एक ईख तोड़कर चूसने के लालच को वह नियंत्रित न कर सका। संयोग की बात, उसी समय उस खेत का किसान भी आ पहुँचा। उसने ज्योंही इस चरवाहे को ईख तोड़ते देखा, त्यों ही दौड़ कर उसका हाथ थाम लिया। चरवाहा तब तक एक ईख तोड़ चुका था, दूसरी ईख तोड़ने की तैयारी में उसके हाथ में भी। फिर क्या था,

उसी तरह ईख उसके हाथ में पकड़ाये हुए वह उसे थाने ले आया और उसे गिरफ़्तार करवा दिया। बात-की-बात में यह बात गाँव भर में फैल गयी। लोग तरह-तरह की बातें करने लगे।

मोहन - सम्भव है, किसान के उस ईख के खेत की कुछ ईखें पहले भी टूट गयी हों और उसने सोच लिया हो कि हमेशा यही तोड़ता रहा है।

चाचा—उसने थाने में जो रिपोर्ट लिखवायी थी, वह तो सचमुच इसी आशय की थी। पर वास्तव में इसमें सत्यांश कुछ भी नहीं था। चरवाहे ने पहली बार ही उस खेत से ईख तोड़ी थी।

मोहन—किन्तु किसान को विश्वास ऐसा ही रहा होगा।

चाचा—हो सकता है। ख़ैर, चरवाहे की ज़मानत कर दी गयी और शाम को वह छोड़ दिया गया। उस ज़माने में उस गाँव में मुक़दमेबाज़ी बहुत ही कम होती थी। छोटे-मोटे मामले आपस ही में निपटा लिये जाते थे। अपनी रिआया में एका रखना उनका पहला उद्देश्य था। ख़ैर। ठाकुर साहब के सामने मामला पेश किया गया। दोनों ओर के बयान तथा गवाहियाँ आदि हो जाने के बाद ठाकुर साहब ने दोनों को एकांत में बुलाकर बातें की। पहले उन्होंने चरवाहे से बात की। उससे कहा कि सारा हाल साफ़-साफ़ कह दो। चरवाहे ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि भूख के मारे मैं इतना व्याकुल हो गया कि मुझे इस बात का ख़्याल ही न रहा कि मैं चोरी कर रहा हूँ। ठाकुर साहब उसकी इस बात को सुनकर उसे डाँटते हुए बोले—किन्तु यह ठीक नहीं है, भूख से मरते वक्त भी तुम्हें इसका ख़्याल होना चाहिए था। अच्छा, बस, जाओ। अब उस किसान की बारी थी। उससे भी कहा गया कि जो कुछ बात हो, सच-सच कह दो। पर उसने कुछ बढ़ाकर बतला दिया। उसने कहा कि यही आदमी है, जो रोज़ हमारे उस खेत से ईख तोड़ता था। आज तो संयोग से मैंने उसे पकड़ पाया है।

ठाकुर साहब सुनकर कुछ सोचते रह गये, पर कुछ बोले नहीं। उन्होंने उससे भी यही कह दिया—अच्छा, बस, जाओ।

दूसरे दिन फ़ैसला सुना दिया गया कि चरवाहे पर ३) जुरमाना किया गया।

थोड़े ही दिनों बाद आम पकने के दिन आये। बेनी किसान का खेत एक बाग़ के पास पड़ता था। और वह बाग़ संयोग से ठाकुर साहब का था। अकसर ऐसा होता कि बेनी उधर से चला आ रहा है, सामने ही आम टपक पड़ा और बेनी ने उठा लिया। एक दिन जब एक आम बेनी उठा ही रहा था कि किसी ने पीछे से आकर उसका हाथ थाम लिया। ज्योंही उसने सिर उठाया, त्योंही वह देखता क्या है कि ठाकुर साहब खड़े हैं, और पीछे घोड़ा अपनी पीठ पर पूँछ घुमा रहा है।

अब तो ज़ोरों के साथ गरजकर ठाकुर साहब ने कहा—आज दस साल से तुम्हीं मेरे बाग़ के सारे आम उजाड़ते रहे हो। बोलो, क्या तुम चोर नहीं हो ?

बेनी ने बहुत-बहुत माफ़ी माँगी। ठाकुर साहब के पैरों पर उसने सिर रख दिया और कहा—हज़ुर मेरा अपराध क्षमा करें। अब से कभी ऐसी गलती न करूँगा।

अन्त में ठाकुर साहब ने कहा—जाओ ज़ुरमाने की रक़म उस बेचारे ग़रीब चरवाहे के यहाँ आजकल में पहुँचा देना। चिड़ियाँ जब खेत से दाना चुन जाती हैं, तब क्या करते हो ? ऐसे ही वह बेचारा चरवाहा है। ऐसी छोटी-छोटी बातों पर अदालत की शरण नहीं ली जाती। फिर वह भी तुम्हारा ही आसरा रखता है।

पता नहीं, बात कहाँ तक सच है, पर लोग कहते तो यही हैं कि पहले जो ज़ुरमाना उस चरवाहे पर उन्होंने किया था, उसके रुपये भी उन्हींने उसके यहाँ पहुँचा दिये थे।

मोहन—यह सब जो कुछ भी आपने बतलाया, सब ठीक है। लेकिन आज की स्थिति देखते हुए कहना पड़ेगा कि ठाकुर ज्ञानसिंह ग्राम-सुधार की आधुनिक समस्याओं के हल करने में यथेष्ट सहायक न थे।

चाचा—ऐसी बात नहीं है मोहन। जिन सुधारों की ओर आज हम लोगों का ध्यान जा रहा है, उनको उसी समय उन्होंने व्यावहारिक रूप देने

की चेष्टा की थी। आधुनिक ढंग की खेती का आदर्श उपस्थित करने के लिए उन्होंने पचास एकड़ भूमि में अपना एक कृषि-फ़ार्म खोल रक्खा था। बीज के लिए उत्तम श्रेणी का अनाज वे यथेष्ट परिमाण में अपने यहाँ रक्खा करते थे। कोई भी किसान, आवश्यकता पड़ने पर, बीज बोने के लिए, उनके यहाँ से अनाज ले जा सकता था, चाहे उस समय उसका दाम उसके पास न भी हो। इतना ही नहीं, फ़सल पर अगर किसी किसान के पास एक ही बैल या भैंसा होता, तो उसका जोड़ ख़रीद देने के लिए उनका किसान-सहायक-कोष हमेशा खुला रहता था। अपने सारे गाँवों में उन्होंने पंचायतें तथा सहयोग-समितियाँ क़ायम कर दी थीं। किसान लोगों के यहाँ जब कोई यज्ञोपवीत अथवा विवाहादि संस्कार होता, तो उनकी गोशाला से दूध-दही की पूरी सहायता उन्हें प्राप्त होती थी।

इस तरह ठाकुर साहब दुख में सुख में अपनी प्रजा के पूरे सहायक रहते थे। सभी लोग उन्हें अपना राजा समझते थे और पिता की तरह उन पर भक्ति रखते थे। सोचता हूँ, क्या कभी कोई ऐसा दिन होगा, जब हमारे देश के अन्य ज़मीदार भी ऐसे ही प्रजापालक, ऐसे ही सहृदय, उदार और धर्मात्मा होंगे!

भावमग्न मोहन बोल उठा—मुझे तो आशा है, ज़रूर होंगे।

पचपनवाँ अध्याय

सूद का सिद्धान्त

"बाबूजी, आज हमको रुपए की सख्त ज़रूरत है। चाहे जो कीजिये; पर मुझे इतने रुपये दे ज़रूर दीजिये।" रामदास ने बिहारी से बहुत विनम्रता से कहा।

बिहारी ने जवाब दिया—मैं कोई महाजन हूँ, जो मेरे पास क़र्ज़ देने के लिए रुपये सदा बने रहते हों। पहली तारीख़ को ही अब तो तुमको रुपया मिलेगा। आज बीस तारीख़ को मैं रुपया कहाँ से दे सकता हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि बिना महीना पूरा हुए तुम रुपया कैसे माँगने लगे। फिर तुम मेरे निजी नौकर भी नहीं हो। दफ़्तर से ही तुमको रुपया लेना चाहिए।

रामदास बोला—बाबूजी, मेरी इज़्ज़त चली जायगी, अगर आज रुपये न मिले। पहली तारीख़ को जब तनख़्वाह मिले, ख़ज़ांची से कहकर आप ही ले लें, मैं सिर्फ़ दस्तख़त कर दूँगा। बाबूजी आप हमारे माई-बाप हैं, और ज़्यादा क्या कहूँ ?

बिहारी बाबू और रामदास में ये बातें हो ही रही थीं कि उसी समय मोहन वहाँ आ पहुँचा। उसने पूछा—ऐसी क्या ज़रूरत आ पड़ी रामदास, जो तुम ऐसी बातें कर रहे हो ?

रामदास ने जवाब दिया—लड़की के ब्याह के वक्त गये साल महाजन से पचास रुपये क़र्ज़ लिये थे, थोड़ा-थोड़ा करके ब्याज का पचास रुपया तो चुका दिया, अब मूल-भर रह गया है। रोज़ाना दिन में दो बार तक़ाज़ा

आता है। घर पर बैठना मुश्किल है। बाबूजी, मैं अगर घर में अकेला रहूँ, तो कोई बात नहीं; कोई आया करे। पर घर के बाल-बच्चों को महाजन का तगादगीर जो उल्टी-सीधी सुना जाता है, वह सहन नहीं होता। आज सवेरे वह मेरे लड़के से कह गया था कि रामदास को घर में छिपा रक्खा है, और कहता है—घर में नहीं है। जब दरवाज़े पर कुर्की आयेगी, तब आप ही आटा-दाल का भाव मालूम हो जायगा।

रामदास की इतनी बात को सुनकर बिहारी बाबू ने कह दिया—अच्छा, दफ़्तर में अर्ज़ी देना। मैं सिफ़ारिश कर रुपया दिलवा दूँगा। पर देखो, आइन्दा से और चाहे जिस तरह काम निकालना, पर कभी उससे क़र्ज़ा मत लेना।

तब रामदास 'बहुत अच्छा सरकार, आपने मुझे जिला दिया। भगवान आपको बरकत दे' कहकर, उनके पैर छूकर, चला गया। किन्तु उसी क्षण मोहन ने पूछा—

चाचाजी, क्या ५०) रुपए पर साल-भर का ब्याज ५०) रूपया भी हो सकता है?

बिहारी—क्यों, इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है? हमारे देश में तो इससे भी अधिक ब्याज लिया जाता है। बनियाँ-महाजन इसी प्रकार सूद लेकर बेचारे ग़रीब किसानों तथा मज़दूरों को सताते हैं। एक-एक के दो-दो तीन-तीन वसूल करते हैं।

मोहन—क्या ऐसा आर्थिक दृष्टि से ठीक कहा जा सकता है?

बिहारी—ठीक तो नहीं कहा जा सकता; परन्तु जब किसी का इस ओर ध्यान ही नहीं जाता, तो किया क्या जाय?

मोहन—ध्यान क्यों नहीं जाता? कई प्रान्तों में इस आशय के कई क़ानून जो बने हैं, क्या उनसे कुछ भी सुधार नहीं हो सकता?

बिहारी—केवल क़ानून बनाने मात्र से न कभी सामाजिक सुधार हुआ है और न हो सकता है। सूद की समस्या एक सामाजिक समस्या है। जब तक लोगों के हृदय शुद्ध न होंगे, क़ानून कुछ नहीं कर सकते। जब एक व्यक्ति को कोई दूसरा आदमी १००) रुपया सैकड़ा या इससे भी अधिक सूद की दर

बिहारी—अर्थशास्त्र की दृष्टि से सूद के दो भेद हैं। १—कुल सूद तथा २—वास्तविक सूद। कुल सूद में असली सूद के अतिरिक्त निम्नलिखित बातें और सम्मिलित रहती हैं।

(१) पूँजी के जोख़िम उठाने का प्रतिफल।

(२) ऋण की व्यवस्था करने का ख़र्च।

(३) पूँजीपति की विशेष सुविधाओं का प्रतिफल।

वास्तविक सूद की दर संसार भर में प्रायः एक-सी रहती है। ऊपर जो सिद्धांत बतलाये गये हैं वे वास्तविक सूद की दर के सम्बन्ध में हैं। कुल सूद को व्यावहारिक भाषा में सूद कहते हैं। इसकी दर उद्योग-धन्धों के भेद के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। जितना ही अधिक जोखिम और असुविधा असल-पूँजी और सूद के पुनः प्राप्त होने में होगी, उतनी ही अधिक सूद की दर होगी। इसी कारण एक समय से दूसरे समय में और एक स्थान से दूसरे स्थान में सूद की दर में प्रायः अन्तर पाया जाता है। एक ही समय में दो स्थानों पर सूद की दरों में अन्तर होने का भी यही कारण है।

मोहन—तो क्या वास्तविक सूद की दर पर पूँजी की उत्पादकता का भी प्रभाव पड़ता है ?

बिहारी—अवश्य। यदि पूँजी की माँग उपभोग के लिए नहीं होती तो उसकी दर का निर्णय उसकी उत्पादकता पर निर्भर रहता है। जितनी ही अधिक उसकी उत्पादकता होगी उतनी ही अधिक उसकी माँग और सूद की दर बढ़ेगी। विपरीत होने से विपरीत परिणाम होगा। संसार में सबसे अधिक पूँजी अमेरिका के पास है। इसी से वहाँ सूद की दर भी कम है। अमेरिका की सरकार को आवश्यकता पड़ने पर एक प्रतिशत से भी कम दर पर इच्छित परिमाण में रुपया क़र्ज़ मिल जाता है।

मोहन—लोग इंगलैण्ड को भी काफ़ी धनवान मानते हैं।

बिहारी—इंगलैंड अमेरिका सदृश धनवान न होते हुए भी भारत की अपेक्षा बहुत धनवान देश है। वहाँ भी सूद की दर बहुत कम है। लन्दन को तो संसार की आर्थिक राजधानी कहा गया है। भारतवर्ष में पूँजी कम होने के कारण ही असली सूद की दर अधिक है। एक या दो पैसा प्रति रुपया

प्रति मास सूद लेना तो साधारण सी बात है। लखनऊ के रस्तोगी महाजन दस रुपया उधार देकर साल भर तक एक रुपया प्रतिमास लेते रहते हैं। जो महाजन चक्रवृद्धि ब्याज लेते हैं, उनका मूलधन तो चार-पाँच साल में ही दूना हो जाता है।

मोहन—क्या ऐसी प्रथा भारत में प्राचीन काल में न थी ?

बिहारी—क्यों नहीं, अवश्य रही होगी। तभी तो शास्त्रकारों ने दाम-दुपट का नियम बना रक्खा था। इसके अनुसार महाजन अधिक से अधिक मूलधन के ही बराबर सूद ले सकता था।

इसी प्रकार सूद की दर पर जोखिम का भी प्रभाव पड़ता है। यदि क़र्ज़ लेनेवाला किसी की ज़मानत दे सकता है या स्वयं ज़ेवर, मकान या ज़मीन रेहन रख सकता है, तो उसे कम सूद पर रुपया मिल सकता है। क्योंकि मूलधन न मिलने पर इस प्रकार रक्खी हुई वस्तु को बेंचकर रुपया वसूल किया जा सकता है।

तीसरा कारण, जिसका सूद की दर पर प्रभाव पड़ता है, पूँजी की गति-शीलता है। पूँजी गतिशील होती है। यदि किसी स्थान पर शान्ति और व्यवस्था होती है तो उसे जिस स्थान में विशेष लाभ की आशा होती है वह उस ओर ही गतिशील होती है। इंगलैंडवालों की पूँजी प्रायः संसार के सब देशों में लगी हुई है। पूँजी को स्थान-परिवर्तन के लिए भी सुविधाएँ रहती हैं। मनीआर्डर, पोस्टल आर्डर, चेक, हुण्डी, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक आदि के कारण पूँजी की गतिशीलता में विशेष वृद्धि आगई है। परन्तु ऐसी बात अचल-पूँजी के विषय में नहीं कही जा सकती। रेल, नहर, बड़े-बड़े कारख़ानों का स्थान-परिवर्तन साधारण कार्य्य नहीं है। यदि ऐसा किया भी जाय तो उसमें विशेष हानि की सम्भावना है।

यह वार्तालाप यहीं समाप्त होगया।

बिहारी ने दूसरे दिन रामदास को दफ़्तर से रुपया दिला दिया था। तो भी सायंकाल वह पुनः आ पहुँचा। उसे देखते ही मोहन ने पूछा—कहो रामदास, तुम्हारी परेशानी दूर हुई या नहीं ?

रामदास—हाँ सरकार, बाबू जी की कृपा से दूर हो गयी। महाजन को तो विश्वास नहीं होता था। रुपया पाकर वह बिल्कुल पानी हो गया। बोला—मेरा मतलब तुमको तंग करना कभी नहीं हो सकता। तगादगीर लोगों की बातों का तुमको कुछ ख़याल नहीं करना चाहिये। ज़रूरत पड़ने पर तुम फिर रुपया ले जा सकते हो। किया क्या जाय, अगर सख़्ती न करूँ, तो काम ही न चले। इसके बाद उसने पान खिलाकर मुझे बिदा किया। यही समाचार देने के लिये मैं आपके पास आया था।

छप्पनवाँ अध्याय

जन-साधारण का ऋण
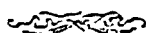
"चाचा, कल एक नया अनुभव मुझे हुआ। मेरी कक्षा में एक छात्र रामसिंह नाम का पढ़ता है। कल वह बहुत दुखी था। मुश्किल से उसने अपने दुःख की बात मुझसे कही। बात यह हुई कि वह निश्चित समय पर स्कूल की फ़ीस अदा नहीं कर पाया था। इस कारण उस पर .जुर्माना हो गया था। अन्त में उसे माँ का एक ज़ेवर लाकर शराफ़ के यहाँ गिरवी रखना पड़ा था। उसने मुझसे बतलाया कि जब मैं वह ज़ेवर लेकर चेला आया, तो वे बड़ी देर तक रोती रहीं, यह बात उसे बाद में अपनी बहिन से मालूम हुई।"

मोहन जब अपनी बात कह चुका, तो बिहारी ने पूछा—पर इस सम्बन्ध में तुम्हें नया अनुभव क्या हुआ ?

मोहन ने कहा—यही कि उसकी माँ का वही रुपया सेविंग बैंक में जमा रहता, तो फ़ीस-भर के रुपये उससे निकालते समय उन्हें इतना दुःख कदापि न होता। कितनी बड़ी नादानी है कि ज़ेवर के रूप में जिस सम्पत्ति का निरन्तर क्षय हो रहा है, उसका उचित उपयोग करते समय इन लोगों को दुःख होता है। जो धन उत्पादन में न लगकर निरन्तर क्षय होता रहे, उसकी ओर लोगों की यह आसक्ति कैसी भ्रमात्मक और कैसी चिन्त्य है !

बिहारी—भारतवर्ष में ऐसी बहुत-सी चलपूँजी भी है, जिसका कोई उपयोग उत्पत्ति के लिए नहीं होता है। लोग अपना धन गाड़ देते हैं जिससे वह ज्यों का त्यों बना रहता है, न घटता है न बढ़ता है—या उसके

आभूषण आदि बना लेते हैं। इस प्रकार के आभूषणों का संग्रह प्राचीन-काल में मन्दिरों में बहुत होता था। कहा जाता है कि सोमनाथ के मन्दिर में खम्भे तक शुद्ध स्वर्ण के बने हुए थे। मूर्ति में बड़े क़ीमती हीरे-मोती आदि जवाहिरात लगे थे। इस कारण विदेशी लोग विशेष रूप से इस देश की ओर आकृष्ट हुए। महमूद ग़ज़नवी ने सत्रह बार इस देश पर चढ़ाई की। इन चढ़ाइयों में अधिकांश लोगों का ध्येय केवल प्रसिद्ध मन्दिरों का लूटना था। इस देश में बहुत कम लोग स्पष्टरूप से इस बात को समझते हैं कि यूरोपवालों के आने का मुख्य कारण यहाँ का संचित स्वर्ण ही था। वे लोग इस देश का पता लगाने के लिए उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम चारों दिशाओं के खोजने को जहाज़ भेजा करते थे। अंग्रेज़ों का प्रभुत्व इस देश पर स्थापित हो जाने के पश्चात् नैपोलियन ने भी अंग्रेज़ों से इसे जीत लेने की चेष्टा की थी।

मोहन—मगर चाचाजी आजकल तो बेचारे कृषकों की बहुत बुरी दशा है।

बिहारी—कृषक ही नहीं, वरन् कम आय वाले सभी व्यक्ति जैसे मज़दूर तथा स्वतंत्रतापूर्वक जीविकोपार्जन करनेवाले छोटे-छोटे कारीगर, ऋण के भार से दबे हुए हैं। किसानों की इस प्रकार अत्यधिक ऋणग्रस्तता के मुख्य कारण है कृषि-योग्य भूमि का छोटे-छोटे खेतों में बँटा हुआ होना। ये छोटे-छोटे खेत एक स्थान पर न होकर सारे गाँव में छितराये रहते हैं। इस एक कारण से खेती करने के लागत-खर्च में वृद्धि हो जाती है और कृषक का लाभ कम हो जाता है। वह अपनी भूमि में स्थायी सुधार करके इसकी उत्पादकता भी नहीं बढ़ा पाता है। क़र्ज़ के अत्यधिक भार से लद जाने से किसानों की उसके चुका सकने की हैसियत भी कम होती जा रही है। इसका प्रभाव उनकी साख पर बड़ा ख़राब पड़ रहा है। महाजन अब दस रुपये का क़र्ज़ देते समय १५) का काग़ज़ पहले ही लिखा लेते हैं। जिससे समुचित अवधि के हो जाने पर भी रुपया चुकाना उसके लिए और भी कठिन हो जाता है।

मोहन—कृषि-सुधार के लिए तो सरकार को रुपया उधार देना चाहिये।

बिहारी—सरकार ने पचास वर्ष पहले से ही तक़ावी क़ानून बनाया था लेकिन छोटे-छोटे सरकारी नौकरों के बीच में पड़ने के कारण घूँस अधिक ली जाती है। इससे इस क़ानून का लाभ कृषक नहीं उठा पाते हैं। और जब कृषकों की बुरी दशा हो जाती है, तो वह उपभोग के लिए भी रुपया उधार लेने लग जाते हैं। यह ऋण अनुत्पादक कार्य्य के लिये होता है। परन्तु किसान क़र्ज लेने के लिए विवश हो जाता है।

इसके अतिरिक्त किसान लोग विवाह आदि संस्कारों के अवसर पर इतना अधिक अपव्यय करते हैं जो उनकी हैसियत से कहीं अधिक होता है।

मोहन—तो इसमें बेचारे कृषक का क्या दोष है? ये रीतियाँ तो समाज की ही बनाई हुई हैं। बहुधा देखा जाता है कि अगर लोग इन सामाजिक रीतियों का पालन नहीं करते, तो उनको दंड तक दिया जाता है।

बिहारी—किन्तु फिर भी हमें विवश होकर कहना पड़ेगा कि लोग ऐसे अवसरों पर अत्यधिक ख़र्च करते हैं और इसलिये उन्हें अत्यधिक सूद भी देना पड़ता है। ऐसी घटनाएँ व्यक्तिगत होती हैं न कि सामूहिक, और उसी रूप में वह स्वीकृत की जा सकती हैं।

मोहन—किसानों को महाजनों की चंगुल से बचने का क्या कोई तरीक़ा है?

बिहारी—तरीक़ा अवश्य है। प्रत्येक ज़िले में सहकारी बैंक खुल गये हैं जो सूद की साधारण दर पर सहकारी समितियों को रुपये उधार देते हैं। यदि प्रत्येक ग्राम में और नगर के प्रत्येक मुहल्ले में सहकारी साख समितियाँ स्थापित हो जायँ तो जन-साधारण को—विशेषकर ग़रीब लोगों को—बहुत लाभ हो।

मोहन—परन्तु कृषक-गण क्या इस हद तक कभी ऋण-ग्रस्त न थे?

बिहारी—हाँ, इतना अधिक ऋण-भार उन पर उन्नीसवीं शताब्दी में न था। घरेलू उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने तथा जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि होने के कारण कृषियोग्य भूमि सब काम में ले आयी गयी है और उसके लिए पारस्परिक स्पर्द्धा में भी अत्यधिक वृद्धि हो गयी है।

किसानों की एक बहुत बड़ी संख्या अपने खेतों से लागत-ख़र्च भी नहीं निकाल पाती है। ऐसी अवस्था में एक बड़ी संख्या में उनका महाजन के चंगुल में फँस जाना अनिवार्य्य हो जाता है। फिर मालगुज़ारी की नीति भी इस सिद्धान्त पर स्थिर की गयी है कि वह भूमि का लगान है न कि उससे हुई आमदनी पर लगनेवाला कर। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे किसानों से भी लगान वसूल कर लिया जाता है, जिन्हें भूमि से लागत-ख़र्च भी नहीं मिलता है। यदि यह लगान भूमि की उपज पर कर मान लिया जाय और उसी के सिद्धान्तों के अनुसार वसूल किया जाय, तो उसका भार इतना अधिक न पड़े। इसी के साथ-साथ यदि पुरानी पंचायतें फिर से पुर्नजीवित करने का उद्योग किया जाय तो अदालतों में जाकर मुक़दमा लड़ने में होनेवाले बहुत से अपव्यय से कृषक बच सकते हैं।

मोहन—परन्तु सबसे अधिक घातक प्रथा है अधिक सूद लेने की।

बिहारी—हमारे देश में क़ाबुली लोगों का व्यवहार उन लोगों के साथ जो बहुत ही ग़रीब हैं बड़ा असभ्य और निर्दय होता है। प्रायः देखा जाता है कि वे केवल एक ही तरह से व्यवहार करते हैं और वह है डंडे का। इन लोगों से एक बार थोड़ा-सा भी कर्ज़ ले लेना मानों सदा के लिए अपने को इनका क़र्ज़दार बना लेना है। बहुधा लोग इनसे अपना पिंड छुड़ाना चाहते हैं, किन्तु फिर भी वे लोग सूद का हिसाब ऐसा रखते हैं कि उनका पिंड छूटने ही नहीं पाता है। इस प्रकार की स्थिति अवश्य ही लज्जा-जनक है। लोगों को इसका सामूहिक रूप से विरोध करना चाहिए।

मोहन—अब क्या जाने कब तक रामसिंह को माँ का वह ज़ेवर शराफ़ के यहाँ से छुड़ाने का अवसर मिले!

बिहारी—कभी नहीं मिलेगा। साधारण जनता की ऐसी न जाने कितनी सम्पत्ति महाजनों के पेट में सदा के लिए समा गई और मालूम नहीं कब तक समाती जायगी! वास्तविक सूद के सिद्धान्तों का ज्ञान न होने के कारण ये बेचारे अबोध व्यक्ति सदा यही सोचते रहते हैं कि अब यह चीज़ महाजन

के यहाँ से छुड़ाते हैं—अब छुड़ाते हैं। पर आय की कमी के कारण कभी छुड़ा नहीं पाते। इससे तो कहीं अच्छा यह है कि ज़ेवर के मूल्य की कुल रक़म डूबने से पूर्व वे महाजन के पास जाकर कह दें कि आप उसे बेंच डालें और अपना रुपया लेकर शेष हमें दे दें। इस तरह सूद के रूप में सर्वस्व-शोषण से तो वे बच ही सकते हैं।

उस दिन की ये बातें यहीं समाप्त हो गयीं। कई महीने के बाद एक दिन रामसिंह ने रोते हुए मोहन से कहा—आर्थिक स्थिति की हीनता के कारण अत्यधिक चिन्ता रहने से माँ को ज्वर रहने लगा है। उसकी चिकित्सा के लिए जब रुपये का कुछ प्रबन्ध न हो सका, तो मैं उसी महाजन के पास गया था, जिसके पास ज़ेवर रख आया था। तुम्हारी सम्मति के अनुसार मैंने सोचा कि जो भी मिले, उसी से काम निकाला जाय। पर महाजन ने सूद का ऐसा हिसाब फैलाया कि अन्त में कह दिया—अब तो तुम्हारा कुछ निकलता नहीं है!

सत्तावनवाँ अध्याय

दुष्ट महाजन

रात अधिक नहीं गई है। अभी केवल ९ बजे होंगे। छत पर पलँग डाले मोहन और उसके चाचा लेटे-लेटे बातें कर रहे हैं। आज आकाश स्वच्छ है। तारागण खिलें हुये हैं और पवन मन्द-मन्द बह रहा है। मोहन अभी-अभी कह रहा था—मुहल्ले का यह गौरीशंकर बनियाँ तो बड़ा दुष्ट है। एक दिन मैं चुपचाप उसकी दूकान से चला आ रहा था कि देखता क्या हूँ, वह एक ग़रीब लड़के के हाथ की कटोरी फेंककर कह रहा है—जा, जा, चला है एक पैसे का घी लेने। मिट्टी का तेल क्यों नहीं ले लेता? सच जानिये, उसकी इस बात को सुनकर मेरे बदन में जैसे आग लग गयी।

बिहारी उठ बैठे। बोले—गौरी तो फिर भी कुछ भला है। परिचित लोगों के साथ उसका व्यवहार बुरा नहीं रहता। पर मैंने तो एक ऐसे महाजन को देखा है, जो आदमी नहीं था, पशु था। मनुष्यता तो उसको छू भी नहीं गयी थी।

आश्चर्य्य के साथ मोहन ने कहा—अच्छा!

बिहारी—हाँ, उधर बहादुरगंज में रहता था। नाम था उसका लोकनाथ, एकदम काला उसका वर्ण था। लम्बा क़द था। आँखें छोटी, छोटी थीं। अभी गत वर्ष तो उसका देहान्त ही हुआ है। लेन-देन, किश्तबन्दी और आभूषण गिरवी रखने का व्यवसाय करता था।

मोहन—आप को भी क्या कभी उससे व्यवहार करने का अवसर मिला था ?

बिहारी—हाँ, ऐसा एक अवसर आ गया था । उस समय नौकरी लगी नहीं थी और घर से रुपया मँगाना मैं चाहता नहीं था। रुपये चुक गये थे। और तो सभी आवश्यकताएँ टाली जा सकती हैं, पर खाना तो रुक नहीं सकता। अतएव मैं अपने सोने के बटन बेच डालने पर तुल गया। किन्तु जब तक उसकी दूकान तक पहुँचूँ, तब तक मेरा विचार बदल गया। मैंने सोचा—पिताजी की बनवाई हुई चीज़ है, बेचना ठीक नहीं है। इसलिए गिरवी रख दो। बाद में छुड़ा लूँगा। अतः यही प्रस्ताव मैंने लोकनाथ से किया।

उस समय तक लोकनाथ का नाम-ही-नाम मैंने सुना था। जानता न था कि यही लोकनाथ है। पूछते-पूछते दूकान तक पहुँचा था। ज्योंही मैं दूकान पर चढ़कर अन्दर जाने लगा, त्योंही इधर-उधर बैठे दो तगड़े दरबानों ने पूछा—किससे मिलना है ?

मैंने उत्तर दिया—लोकनाथ महाजन की दूकान यही तो है ?

उत्तर मिला—हाँ, यही है। लेकिन काम क्या है ?

बटन दिखलाते हुए मैंने कहा—इसे रखने आया हूँ।

तब मुझे इजाज़त मिली—अन्दर चले जाओ।

मैं अन्दर चला गया । दूकान का बाहरी हिस्सा बिल्कुल ख़ाली था। बैठक भीतर थी। लेकिन इतनी भीतर नहीं कि बोल न सुनाई पड़े । यह इन्तज़ाम शायद इसलिए रक्खा गया था कि अगर कोई आदमी धोखा देकर जल्दी से चलता बने, तो इतना मौक़ा फिर भी रहे कि भीतर से आवाज़ पाकर बाहर पकड़ लिया जाय। ऐसा न हो कि भागनेवाला झट से सड़क पर आकर भीड़ में मिल जाय।

पास पहुँचा, तो मैंने देखा, बाज़ार गर्म है। कई आदमी बैठे हुए हैं। सब के चेहरों पर उदासीनता की छाप है। कोई ज़ेवर लेकर जब आया था, सोचता था—चालिस रुपये मिल जायँगे, तो काम निकल जायगा। किन्तु उसे मिले हैं केवल पचीस रुपये। हृदय में हाहाकार मचा हुआ है, पैर

ऐसे पड़ रहे हैं, मानो उनमें आगे बढ़ने का दम ही न रहा हो। कोई रुपये लेकर स्त्री का ज़ेवर छुड़ाने आया है, आज ही उसे अपनी रिश्तेदारी में जाना है। बिना गये गति नहीं है। किन्तु रुपये लाने पर भी उसे उत्तर यही मिल रहा है कि रुपये आज जमा होंगे, लेकिन ज़ेवर कल मिलेगा। कारण पूछने पर उत्तर मिलता है—हमारे यहाँ का यही दस्तूर है। किसी पर डाँट पड़ रही है।—रुपये नहीं दे सकते, तो खाना क्यों खाते हो, भीख क्यों नहीं माँगते ? किसी के रुपये दूर फेंक दिये गये हैं! कहा गया है कि बीस रुपये और तीन आने से एक पाई कम नहीं ले सकते! सूद में रियायत हमारे यहाँ नहीं होती। कोई लूट का माल थोड़े ही है, पैसा लगाते हैं, तब चार पैसे देख पड़ते हैं। किसी की गिरफ़्तारी निकलवाने के लिए मुनीम को ख़र्च देकर अदालत भेजा जा रहा है। सेठ जी कह रहे हैं—कहना, वारंट आज ही निकल जाय, नहीं तो असामी के भाग जाने की सम्भावना पायी जाती है। हलफ़नामा देने की ज़रूरत हो, तो दे देना।

ख़ैर, मैं ज्योंही पहुँचा, तो मुझसे कहा गया, उधर बैठो। लाचार मैं भी उसी जगह बैठा दिया गया, जहाँ बध करने के लिए मेरे ही जैसे और भी कई बकरे उपस्थित थे।

मोहन बोला—जल्दी बतला दीजिये चाचा जी। अब ज़्यादा सुनने की सहन-शक्ति नहीं रह गयी है।

बिहारी—कोई आध घण्टे बाद जब मेरा नम्बर आया तो मुझको लोकनाथ महाजन ने पहले सिर से पैर तक देखा। फिर मुँह टेढ़ा करके मेरे प्रति तुच्छता का-सा भाव प्रदर्शित करते हुए वह बोला—आप तो अँगरेज़ी पढ़े-लिखे बाबू जान पड़ते हैं। जान पड़ता है, नौकरी छूट गयी है। बस, क्या बतलाऊँ मोहन, मेरी इच्छा हुई कि झट से झिड़ककर कह दूँ—ज़रा ठीक से बात करो सेठजी, मैं कोई होऊँ, तुमसे भीख माँगने नहीं आया हूँ। किन्तु फिर यह सोचकर चुप रह गया कि बेकार बात बढ़ाने से क्या फ़ायदा। रुपया पास न रहने पर हीनता का भाव भी अपने ऊपर सवार हो ही जाता है। अतएव मैंने इस

तरह की कोई बात अपना भाव बदलकर नहीं की। वरन् मैंने और भी दीनता से कह दिया—हाँ, यही बात है।

तब तो सिर हिलाकर वह अपनी तजरबेकारी की डींग हाँकते हुए कहने लगा—वही तो, वही तो, ऐसे लोगों को मैं सूरत देखकर ही पहचान जाता हूँ। कितने रुपये चाहिये? मैंने कहा—एक तोले की हैं। आजकल तीस का भाव है। आप मुझे पचीस रुपये दे दीजिये।

पर उसी समय उसने बटनें कांटे पर रखकर तौलते हुए कहा—ये देखो, तोले भर कहाँ है। मुश्किल से पन्द्रह आने भर निकलेंगी। सोना भी असली नहीं है। इसके सिवा यह तो बतलाइये कि इसको छुड़ाइएगा कब तक?

मैंने कहा—बस अगले महीने।

वह बोला—तो बीस रुपये आपको इस शर्त पर मिल सकते हैं कि अगर दो महीने के भीतर आपने इसे न छुड़ाया, तो माल हमारा हो जायगा।

मेरा खून जैसे सूख गया हो। विश्वास नहीं होता था इस अवधि में मैं इन बटनों को छुड़ा लूँगा, तो भी जब शर्त आ पड़ी, तो मैंने उसे स्वीकार ही कर लिया। रुपये मुझे मिल गये।

इसी क्षण मोहन बोल उठा—दूसरे महीने फिर बटन छुड़ा लिये थे?

बिहारी ने उत्तर दिया—कहाँ, जब एक महीना बीत गया और फिर भी नौकरी मिलने की कोई आशा न रही, तो मैं उसके पास गया। मैंने कहा कि अब मैं उसे बेचने के लिए तैयार हूँ। जो कुछ मेरा निकले मुझे दे दीजिये। इसपर उसने जवाब दिया—पहले रुपये व्याज-सहित अदा कर दीजिये, तब जहाँ जी चाहे बेच लीजिएगा।

मैंने कहा—यही समझ लीजिए कि मैं उसे आपही के यहाँ बेच रहा हूँ।

उसने जवाब दिया—तो लाइये, चीज़ निकालिये, मैं ख़रीदने को तैयार हूँ।

मैं चुप रह गया! रुपये के लिए आदमी को ऐसा अपमान सहना पड़ता है, यह अनुभव करने का वह पहला अवसर था।

मोहन—सचमुच चाचाजी, वास्तव में वह पशु था।

बिहारी—जब कभी उसकी याद आ जाती है, मेरा ख़ून अब भी खौल उठता है, यद्यपि वह अब मर चुका है।

मोहन—बाल-बच्चे होंगे?

बिहारी—यही तो मैं ईश्वर की एक विलक्षण ईश्वरता समझता हूँ। संतान उसके कोई नहीं हुई। एक लड़का गोद ले लिया था। पर उसने लोकनाथ के बुढ़ापे में, उसकी उपस्थिति में ही, बहुत कुछ उड़ा दिया था। अब तो सुनता हूँ, वह कोठी भी बिक गयी है!

मोहन—तो यह कहो कि अपना पतन उसने अपने जीवन-काल ही में देख लिया।

बिहारी—छै महीने तो बीमार रहा था। चारपाई से लग गया था। उठने-बैठने की शक्ति नहीं रह गयी थी। बदन पर मक्खियाँ भनभनाया करती थीं। दूर ही से बदबू आती थी। रास्ते चलते हुए लोग कहा करते थे—भगवान्, तुम्हारा न्याय बड़ा सच्चा है। जनता का ख़ून चूसने का अच्छा दंड तुमने उसे दिया है!

मोहन—लोगों ने उसके मरने पर बड़ी ख़ुशियाँ मनाई होंगी।

बिहारी—सभी कहते थे, चलो एक पापी तो दुनियाँ से कम हुआ। बात यह थी कि कोई भी तो उससे ख़ुश नहीं था। नौकर तक उसे कोसते थे। कहते थे—यह सेठ नहीं है, पूरा राक्षस है। हिसाब लिखने में भी गोलमाल करता है। देता कुछ है, लिखता कुछ। दो-दो चार-चार महीने में भी सूद-दर-सूद लगाता है। औरत को एक-एक पैसे के लिए तरसा-तरसाकर मार डाला। मिट्टी का तेल ऊपर डालकर मरी थी। सो भी सिर्फ़ इस बात पर कि गुड़ियों का दिन था और उसने नयी साड़ी पहनने की इच्छा की थी। इस पर उसने जवाब दिया था कि ऐसा ही शौक़ करना हो, तो जा, किसी से भीख माँग ले। आख़िर स्त्री ठहरी, सहन न कर सकी। पुलिस को सात सौ रुपये घूस देनी पड़ी थी, तब कहीं बच पाया था।

मोहन—ऐसे लोगों पर तो सरकार को नियंत्रण रखना चाहिए।

बिहारी—ऐसे ही लोगों का साहस बढ़ाकर, उन्हें दम-दिलासा देते रहने की नीति पर तो यह सरकार स्थिर है। प्रजा का चाहे जितना रक्त-शोषण यह पूँजीपति वर्ग करता जाय, सरकार कभी हस्तक्षेप नहीं करती। अगर सरकार का दृष्टिकोण वास्तव में न्याय-पूर्ण होता, तो हमारे देश की आर्थिक गुलामी ही न दूर हो गयी होती।

अट्ठावनवाँ अध्याय

मज़दूरी

—o—

चाचा के साथ इक्के पर बैठा हुआ मोहन यकायक पूछ बैठा—क्यों भाई इक्केवाले, तुम अपने इस पेशे में कितना पैदा कर लेते होगे ?

इक्केवाला बोल उठा—पैदा क्या करता हूँ बाबूजी, दम तोड़ रहा हूँ। और लोगों को बीमारी तो सताती है, पर यहाँ तो कभी बुख़ार भी नहीं आता। सुनता हूँ, फ़लाँ आदमी को हैज़ा हो गया, तो जी में आता है—चलो, बेचारे को इस नरक से कुछ दिनों के लिए छुट्टी तो मिली। यहाँ तो खाई रोटी नहीं पचती है। आप सोचते होंगे, यह इक्केवाला कोई जंगली आदमी होगा। लेकिन मैं आपको कैसे बतलाऊँ कि दिन थे, जब मैं कानपुर के एक मिल में रुपये-रोज़ का कारीगर था। अब तक तो डेढ़ रुपया रोज़ पाता होता। पर ये मिलों के मालिक—माफ़ करना बाबूजी, अगर कुछ अलिफ़ से वे कह डालूँ—एक नम्बर के बेईमान होते हैं। हम लोगों को हर साल बोनस मिलता था। लेकिन मालूम नहीं क्या बात हुई, इन लोगों ने आपस में सलाह कर ली और नोटिस-बोर्ड पर हुकुमनामा लगा दिया गया कि इस साल नफ़ा कम हुआ है, इसलिए बोनस नहीं दिया जायगा। अगर अगले साल मुनाफ़ा काफ़ी हुआ, तो इस साल का भी ख़याल उस वक्त कर लिया जायगा। बस फिर क्या था, हो गई हड़ताल। और वह भी कमबख़्ती की मारी चली कुछ कम महीनेभर। बाबूजी हम लोग ठहरे मज़दूर। कहाँ तक टिकते। लाचार होकर भाग खड़े हुए। तब से यहाँ यह कर्मभोग कर रहे हैं! दो-एक बार जी ऊबा तो

गया भी, पर फिर मुझे क़िसी ने पूछा नहीं। आदमी सब भर चुके थे। माना कि ज़्यादा काम करना पड़ता था, पर खाने भर को किसी तरह मिल ही जाता था। यहाँ आकर जब से इक्का जोतने लगा हूँ, कभी तबीयत नहीं भरी। इस पेशे में इज़्ज़त कुछ नहीं है बाबूजी। और पुलिस के सिपाही तो बस नाक में दम किये रहते हैं। घर में चार और खानेवाले हो गये हैं। नतीजा यह हुआ है कि दूध-घी की शक्ल-सूरत और असलियत भूल गया हूँ। अगर मिल के मालिक हम लोगों के साथ ज़्यादती न करते, तो काहे को मैं इस तरह तबाह होता। अब यहाँ केवल पाँच आने रोज़ पर इक्का हाँकता हूँ। जैसे एक जानवर दूसरे की ख़ूराक होता है उसी तरह आज का ग़रीब-मोहताज इन्सान अमीरों की ख़ूराक हो रहा है।

इस पर फिर किसी ने कुछ नहीं कहा। अन्त में बिहारी बोले—बात यह है कि हमारे देश के मालिक लोग मज़दूरी देने के सिद्धांतों को समझते नहीं हैं। वे मज़दूरों को नीची निगाह से देखते हैं और उनका मुख्य उद्देश्य रहता है कम-से-कम वेतन देकर अधिक-से-अधिक काम लेना। वेतन तो वे उतना ही देते हैं जिससे मजदूर केवल चलता-फिरता रहे और काम कर सके।

मोहन—आख़िर वेतन किन सिद्धान्तों के अनुसार दिया जाना चाहिये? क्या सरकार इस स्थिति को नहीं सुधार सकती है?

बिहारी—यह प्रश्न तो तुमने अच्छा किया है। परन्तु इसके पहले तुमको कुछ और भी बातें जान लेने की आवश्यकता है।

तुम जानते हो कि मेहनत करने के एवज़ में उसके करनेवाले को जो रुपया दिया जाता है वह उस मज़दूर की मज़दूरी कही जाती है। यह मज़दूरी हो, चाहे दैनिक जो रोज़ दी जाय या साप्ताहिक जो प्रति सप्ताह दी जाय, या पाक्षिक जो प्रति पन्द्रहवें दिन दी जाय या मासिक, जो प्रति माह दी जाय। छोटे-छोटे मज़दूरों को जो रुपया दिया जाता है वह मज़दूरी कहलाता और अधिकांश रूप से दैनिक, साप्ताहिक अथवा पाक्षिक होता है। और जो पढ़े-लिखे बड़े बाबू लोगों तथा अफ़सरों को दिया जाता है वह वेतन कहलाता है। वेतन अधिकांश माहवारी होता है।

मोहन—कुछ मज़दूरों और अधिकांश घरेलू नौकरों को रुपया देने के अलावा अन्य वस्तुएँ, जैसे—कपड़ा, ख़ूराक या दूसरी चीज़ें भी तो, जो प्रति दिन के काम में आती हैं दी जाती हैं।

बिहारी—पर अर्थशास्त्र के अनुसार मज़दूरी दो प्रकार की होती है। प्रथम 'नक़द'। अर्थात् जब मज़दूरी रुपया-आना-पाई में दी जाय। दूसरी 'कुल'। कुल मज़दूरी वह मज़दूरी होती है जो नक़द मज़दूरी में आवश्यक वस्तुओं, जैसे—कपड़ा, ख़ुराक, रहने का स्थान आदि का भी मूल्य जोड़ने के बाद हो। नक़द मज़दूरी से केवल धन का ही अभिप्राय लिया जाता है। लेकिन कुल या असल मज़दूरी में मज़दूरी की अन्य सुविधाएँ भी शामिल रहती हैं।

मोहन—तो क्या यह स्वाभाविक है कि नक़द और असल मज़दूरी में अन्तर पाया जाय ?

बिहारी—बिलकुल स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता; परन्तु फिर भी कई कारणों से असल और नक़द मज़दूरी में भेद पाया जाता है। जैसे—मुद्रा की क्रय-शक्ति में भेद का होना। खाद्यपदार्थ ग्रामों में सस्ते, पर शहरों में मँहगे मिलते हैं, इससे शहर की अधिक नक़द मज़दूरी से कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसके अलावा यह भी सम्भव है कि नौकरी बारहों महीने न रहे। जैसे शक्कर की मिलें केवल जाड़ों में ही चलती हैं। गर्मियों में इनके मज़दूर बेकार ही रहते हैं। ऐसी दशा में नक़द मज़दूरी का अधिक होना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। कुछ काम ऐसे भी हैं जिन्हें लोग अधिक वेतन पाने पर भी कम पसन्द करते हैं। खान में कोयला या लोहा खोदने से स्वास्थ्य शीघ्र ख़राब हो जाता है। कम मज़दूरी पर भी मज़दूर खेत में काम करना अधिक पसन्द करते हैं। इसी प्रकार पुतलीघर में काम करनेवाले के लिए काम पाने के पहले यह आवश्यक है कि वह कपड़ा बुनना जानता हो। यह सीखने के लिए उसके पास ख़र्च करने का रुपया भी होना चाहिए। यही क़िस्सा रेल में भी है, परन्तु यहाँ के नौकरों को घर जाने के लिए किराया नहीं देना पड़ता है। कुछ काम ऐसे होते हैं जिनमें आगे की तरक़्क़ी की आशा होती है, अतः लोग कम वेतन पर भी काम करना पसन्द करते हैं।

मोहन—परन्तु कुछ लोगों को तो अपने काम करने के अनुसार मज़दूरी मिलती है।

बिहारी—यह सब धन्धे और कारख़ाने के प्रकार के ऊपर निर्भर हैं अन्यथा मज़दूरी दो प्रकार से दी जा सकती है—या तो निश्चित समय तक कारख़ाने में काम करने के उपलक्ष में मज़दूरी मिलती है या कार्य्य का कुछ परिमाण पूरा करने पर। पहला तरीक़ा समय के अनुसार मज़दूरी तथा दूसरा काम के अनुसार मज़दूरी देने की पद्धति कहलाती है। समय के अनुसार मज़दूरी देने में मज़दूरों के कार्य्य को देख-भाल करने की विशेष आवश्यकता पड़ती है, ताकि मज़दूर निश्चित समय में ख़ाली न बैठने पाये और किया गया कार्य्य अच्छा हो। मैशीनों के उपयोग से काम अधिक परिमाण में शीघ्र हो जाता है। कारख़ानों में मज़दूरी भी काम के अनुसार ही अधिकांश दी जाती है। पढ़े-लिखे लोगों को वेतन विशेष कर समयानुसार ही दिया जाता है। दूसरी पद्धति के अनुसार जितना कार्य्य मज़दूर करता है—उसका परिमाण देखकर उसको मज़दूरी दी जाती है। यदि एक मज़दूर ने दूसरे से अधिक काम किया तो उसको दूसरे से अधिक मज़दूरी मिलेगी। इससे जो मज़दूर अधिक कार्य्य कुशल होते हैं उन्हें अधिक मज़दूरी मिल जाती है और इसी से इसे कुशलता की मज़दूरी भी कहते हैं।

मोहन—तो अब यह बताइये कि मज़दूरी की दर किस प्रकार निश्चित होती है?

बिहारी—इस विषय में अर्थशास्त्रियों ने अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। जैसे—प्रथम जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त है। इसके अनुसार मज़दूरी, मज़दूर और उसके कुटुम्ब-पालन के ख़र्च से विशेष अधिक या कम नहीं रह सकती हैं। यदि अधिक होगी, तो जन-संख्या की वृद्धि होगी। इससे आपस में स्पर्द्धा बढ़ेगी और मज़दूरी फिर कम हो जायगी। और यदि कम होगी तो मज़दूर भूखों मरने लगेंगे, जिससे उनकी जन-संख्या कम होगी। मज़दूरों की कमी होने के कारण मज़दूरी फिर बढ़ जायगी और पुरानी सीमा तक पहुँच जायगी। पर यह सिद्धान्त आजकल

पाश्चात्य देशों में नहीं लागू हो रहा है। इसके सिवा यह सिद्धान्त अपूर्ण भी है। इसके निर्णय में मज़दूरों की माँग की उपेक्षा की गई है और उनकी कार्य-कुशलता या उत्पादकता पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया है।

मोहन—अच्छा, हाँ, और दूसरा ?

बिहारी—दूसरा सिद्धान्त है 'मज़दूरी कोष का सिद्धान्त।' यह पहले सिद्धान्त से अच्छा भी है। इसमें यह मान लिया गया है कि व्यवसायी लोग मज़दूरी देने के लिए पूँजी में से एक कोष अलग कर देते हैं। मज़दूरी, इस कोष और मज़दूरों की उस संख्या से, जो व्यवसाय में अपनी जीविका खोजती है, निर्धारित होती है। यदि कोष में वृद्धि या मज़दूरों की संख्या में कमी हो तो मज़दूरी बढ़ सकती है। कोष की वृद्धि बचत से हो सकती है। किन्तु यह बात मज़दूरों के बस के बाहर है। अतः यदि वे अपनी परिस्थिति में सुधार चाहते हैं तो उन्हें अपनी संख्या घटानी पड़ेगी, क्योंकि इसी से उनकी मज़दूरी में बढ़ती होगी।

मोहन—मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि इस सिद्धान्त में मज़दूरों की माँग और पूर्ति का ध्यान रक्खा गया है परन्तु फिर भी इसमें कमी है। मज़दूरी का कोष कभी नहीं होता है—और न इसकी रक़म ही परिमित होती है। उसमें माँग के अनुसार कमी-बेशी हुआ ही करती है। दूसरे मज़दूरों की कार्य-कुशलता और उत्पादकता में वृद्धि होने से जो बढ़ती होती है उसे भी स्थान नहीं दिया गया है।

बिहारी—तभी तो इस सिद्धान्त का तीव्र विरोध हुआ है। इसके बाद तीसरा सिद्धान्त है 'सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त'।—इससे यह प्रयोजन है कि व्यवस्थापक सदा इस बात की टोह में रहता है कि उत्पत्ति के लिए किसी साधन की सीमान्त उपयोगिता उसे किसी दूसरे साधन से अधिक से अधिक जान पड़े उसे वह कम वाले साधन के स्थान पर उपयोग करने का प्रयत्न करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिक-से-अधिक मज़दूरी जो व्यवस्थापक देगा वह उसकी सीमान्त उत्पादकता

होगी। इससे अधिक वह न दे सकेगा। परन्तु यदि मज़दूर की उत्पादकता बढ़ जाय तो व्यवस्थापक उसे अधिक मज़दूरी देने में हिचकेगा नहीं; क्योंकि इससे उसका लाभ अधिक ही रहेगा।

मोहन—पर इस सिद्धान्त में कमी यह है कि इसमें केवल मज़दूरों की माँग पर ही विचार किया गया है, उनकी पूर्ति की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया। यदि यह मान लिया जाय कि व्यवस्थापक किसी मज़दूर की सीमान्त उत्पादकता ३०) रुपये के बराबर समझता है तो वह उसे ३०) रु० के स्थान पर २०) रु० या २५) रु० भी दे सकता है। पर मज़दूर को इसका क्या ज्ञान कि उसकी उत्पादकता क्या है?

बिहारी—मज़दूर इसे जानकर भी क्या कर सकते हैं? फिर व्यवस्थापक को भी आजकल बड़े-बड़े कारख़ानों में यह पता लगाना कि अमुक मज़दूर की सीमान्त उत्पादकता क्या है, सरल काम नहीं है। इसके बाद चौथा सिद्धान्त है—कार्लमार्क्स का। मार्क्स के विचार से किसी वस्तु के उत्पादन में श्रम का एक बहुत बड़ा स्थान है। परन्तु श्रमी के पास कार्य-कुशलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है, कार्य के लिए विवश होकर उसे पूँजीपति के पास आना पड़ता है। पूँजीपति इस श्रम का ग्राहक होता है; परन्तु श्रम का पूरा मूल्य कभी नहीं देता है। मार्क्स का कहना है कि वस्तु के निर्माण में सबसे अधिक श्रेय मज़दूर को ही है, इससे वितरण के समय उसी को अधिकांश मिलना चाहिये। पर इस सिद्धान्त की अर्थशास्त्रियों ने बड़ी कड़ी आलोचना की है।

मोहन—परन्तु फिर भी इसका प्रभाव सारे संसार पर बहुत ही व्यापक रूप में पड़ा है।

बिहारी—हाँ, यह बात तो है। पर इस पर आगे विचार किया जायगा। पाँचवाँ सिद्धान्त है 'मांग और पूर्ति का सिद्धान्त।' इस सिद्धान्त के अनुसार मज़दूरी का निर्धारण मज़दूरों और पूँजीपति के आपस के भाव-ताव से होता है। पूँजीपति यह जानता है कि एक मज़दूर की सीमान्त उत्पादकता कितनी है, अतः वह श्रम का मूल्य उससे कभी भी अधिक न लगाएगा। दूसरी ओर मज़दूरों के रहन-सहन का भी एक दर्जा

होता है—यह दर्जा मज़दूर की आवश्यकताओं के अनुसार होता है। वह इन आवश्यकताओं के मूल्य से कम कभी भी मज़दूरी स्वीकार न करेगा। इस प्रकार से दो सीमाएँ बन जाती हैं। एक मज़दूरों के रहन-सहन की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य की, कम-से-कम मज़दूरी की सीमा तथा दूसरी पूँजीपति द्वारा निश्चित सीमान्त उत्पादकता की अधिक-से-अधिक मज़दूरी की सीमा। मज़दूरी इन्हीं दो सीमाओं के अन्दर रहती है। मान लो, एक मज़दूर यह समझता है कि उसको अपना रहन-सहन बनाये रखने के लिए चार आने प्रति दिन आवश्यक होंगे, तो चार आना उसकी मज़दूरी की न्यूनतम सीमा होगी। यदि उसके काम का मूल्य ।-) हो तो उसकी मज़दूरी की अधिकतम सीमा ।-) होगी। परन्तु काम करानेवाले उसे ।) ही देना चाहेंगे।

वर्तमान समय में पूँजीवादी राष्ट्रों में यही सिद्धान्त लागू है। इसमें दोनों ही बातों—माँग तथा पूर्ति—का विचार किया गया है। इसके अनुसार यदि मज़दूरों की माँग बढ़ जाय तो कुछ काल के लिए उनके वेतन में वृद्धि हो जायगी। और उस समय अन्य व्यवसायों में कम पानेवाले मज़दूर भी इस ओर आकृष्ट होंगे, जिससे निश्चित माँग की पूर्ति हो जाने पर मज़दूरी फिर उसी स्थल पर आ जायगी। दूसरी बात यह है कि श्रम उपयोग न होते समय बराबर नष्ट होता रहता है। अतः मज़दूर कार्य के लिए सदैव बहुत उत्सुक रहता है। इस कारण भी उसकी मज़दूरी में कमी होती है।

मोहन ने देखा, मकान तो आ गया। तब उसने इक्केवाले से पूछा—मज़दूरी तो तुमको पाँच आने रोज़ मिलती है, पर तुम महाजन को इक्का-भाड़ा के रूप में कितना पैदा करके देते हो?

इक्कावाला—दो रुपये से कम वह कभी नहीं लेता।

बिहारी—तब तो तुमको आठ-दस आने रोज़ मिल सकता है। तुम उनसे ज़ोर देकर क्या कह नहीं सकते कि आठ आने से कम में मेरी गुज़र नहीं होगी?

इक्केवाला—तब वह हमें निकाल बाहर करेगा और दूसरा आदमी रख लेगा।

बिहारी—तुमको आपस में मिलकर ऐसा संगठन करना चाहिए कि कोई भी इक्केवाला किसी महाजन के यहाँ आठ आने रोज़ से कम पर यह काम करना स्वीकार ही न करे।

इक्केवाला—सरकार, हम लोग इन बातों को न तो समझते हैं, न हममें इतना दम है।

बिहारी—तब बिना संगठन किये तुम्हारी हालत में सुधार होना असम्भव है।

उंसठवाँ अध्याय

न्यूनतम मज़दूरी

मोहन आज अपने चाचा के साथ शिवकोटी के मेले में गया हुआ था। वहाँ उसने देखा कि इस मेले में अधिकतर ग्रामीण पुरुष और स्त्रियाँ आयी हुई हैं। विहारी की दृष्टि भी अधिकांश रूप में निम्नश्रेणी के दीन-हीन पुरुषों की हालत देखने की ओर थी। दोपहर के तीन बजे के बाद ये लोग इक्के पर गये थे और लौटते-लौटते संध्याकाल हो गया था। लौटते समय मोहन से उसके चाचा ने पूछा—उस मंदिर में जहाँ भगवान शंकर की अगणित मूर्तियाँ हैं, जो आदमी तुमसे बातें कर रहा था, वह कौन था?

मोहन ने उत्तर दिया—वह अपने गाँव का मंगल लोध था। कानपुर के एक मिल में नौकर है। यहाँ उसकी ससुराल है, मीरपुर में एक इक्के-वाले के यहाँ। अपनी स्त्री को लेने के लिए आया हुआ है। अब वहीं रक्खेगा। कहता था—मालिक, अब के महीने से बारह रुपये मिलने लगेंगे। आश्चर्य के साथ मैंने पूछा—इतने में गुज़र हो जायगी?

वह बोला—क्यों नहीं हो जायगी? गुज़र तो मालिक करने से होती है। जो लोग सिर्फ़ दस रुपये पाते हैं, उनकी भी तो गुज़र-बसर आख़िर किसी-न-किसी तरह होती ही है। अच्छा चाचा, आख़िर जब ये मज़दूर कारख़ाने में काम करना सीख जाते हैं और एक तरह से कारख़ाने के अंग बन जाते हैं, तब भी मिल-मालिक इनको उचित वेतन क्यों नहीं देते?

इक्का अपनी गति से चला जा रहा था। दायें-बायें इक्कों पर सवार बच्चे ताड़ के पत्तों के बने बाजे बजाते और रबर के रंगीन गुब्बारे उड़ाते हुए कभी-

कभी आगे निकल जाते थे। जो इक्के पीछे से आते जान पड़ते, उनमें भी बाजों से बड़ा कोलाहल मचता था।

बिहारी ने उत्तर दिया—मज़दूरी देने का सिद्धान्त मैं पहिले ही बता चुका हूँ। यह तुम जानते ही हो कि मज़दूरी प्रायः दो सीमाओं के अन्दर रहती है। न्यूनतम सीमा मज़दूर के रहन-सहन द्वारा निश्चित की जाती है और अधिकतम सीमा उसके सीमांत उत्पादन के बराबर होती है। उत्पादक लोग साधारणतः मज़दूरी न्यूनतम सीमा के आस-पास ही किसी दर पर देते हैं। यदि मज़दूर लोग सङ्गठित हो जायँ और मज़दूर-सभा स्थापित कर लें तो उनकी मज़दूरी अधिकतम सीमा तक बढ़ सकती है। परन्तु अभी तो मज़दूरों में सङ्गठन नहीं हो पाया है। दूसरा कारण यह है कि जन-संख्या-वृद्धि तथा दुर्भिक्ष के कारण कृषि-जीवी लोग बेकार होकर शहरों की ओर भागते हैं। इस प्रकार जब मज़दूरों की संख्या बढ़ने लगती है, तब मज़दूरी की दर और भी कम होने लगती है। इससे मज़दूरों के रहन-सहन का दर्जा गिर जाता है और उनकी कार्य-कुशलता घट जाती है। मज़दूरों की कार्य-कुशलता घट जाने का प्रभाव पुनः मज़दूरों की संख्या-वृद्धि पर पड़ता है। और इस प्रकार मज़दूरी और भी अधिक न्यूनतम हो जाती है। सभ्य देशों में मज़दूरी की दर जो अधिकतम सीमा के आसपास होती है, उसका प्रधान कारण उनका सङ्गठन और कार्य-कुशलता है। हमारे देश में मज़दूरी की दर जो बहुत कम है, उसका एकमात्र कारण यह है कि देश में उद्योग-धन्धों की अत्यधिक कमी है और कृषि-जीवी समुदाय जब अत्यधिक ऋण-ग्रस्त, दीन-हीन तथा त्रस्त हो जाता है, तब वह मिलों में नौकरी करने की ओर झुक पड़ता है।

मोहन—क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मज़दूरी की ऐसी न्यूनतम दर सरकार निर्धारित कर दिया करे, जिससे मज़दूरों के परिवार को सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो सकें और मिल-मालिक उससे कम मज़दूरी दे ही न सकें ?

बिहारी—हो क्यों नहीं सकता ! सभ्य सरकारें ऐसी स्थिति में प्रायः न्यूनतम मज़दूरी की दर निर्धारित कर देती हैं। इसके सिवा मज़दूर-सभाओं के आन्दोलन का भी प्रभाव पड़ता है। हड़तालें होती हैं और फलतः मज़दूरी

की दर बढ़ती, काम करने के घंटे कम किये जाते तथा मज़दूरों को अन्य प्रकार की सुविधाएँ मिलने में सफलता भी मिलती है।

मोहन—परन्तु हमारे देश में तो ऐसी सभाएँ बहुत ही कम देखने में आती हैं।

बिहारी—नहीं, यह बात नहीं है। हमारे देश में कमी इस बात की है कि मज़दूर-सभाओं को मालिक लोग साधारणतया मानते नहीं हैं—उनका प्रतिनिधि होना स्वीकार नहीं करते। जातीय पंचायतें तो हमारे देश में बहुत काल से चली आती हैं, परन्तु बड़े-बड़े कारख़ानों के मज़दूरों का सङ्गठन सबसे पहले पिछले महायुद्ध के समय में ही हुआ था। उस समय सब चीज़ों का मूल्य अधिक बढ़ गया था। मज़दूरी इतनी नहीं बढ़ी थी। अतः मज़दूरों को विवश होकर अपने आपको सङ्गठित करना पड़ा। इन सङ्गठनों में उनको सफलता मिली; क्योंकि ऐसे समय पर मालिक लोग अपना व्यवसाय तो बन्द कर नहीं सकते थे, साथ ही मज़दूरों की मांगें भी बेजा न थीं।

मोहन—मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मज़दूरों का कृषि के व्यवसाय के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही कदाचित इन सभाओं के प्रभाव का विस्तार नहीं हो रहा है। मज़दूर अशिक्षित होते हैं। वे सोचते हैं कि उन्हें केवल कुछ दिन काम करके यहाँ से चला जाना है।

बिहारी—हाँ, यह भी एक कारण है।

मोहन—अच्छा तो न्यूनतम वेतन निर्धारित कराते समय किन बातों का ध्यान रक्खा जाता है?

बिहारी—न्यूनतम वेतन निर्धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि मज़दूरों और उनके परिवार के मनुष्यों की आवश्यकताओं का ध्यान रक्खा जाय। हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मज़दूरों को अपना ही नहीं, किन्तु अपने परिवार का भी पेट पालना आवश्यक है। इस परिवार में साधारणतया एक स्त्री और दो बच्चे शामिल होते हैं। साथ ही यह भी मान लेना चाहिये कि घर का कार्य विशेष होने के कारण मज़दूर की स्त्री अन्य कार्य नहीं कर सकती। साथ ही बच्चों का स्कूल में पढ़ना आवश्यक है, वे भी काम में नहीं लगाये जा सकते।

मोहन—तो क्या यह उचित नहीं है कि मज़दूरों के रहने का भी प्रबन्ध किया जाय? शहरों में तो बहुत ही अधिक किराया देना पड़ता है। मालिकों को ही उनके लिए मकान बनवाने चाहिये।

बिहारी—यह हमारे देश के लिए तो और भी ज़रूरी है। यहाँ के मज़दूरों की बस्तियों की दशा तो और भी शोचनीय है। भारत में न्यूनतम वेतन निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है। कानपुर-मज़दूर-जाँचकमेटी ने तो इस विषय पर बहुत ही अधिक ज़ोर दिया था, और १५) रु० मासिक न्यूनतम वेतन भी निर्धारित किया था। इंगलैंड में व्हिटले कमीशन ने भी इसी प्रकार न्यूनतम वेतन निश्चित करने की सिफ़ारिश की थी। न्यूनतम वेतन निश्चित करते समय यह ध्यान रखना चाहिए की मज़दूरों के अन्य आवश्यकीय ख़र्चों की अवहेलना न होने पाये।

मोहन—इस प्रकार क्या एक ही वेतन सब कारख़ानों तथा शहरों के लिए निर्धारित होता होगा?

बिहारी—नहीं, ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। देश के विभिन्न हिस्सों में—जैसे बम्बई और कानपुर—रहन-सहन का दर्जा भिन्न होता है। अतएव विभिन्न हिस्सों के लिए विभिन्न वेतन ही निश्चय करना उचित होगा। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि अनेक प्रकार के कारख़ानों के लिए भी एक ही प्रकार का वेतन निर्धारित किया जाय। सामयिक परिवर्तन, उत्पादन एवं उसकी स्थिति के अनुसार भी वेतन निर्धारित किया जाना चाहिये।

मोहन—पर अगर इस प्रकार निर्धारित वेतन कोई कारख़ाना न दे सके तो?

बिहारी—तो उसके लिए आवश्यक यह है कि कारख़ाना बन्द कर दिया जाय; क्योंकि वह कारख़ाना इस योग्य नहीं है कि अन्य कारख़ानों के मुक़ाबले में योग्यता के साथ काम कर सके। अगर ऐसा नहीं होता, तो उसके लिए यह आवश्यक हो जायगा कि वह अपने अन्य ख़र्चों को किसी प्रकार कम करे और अन्यान्य साधनों को सुधारे। क्योंकि

न्यूनतम वेतन निर्धारित करते समय न केवल मज़दूरों की आवश्यकताओं की ओर ही ध्यान दिया जायगा, किन्तु यह भी देखा जायगा कि अमुक कारख़ाना या उद्योग कहाँ तक अधिक वेतन दे सकता है जिससे उसको किसी प्रकार क्षति न उठानी पड़े ।

मोहन—परन्तु घरेलू काम करनेवाले मज़दूरों के साथ यह कैसे हो सकता है ? उनकी दशा भी तो शोचनीय है ।

बिहारी—उनकी दशा में सुधार करना बहुत कुछ समाज पर निर्भर है । अगर समाज चाहे तो बहुत कुछ सुधार कर सकता है; क्योंकि इस तरह काम करनेवालों की दशा किसी के घर में घुसकर सरकार देखने तो आयेगी नहीं, जैसा कि कारख़ानों में होता है । अतः अगर साधारण जनता उनका सुधार करना चाहे, तो वह अपने-अपने नौकरों का सुधार करके सारे देश की ऐसी हीन जनता का उद्धार कर सकती है ।

मोहन—अच्छा, सरकारी नौकरों के विषय में क्या ऐसा नियम लागू हो सकता है ?

बिहारी—क्यों नहीं ? छोटी-छोटी तनख़्वाह पानेवाले कर्मचारियों के लिये भी ये नियम लागू होने चाहिये । क्योंकि एक ओर तो तुम देखते हो, वाइसराय को लाखों रुपया सालाना मिलता है । दूसरी ओर हमारे यहाँ १००) वार्षिक वेतन से भी कम पानेवाले आदमी पाये जाते हैं, जो बहुत ही कठिनता से अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण कर पाते हैं । ऐसी असमानता निस्सन्देह चिन्ताजनक है ।

मज़दूरी का आदर्श यह होना चाहिये कि एक निश्चित समय के लिये प्रत्येक व्यक्ति की आय में बहुत अधिक अंतर न हो । उन मज़दूरों को, जो अपनी मज़दूरी का विशेष भाग मदिरा पान में व्यय करते हैं मज़दूरी नक़द न देकर खाद्य पदार्थों में देनी चाहिये । काम करने के लिए इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को काम मिलना चाहिये और कम-से-कम इतना वेतन दिया जाना चाहिये, जिससे उसका और उसके आश्रितों का निर्वाह भली प्रकार हो सके । समाज को जितने प्रकार के श्रमों की आवश्यकता है उनके श्रमिकों के वर्ग बना दिये जाने चाहिये और उनकी न्यूनतम मज़दूरी भी

स्थिर कर देनी चाहिये। सदा इस बात का प्रयत्न होना चाहिये कि मज़दूरी की दर अधिकतम सीमा के आस-पास हो।

यह वार्तालाप मोहन के घर आते-आते यहीं समाप्त हो गया था। जब ये लोग उतरने लगे, तो इक्केवाले ने कहा—मालिक, मंगल मेरा ही दामाद है। आप की कृपा हो जायगी, तो उसकी भी तनख़्वाह बढ़ सकती है। ये सब बातें आप उसको भी समझा दीजिये। मैं कल दिन में उसे लेकर हाज़िर होऊँगा।

मोहन बोल उठा—अच्छा तो चाचा, कल हम लोग उससे हड़ताल के विषय में सब भीतरी बातें पूछेंगे। (इक्केवान से) अच्छा, कल तुम उसे ले आना।

साठवाँ अध्याय

हड़ताल और मज़दूर-सभा

दूसरे दिन वह इक्केवाला मंगल को साथ लेकर बिहारी के यहाँ आ पहुँचा। मोहन उस समय बैठक में था। दोनों को देखते ही बोला—आ गये! चलो, यह बहुत अच्छा हुआ। मैं भी अभी स्कूल से आ रहा हूँ। चाचा भी आते ही होंगे। इक्केवान से कहा—तुमको तो फ़ुरसत होगी नहीं। ये भी थोड़ी देर बातें करके चले आयेंगे। किसी तरह की चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है।

तब "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, यही मैं चाहता था" कहता हुआ इक्केवान उठकर चला गया।

फिर मंगल से कहा—यहीं बेंच पर बैठो। पानी बरसनेवाला है। यह अच्छा हुआ कि कुछ पहले आ गये।

इधर ये बातें हो रही थीं कि बिहारी भी आ गये। नौकर ने साइकिल भीतर रख ली। थोड़ी ही देर में अन्दर जल-पान करने के अनन्तर दोनों बैठक में आकर बैठ गये।

मोहन ने पूछा—तुम्हारे सामने कभी कोई हड़ताल मिल में हुई है मंगल?

मंगल ने जवाब दिया—ऐसा कोई वर्ष नहीं जाता, जब किसी न किसी मिल में हड़ताल न हो। कभी-कभी तो एक मिल की हड़ताल का प्रभाव दूसरे मिलों पर भी इतनी जल्दी और इतना गहरा पड़ता है कि वहाँ भी [illegible] में हड़ताल हो जाती है।

मोहन ने पूछा—कुछ समझ में आया कि ये हड़तालें क्यों होती हैं?

मंगल ने उत्तर दिया—दो ही बातें मेरी समझ में ऐसी हैं, जिनके कारण हड़ताल होती है। एक तो जैसा कसकर काम लिया जाता है, वैसी अच्छी मज़दूरी नहीं मिलती। दूसरे हम लोगों के साथ सख़्ती भी ज़्यादा होती है।

मोहन—सख़्ती किस तरह की होती है?

मंगल—आने में देर हो जाने पर आधा दिन कट जाता है! फ़ैक्टरी के भीतर जिस वक्त हम काम करते हैं, उस वक्त किसी से मिलने के लिए बाहर नहीं आ सकते। छुट्टी के घंटे में ही मिलना होता है। बीमार हो जाने पर अगर काम पर नहीं जा सकते, तो डाक्टर या वैद्य का सार्टिफ़िकेट दाख़िल करना पड़ता है, नहीं तो फ़ाइन हो जाता है।

अब बिहारी ने पूछा—अच्छा, तुम लोगों की जो एक मज़दूर-सभा है, वह क्या काम करती है?

मंगल—वह न हो तो कोई हड़ताल कभी पूरी न उतरे। उसके नेता ख़ूब पढ़े-लिखे और क़ायदा-क़ानून से वाक़िफ़ होते हैं। वे हड़ताल कराना ही नहीं जानते, उसे अन्त तक पूरा-पूरा निभाकर अन्त में मिल-मालिकों से मज़दूरों के हक़ में समझौता करा देना भी जानते हैं।

बिहारी—परन्तु मज़दूर-सभा का एक मात्र उद्देश्य हड़ताल कराना नहीं, वरन् मज़दूरों को हर तरह की सुविधाएँ देना है। बीमार पड़ने पर उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करना, शिक्षा के लिए पुस्तकालय, वाचनालय और विद्यालय खोलना भी उनका कर्तव्य होता है। मिल के मज़दूर उस सभा के सदस्य होते हैं और नियमित चन्दा देते हैं। चन्दे से सभा का ख़र्च चलता और मज़दूरों को आवश्यकतानुसार सहायता दी जाती है। मज़दूर-सभाओं का मुख्य उद्देश्य मज़दूरों की दशा में सुधार कराना है। मज़दूर-सभाओं के स्थापित हो जाने से मज़दूरों को सामूहिक रूप से अपनी मज़दूरी बढ़ जाने या अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने का अवसर रहता है। ये सभाएँ मालिकों के सामने मज़दूरों की शिकायतें रखती तथा उन शिकायतों

को दूर कराने का प्रबन्ध कराती हैं। यदि ये शिकायतें दूर नहीं होतीं और मालिक लोग मज़दूर-सभाओं द्वारा पेश की गई शिकायतों को नहीं सुनते, तो उसका परिणाम हड़ताल ही होता है। सभाएँ मज़दूरों के हिताहित की उत्तर-दायी तथा उनकी प्रतिनिधि होती हैं। उनको मज़दूरों की ओर से बोलने तथा लड़ने का हक़ रहता है।

मोहन—अच्छा चाचा, मज़दूर-सभाओं के मुख्य उद्देश्य क्या कहे जा सकते हैं?

बिहारी—(१) मज़दूरों की मज़दूरी में वृद्धि कराना—क्योंकि मज़दूर अकेले पूँजीपति से अपनी उचित मज़दूरी नहीं पा सकता। इसी कारण उसको ऐसी सभाओं की शरण लेनी पड़ती है। सभाएँ मज़दूरों के रहन-सहन में भी वृद्धि करा सकती हैं—और उनके रहन-सहन के दर्जे के अनुसार न्यूनतम वेतन भी दिलाती हैं।

(२) मज़दूर-सभाएँ मज़दूरों के काम करने के घण्टों पर नियंत्रण रखती हैं—घण्टों के घटाने की कोशिश करती रहती हैं।

(३) मज़दूर-सभाएँ मज़दूरों को अन्य सुविधाएँ भी दिलाती हैं—जैसे कारख़ाने के अन्दर हवा आदि का प्रबन्ध, पानी का प्रबन्ध, शिक्षा का प्रबन्ध।

मज़दूर-सभाओं के स्थापित हो जाने से मज़दूरों में भ्रातृभाव पैदा हो जाता और उनका सार्वजनिक जीवन विकसित होता है। इससे मज़दूरों की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित हो जाने पर उनका रहन-सहन का दर्जा भी बढ़ जाता है।

मोहन—अच्छा चाचा, हड़ताल को चलाने में मज़दूर-सभा क्या-क्या करती है?

बिहारी—मैं चाहता हूँ कि इस बात को तुम बतलाओ मोहन।

मोहन—जब हड़ताल होने को होती है, तो पहले दिन कुछ लोग आपस में कानाफूसी करते हैं। दो-एक दिन में सभा होती है और वहीं [illegible] पर निश्चय किया जाता है कि यह हड़ताल इसलिए की जाती है। इसके बाद पूरे दिन लोग काम पर नहीं जाते। जो जाना भी

चाहते हैं, पिकेटिंग करके उनको जाने से मना किया जाता है। और इस तरह हड़ताल पूरे मिल भर में हो जाती है।

बिहारी—यह आवश्यक नहीं है कि हड़ताल होने में हमेशा अनेक दिन ही लगते हों। बात यह है कि शिकायतें कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को तो रहती नहीं। वे प्रायः सामूहिक होती हैं। यदि कभी व्यक्तिगत भी हुईं, तो यह समझ लिया जाता है कि यह जो कुछ भी हो रहा है, वह मिलमालिकों की कठोर और अमानुषिक नीति के कारण हो रहा है। अतएव यह मानी हुई बात है कि आज जो व्यवहार एक रामाधीन के साथ हुआ, वही कल सैकड़ों रामाधीनों के साथ होगा। इसलिये उत्तेजना फैलते देर नहीं लगती और तब एक-आध दिन में ही हड़ताल हो जाती है।

मोहन—लेकिन पिकेटिंग करने में तो कभी-कभी कठिनाई पड़ती होगी।

बिहारी—कठिनाई होती ज़रूर है किन्तु और उपाय क्या है? सभी मनुष्य एक से नहीं होते। कुछ व्यक्ति स्वभावतः बहुत दब्बू होते हैं। चाहे जितने अत्याचार उन पर होते रहें, वे कभी चूँ नहीं करते, और उन्हें बराबर सहन करते रहते हैं। उनमें जीवन नहीं रहता। वे पस्त हिम्मत, उत्साह-हीन और निष्प्राण होते हैं। हड़ताल जैसी ज़िम्मेदारी के काम में इस तरह के लोग ही अधिकांश रूप से बाधक होते हैं; क्योंकि उनका यह विश्वास होता है कि हमारे भाग्य में यही बदा है। इसलिये हमें यह दुख भोगना ही पड़ेगा। अगर हमारा भाग्य—हमारे ग्रह-नक्षत्र-योग—प्रतिकूल न होते, तो हमारी यह दुर्गति ही क्यों होती! ऐसी दशा में मज़दूर-दल के नेता ऐसे मज़दूरों को समझाते हैं कि अगर दूसरों की तक़लीफ़ को हम अपनी तकलीफ़ मानकर, संगठित रूप से, नहीं चलते, तो हमारे हक़ कभी सुरक्षित नहीं रह सकते।" उन्हें यह बतलाने की भी आवश्यकता होती है कि अपने अधिकारों के लिये लड़ना हमारा कर्तव्य है। यह सोचना सरासर ग़लत है कि हमारे भाग्य में यही बदा है। मेहनत हम करते हैं, एँड़ी-चोटी का

पसीना एक हम करते हैं, हमारे ही परिश्रम से लाभ उठाकर कोठियाँ बनतीं और मोटरकारें आती हैं। ऐसी दशा में हमारी सुविधाओं की ओर ध्यान देना मिल-मालिकों का कर्तव्य है। जो व्यक्ति अपने अधिकारों के लिए लड़ना नहीं जानता, वह जानदार प्राणी नहीं है। जब तक हमारे शरीर में ताक़त, रगों में ख़ून और दिल में धड़कन मौजूद है, तब तक ज़िन्दगी के लिए, न्याय के लिए और आगे बढ़ने के लिए हमें लड़ने को सदा तैयार रहना पड़ेगा।

मोहन—लेकिन जो लोग बहुत ग़रीब हैं और दस दिन आगे के लिए भी जिनके पास खाने को नहीं है काम छोड़ देने पर उनकी गुज़र कैसे होती होगी?

मंगल—उनके लिए मज़दूर-दल के नेता और मज़दूर-सभा के अधिकारी लोग खाने का प्रबन्ध करते हैं। इस काम के लिये मज़दूर-सभा से पूरी सहायता मिलती है।

बिहारी—और इस तरह के दान में कभी-कभी तो वे लोग भी भाग लेते हैं, जो उन्हीं मिलों के शेयर-होल्डर होते हैं, जिनमें हड़ताल हुआ करती है। बात यह है कि मनुष्य का हृदय समवेदनाशील होता है। पूँजीपतियों के वर्ग में ऐसे लोग भी तो हैं ही, चाहे वे थोड़ी संख्या में ही क्यों न हों, जो सत्य और न्याय की ओर दृष्टि रखकर चलते हैं—और जिन पर धर्म का काफ़ी गहरा प्रभाव पड़ता है।

मोहन—जब हड़ताल सफलता-पूर्वक चलती है तब मिल-मालिकों से समझौता करने के लिए शर्तें कौन पेश करता है?

मंगल—मज़दूर-सभा के नेता।

मोहन—अच्छा, उस दिन आपने बतलाया था कि न्यूनतम मज़दूरी निश्चित हो जाने से यह समस्या बहुत अंशों में हल हो जाती है।

बिहारी—किन्तु इस बात को तो सरकार क़ानून द्वारा ही तय कर सकती है, जो अभी तक नहीं हो पाई है।

मोहन—अच्छा मंगल, क्या तुमने भी कभी हड़ताल में मज़दूर-सभा की [illegible]?

मंगल—मैंने पिकेटिंग की है और डंडे खाये हैं। मेरे मस्तक पर यह जो दाग़ देख पड़ता है, पुलिस के डंडे का ही है।

बिहारी—मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अगर तुम्हारे काम का यही ढंग रहा, तो तुम बहुत उन्नति करोगे।

इकसठवाँ अध्याय

लाभ

बड़ी देर से मोहन अपने चाचा की प्रतीक्षा कर रहा था। चाची ने कहा—तुझे भूख लगी होगी, खाना खा क्यों नहीं लेता? उनकी प्रतीक्षा में अगर बैठा रहेगा, तो भूख मारी जायगी और फिर तेरा सिर दर्द करने लगेगा। मैं जानती हूँ कि जब कभी वे किसी काम से अटक जाते हैं, तो उनको आने में बड़ी देर हो जाती है। पहले मैं भी उनकी प्रतीक्षा में बैठी बैठी रहती थी। पर इधर कई वर्षों से मेरी इच्छा पर उन्हीं का अनुशासन चलता है। उनका यह हुक्म आदेश है कि खाने के लिए अगर कोई मेरी प्रतीक्षा में बैठेगा, तो वह मेरी आत्मा को कष्ट पहुँचाएगा।

मोहन ने कहा—पाँच बजे उनके आने का समय है। इस समय छः ही तो बजा है। और आधा घंटा देख लेते हैं।

बिन्दू और मुनियाँ दौड़ते हुए आ पहुँचे। दोनों हाथ मोहन के कन्धों पर रखकर मुनियाँ बोली—दद्दा, बाबू को कहाँ छोड़ आये? बताओ-बताओ!

बिन्दू को बाहर से कुछ आहट मिली, इसलिए वह दौड़कर बाहर जा पहुँचा। उसे दौड़ता हुआ देखकर मुनियाँ भी समझ गयी कि बाबू आ गये। फलतः वह भी दरवाज़े की ओर दौड़ गयी।

[illegible] बिहारीबाबू ज्यों ही अन्दर आये, त्यों ही मोहन ने कहा—चाचा जी, आज आपने बहुत देर कर दी, कहाँ चले गये थे? मैं तो बहुत देर से आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

बोले—आज मैं [illegible] के कार्यालय में चला गया था।

वहाँ आज वार्षिक अधिवेशन था। दुष्टों ने बड़ा अन्धेर मचा रक्खा है। इतना लाभ होते हुए भी हिस्सेदारों को केवल ३½ प्रति सैकड़ा दिया ?

तदनन्तर खाना खाने के बाद दोनों छत पर बैठकर वार्तालाप करने लगे।

मोहन—तो आप हिस्सों को बेच क्यों नहीं देते ? जो मिले उसे बैंक में जमा करो या किसी अन्य रोज़गार में लगा दो। आख़िर मिल में कुल लाभ कितना हुआ होगा ?

बिहारी—लगभग एक लाख के हुआ होगा।

मोहन ने पूछा—यह लाभ असली है, अथवा इसमें कोई अन्य आमदनी भी शामिल है ?

बिहारी—अर्थशास्त्र की दृष्टि से लाभ के दो भेद होते हैं—वास्तविक लाभ और कुल लाभ। कुल लाभ में बहुधा वास्तविक लाभ के अतिरिक्त कुछ अन्य आमदनी भी सम्मिलित रहती हैं। जैसे—साहसी की निजी पूँजी का सूद, उसकी अपनी ज़मीन का किराया तथा उसकी विशेष सुविधाओं से होनेवाला लाभ। साधारण भाषा में लाभ और कुललाभ में अन्तर नहीं जान पड़ता और लोग कुललाभ को ही लाभ कहते हैं। यह लाभ जो मैंने अभी बतलाया, असली है, कुल नहीं।

मोहन—साहसी की विशेष सुविधाओं से कौन-सा लाभ हो सकता है ?

बिहारी—इन सुविधाओं का बहुत असर पड़ता है। मान लो, एक ऐसा व्यवस्थापक है, जो अपने कार्य में विशेष कुशल नहीं है। वह अपना चीनी का कारख़ाना खोलने का स्थान चुनने में भूल कर सकता है। वह गोरखपुर, बस्ती आदि के स्थान पर बाँदा या हमीरपुर के ज़िलों में कारख़ाना खोल सकता है। इससे उसे प्रतिवर्ष ईख मँगाने के लिए रेल-किराये में अधिक व्यय करना पड़ेगा। सम्भव है कि इन ज़िलों के अधिक घने न बसे हुए होने के कारण उसे मज़दूरों को भी अधिक मज़दूरी देना पड़े। बिजली न होने के कारण संचालनशक्ति के लिए उसे भाप के एंजिन का प्रयोग करना होगा। इससे व्यय और भी अधिक हो जायगा। सम्भव है, इतना ख़र्च बढ़ जाने से उसे अधिक योग्य व्यवस्थापकों की स्पर्द्धा के कारण बाज़ार से हट जाना पड़े। इससे इस मिल के चलाने का

साहस करने के परिणाम-स्वरूप एक भारी क्षति उठानी पड़ेगी। इसके विपरीत दूसरा साहसी व्यक्ति यदि ऐसे स्थान पर मिल बनाता है जहाँ उपरोक्त असुविधाएँ नहीं हैं तो उसको आशातीत लाभ मिल जाने की आशा हो सकती है।

मोहन—मगर ऐसा तो बहुत कम होता होगा।

बिहारी—नहीं, यह कोई कल्पना की बात नहीं है। सार्वजनिक जीवन में नित्यप्रति ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं। किसी भी बाज़ार में देखो, कितने नये दूकानदार अपने कार्य में सफल होते हैं और कितनों को अपना स्टाक स्वल्प मूल्य में ही बेचकर विदा होना पड़ता है।

मोहन—मगर फिर भी हम यह तो देखते ही हैं कि कहीं कम और कहीं अधिक लाभ होता है।

बिहारी—लाभ के विभिन्न मात्रा के होने में और भी अनेक कारण हैं। जैसे—यदि किसी क्षेत्र में एक ही व्यवसायी को एकाधिकार प्राप्त है, तो उसका लाभ विशेष होगा। इस अवस्था में लाभ अधिक हो सकता है। आपस में प्रतिस्पर्द्धा होने से लाभ की दर गिरने लगती है। यह प्रतिस्पर्द्धा जितनी ही अधिक होगी—लाभ उतना ही कम होगा। यदि किसी व्यवसाय में लाभ अधिक होने लगता है, तो अन्य उद्योगों के व्यवसायी अपने कम लाभ के व्यवसाय को छोड़कर उधर ही झुकने लगते हैं। ये बहुधा अधिक पूँजी लगाकर बड़े-बड़े कारखानों का निर्माण करते हैं। अधिक कार्य-कुशल होने के कारण इन्हें लाभ भी अधिक होने लगता है। ये कम दाम पर अपनी वस्तु बेचकर अयोग्य व्यवसायियों को क्षेत्र से बाहर कर देते हैं। साथ ही इस कार्य-कुशलता के कारण ये पहले से ही अपना कार्य-क्षेत्र ऐसे स्थान पर बनाते हैं, जहाँ प्राकृतिक सुविधाएँ सरलता से प्राप्त होती हैं; जैसे [illegible] होती है, कच्चा माल कम दामों पर मिलता है और पूँजी [illegible] कम सूद पर मिल सकती है, तथा मज़दूरी भी जहाँ सुविधा [illegible] होती है।

मोहन—इससे यह भी मालूम होता है कि यहाँ प्रतिस्पर्द्धा

यथेष्ट हो, ताकि मज़दूर सरलता से और सस्ते मिल सकें; साथ ही वह वस्तु की बिक्री के लिए केन्द्र भी हो।

बिहारी—हाँ, तुम्हारा कहना ठीक है।

इसी प्रकार व्यवस्थापक की प्रबन्ध करने की योग्यता का भी लाभ के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। शिक्षा के विकास से ऐसे व्यवस्थापकों की संख्या और योग्यता दोनों बढ़ रही हैं। इससे लाभ की दर स्वभावतः गिर रही है। परन्तु इससे देश की औद्योगिक उन्नति बढ़ती तथा पूँजी की वृद्धि होती है।

इसके बाद यदि किसी देश में शिक्षा के अभाव के कारण मज़दूर-सभाओं का विकास नहीं हुआ है तो वहाँ मज़दूरी कम होती है। ऐसी अवस्था में लाभ अधिक होता है।

परन्तु यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने की है कि उत्पादन-व्यय की अन्य मदों में जितना ही अधिक ख़र्च होगा, उतना ही लाभ कम होगा। इसके अतिरिक्त कुछ लोग यह समझने लगते हैं कि वस्तु के दाम बढ़ाने से लाभ बढ़ जाता है—यह उनकी सरासर भूल है। दाम बढ़ाने से लाभ बढ़ता नहीं है; क्योंकि जब दाम बढ़ जाते हैं तो वस्तु की मांग भी तो कम हो जाती है। वस्तु की मांग प्रायः दामों के कम होने से ही बढ़ती है। क्योंकि दाम बढ़ जाने से किसी वस्तु के बदले अन्य सस्ती वस्तुएँ उपयोग में लाई जाने लगती हैं। उदाहरणार्थ—लड़ाई शुरू हुई, विदेशी औषधियों के दाम बढ़ गये। लोगों ने खूब लाभ उठाने की बात सोची थी। परन्तु इसके विपरीत परिणाम यह हुआ कि लोगों ने डाक्टरों के यहाँ जाना ही बन्द कर दिया और वे वैद्यों तथा हकीमों की दवा लेने लगे।

इसी प्रकार लाभ का समय से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। तैयार की गई वस्तुएँ जितनी शीघ्र बिकेंगी उतना ही अधिक लाभ होगा।

मोहन—तो क्या इन बातों का ध्यान रखते हुए भारत में ऐसे व्यवसाय नहीं चालू किये जा सकते जिनमें खूब लाभ हो? नित्य हम देखते हैं कि छोटी-छोटी तमाम चीज़ें ऐसी हैं जो अन्य देशों से आती हैं।

बिहारी—क्यों न हों? ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जिनमें लाभ हो सकता है। परन्तु हमारे यहाँ की मुख्य समस्या साहसियों का अभाव है।

भारतीयों को जब तक सोलह आने लाभ की आशा नहीं हो जाती, तब तक वे रुपया लगाते ही नहीं। वे रुपया या तो गाड़ रखते हैं अथवा ज़ेवर आदि में ख़र्च कर डालते हैं। उदाहरण के लिए कृषि को ही ले लो। हमारे देश में वैज्ञानिक खादों तथा औज़ारों की कमी है। अगर रुपया लगाकर वे असुविधाएँ दूर कर दी जावें, तो सैकड़ों नहीं हजारों का लाभ हो सकता है। परन्तु कोई ऐसा करना ही नहीं चाहता।

इसी प्रकार दूसरी असुविधा बीज की है। अगर बीज का सुचारु रूप से प्रबन्ध किया जाय तो सैकड़ों मनों की उत्पत्ति बढ़ाई जा सकती है। बहुत सी कृषि-योग्य भूमि अब भी यहाँ ऐसी पड़ी है जिसका पूँजी लगाने के लिये साहसियों के अभाव के कारण, समुचित उपयोग नहीं हो रहा है। अगर इस ओर पूँजीपति तथा साहसी लोग ध्यान दें तो विशेष लाभ की आशा है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है घरेलू उद्योगधन्धों की उन्नति कैसे हो? सरकार का इस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं है। घरेलू उद्योगधन्धे उन्नत करने से भारत की आर्थिक समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है और देहातों तथा शहरों दोनों की बहुत कुछ दरिद्रता दूर की जा सकती है।

मोहन—यही स्थिति है अन्य रोज़गारों की। जैसे खिलौने तथा प्रति-दिन के उपयोग में आनेवाली अन्य वस्तुएँ—जैसे शीशे का सामान, दवाइयाँ, स्टेशनरी, साइकिलें और कपड़ा। इनमें भी तो लाखों रुपया प्रति वर्ष विदेश भेजा जाता है।

बिहारी—हाँ, यदि यही धन्धे भारत में शुरू कर दिये जायँ तो यह रुपया भारत से बाहर जाने से रोका जा सकता है। इससे केवल लाभ ही न होगा, बल्कि देश की आर्थिक स्थिति बहुत कुछ सुधर सकेगी। इन कार्यों में सरकार को सहयोग देना चाहिये। बिना सरकारी सहायता के ऐसे व्यवसाय पनप न सकेंगे।

मोहन ने [illegible] हुए कहा—और सब तो आपने बतला दिया, परन्तु [illegible] लाभ का सिद्धान्त क्या है?

बिहारी—लाभ सदा जोखिम पर निर्भर होता है। जिस उद्योग में [illegible] होती है, उसमें लाभ भी [illegible] होता है। इसके विपरीत

जिसमें जोखिम ज़्यादा होती है, उसमें लाभ भी ज़्यादा होता है। जोखिम अधिक होनेवाले कामों में जब कभी कोई दुर्घटना हो जाती है, तो लाखों की हानि कुछ ही घंटों के अन्दर बात की बात में हो जाती है। इसीलिए ऐसे व्यापारों में लाभ की मात्रा जोखिम सहने की शक्ति जोड़-कर लगायी जाती है।

मोहन—पर विभिन्न व्यवसायों में होनेवाले लाभों में प्रायः जो अधिक अन्तर देख पड़ता है, उसका कारण क्या है?

बिहारी—चाहे जो व्यवसाय हो, प्रति वर्ष लाभ एक सा नहीं होता। कभी कम और कभी ज़्यादा, यही क्रम रहता है। उसमें कभी-कभी हानि भी हो ही जाती है, जैसा कि मैंने अभी बतलाया। अतएव एक निश्चित अवधि के अन्दर होनेवाले लाभ और हानि का औसत निकाल लिया जाता है। उस औसत से जो लाभ निकलता है वही उस व्यवसाय पर होनेवाले लाभ की साधारण दर मानी जाती है। रह गयी व्यवसायों में होनेवाले लाभों के विशेष अन्तर की बात। सो जोखिम पर विचार करके देखा जाय, तो अन्त में सारे व्यवसायों का औसत-लाभ प्रायः समान ही होगा। जिसमें जिस अनुपात से जोखिम अधिक होगी, उसमें उसी अनुपात से लाभ भी अधिक होगा। इस प्रकार दस-बारह वर्षों के औसत लगाने से असली लाभ की दर प्रायः प्रत्येक व्यवसाय में एक-सी रहती है।

यह वार्तालाप अभी चल ही रहा था कि किसी ने दरवाज़ा खटख-टाया। मोहन तुरन्त उठकर बाहर चला गया। परन्तु फिर तुरन्त ही लौट कर बोला—ज्ञानचन्द बाबू आये हैं।

तब बिहारी बाबू बाहरी बैठक में आ गये और ज्ञानचन्द को देखते ही बोले—कहिये, आज की सभा के सम्बन्ध में आपका क्या वक्तव्य है?

ज्ञानचन्द—वक्तव्य की न पूछो। मुझे तो पता चला है कि लाभ जितना अधिक हुआ है, उतना बतलाया नहीं गया। सारा हिसाब जाली है।

बिहारी—किसने तुमसे कहा है?

ज्ञानचन्द—बहुत ख़ास आदमी ने। नाम जानकर क्या कीजिएगा? आफ़िस का आदमी है।

बिहारी—तब क्या राय है ?

ज्ञानचन्द—इस साल तो जो हुआ सो हुआ। अब हम लोग कुछ कर भी नहीं सकते। पर अगले वर्ष हम लोगों को इसी काम के लिए कुछ आंदोलन करना पड़ेगा। हिस्सेदारों की सभा में अपना बहुमत करके डायरेक्टरों और आडीटर को बदल देंगे। जैसे भी होगा, घपलेबाज़ी हम एक नहीं चलने देंगे। जब तक धोखेबाज़ी और जालसाज़ी में कुछ लोगों को हम जेल की हवा न खिला देंगे, तब तक हमें संतोष न होगा। एक चिट्ठी तो हम आज ही एक दैनिक पत्र में दे आये हैं, कल सवेरे पढ़ियेगा।

बिहारी—आपने इस समय मेरे हृदय की स्थिति के अनुसार ही बातें की हैं। इसके लिए धन्यवाद। इसके सिवा मैं सब तरह से आपके साथ हूँ। जैसा-जैसा आप कहेंगे, बराबर करूँगा।

बासठवाँ अध्याय

अत्यधिक लाभ

बिहारी बाज़ार जा रहा था। अतएव उसने मोहन से कहा—अपनी चाची से पूछ लो, कोई चीज़ मँगानी तो नहीं है।

मोहन ने जब भीतर जाकर चाची से पूछा—बाज़ार से कुछ लाना तो नहीं है, तो चाची बोली—बग़लवाली कहती थीं—एटेबेरिन की गोलियाँ चुक गयी हैं। कभी कोई जाय तो मँगा लेना। सो उनके लिए पन्द्रह गोलियाँ लेते आना।

इतना कहकर वे उठीं और झट से पाँच रुपये का एक नोट लाकर उन्होंने मोहन को दे दिया। नोट लेकर जब मोहन बिहारी के साथ चलने लगा, तो बग़लवाली के लिए एन्टेटेरिन की गोलियाँ लाने की बात के सिलसिले में उसने कहा—क्यों चाचा, अगर इस समय भी आयात-निर्यात के साधन अनायास पूर्ववत् सुलभ हो जायँ, तो एटे-बेरिन की गोलियाँ बनानेवाली कम्पनी को काफ़ी लाभ होगा—लेकिन काफ़ी ही क्यों, मैं तो कहना चाहता हूँ कि अत्यधिक लाभ होगा।

बिहारी ने मुसकुराते हुए पूछा—लेकिन पहले यह तो बताओ कि अत्युधिक लाभ अर्थशास्त्र की दृष्टि से कहते किसे हैं?

मोहन—मैं तो यही समझता हूँ कि साधारण लाभ की अपेक्षा जब अधिक लाभ होता है, तब उसे अत्यधिक लाभ कहते हैं।

बिहारी—कहना तुम्हारा साधारणतया सही है; किन्तु अर्थशास्त्र में जिसे अत्यधिक लाभ माना गया है, उसकी यह परिभाषा अधूरी कह-लायेगी।

मोहन ने आश्चर्य से कहा—अच्छा !

बिहारी—भूमि, श्रम, पूँजी और प्रबन्ध, उत्पत्ति के इन सभी साधनों का व्यय निकालने के बाद जो बचता है, वह लाभ होता है, यह तो तुमको मालूम ही है। दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प, युद्ध अथवा अन्य किसी विशेष स्थिति में वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि के कारण जो विशेष लाभ होता है उसे अत्यधिक-लाभ कहते हैं। यह अत्यधिक-लाभ थोड़े ही वर्षों तक हो सकता है। यदि उसका समय बढ़ जाता है, तो अन्य क्षेत्रों के व्यवसायी भी उसी ओर टूट पड़ते हैं। तब प्रतिस्पर्द्धा में वस्तुओं का मूल्य गिर जाता है और लाभ साधारण रह जाता है।

इस अत्यधिक लाभ के विषय में सरकार का यह कहना होता है कि उत्पादकों का इस अत्यधिक-लाभ में कोई हिस्सा नहीं है। उन्होंने उत्पत्ति-काल में इसकी आशा नहीं की थी, न वह उनके परिश्रम का फल है और न वे इसके अधिकारी ही हो सकते हैं।

मोहन—कहना तो उसका उचित ही है। पूरा न सही, तो उसका एक हिस्सा ही सही, पर मिलना उसे ज़रूर चाहिए।

बिहारी—पर तुमने यह भी सोचा कि जब संकट-काल में उत्पादकों को हानि होती है, तो उसकी पूर्ति भी क्या सरकार करती है? लाभ ही में वह अपना हिस्सा लगाना जानती है, और हानि के समय चुप रहती है, क्या उसके लिए यह उचित है?

मोहन—हाँ, यह बात आपने खूब सोची। अच्छा तो इसके लिए फिर अर्थशास्त्र क्या व्यवस्था देता है?

बिहारी—वही पुराना उपाय, जिसकी चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ। अर्थात् अत्यधिक लाभ की रक़म को एक विशेष कोष में सुरक्षित रखकर उस समय उसका उपयोग करना, जब व्यावसायिक मंदी उपस्थित होने पर यकायक वस्तुओं का मूल्य घट जाता है।

मोहन—हाँ, यही ठीक है। किन्तु प्राचीनकाल में इसके लिए क्या विधान था, चाचा?

बिहारी—उस समय अत्यधिक लाभ पर नियंत्रण रखना अत्यन्त आवश्यक

माना जाता था। आचार्य कौटिल्य ने अपरिमित तथा अमर्यादित लाभ उठाने वालों को डाकू तथा चोर माना था। उनके अनुसार लाभ लागत का केवल पाँच प्रतिशत होना चाहिये। कुछ दशाओं में दस प्रतिशत तक हो सकता है।

मोहन—परन्तु आजकल तो ऐसा कोई नियंत्रण है नहीं।

बिहारी—नहीं है। इसीलिए तो व्यवसायी लोग सारे लाभ को हड़प लेते हैं। वे मज़दूरों को इसीलिए मुनासिब वेतन नहीं देते। लाभ बढ़ाने के लिए मज़दूरों को कम-से-कम मज़दूरी देकर अधिक-से-अधिक काम लेते हैं। अतएव अब यह नियंत्रण का प्रश्न अंतर्राष्ट्रीय हो गया है। सरकार भी इसमें हाथ बटाने लगी है। मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों का मुनाफ़ा जब एक निश्चित परिमाण से अधिक हो जाता है तो सरकार अतिरिक्त कर के रूप में हिस्सा बँटाने लग जाती है। बहुधा बड़े-बड़े व्यवसायों को तो वह अपने अधिकार में ही कर लेती है। भारत में नहर के व्यवसाय में सरकार का पहले से ही हाथ है। सब से अच्छा उदाहरण तो तुम आजकल ही देख रहे हो। जब से महायुद्ध आरम्भ हुआ है—व्यवसायियों ने अनुचित लाभ उठाना शुरू कर दिया; परन्तु सरकार ने हस्तक्षेप किया और एक हद बना दी कि जिसके आगे लाभ लेनेवालों पर वह सरकारी कार्य्यवाही कर सकती है।

मोहन—लाभ की सीमा को निर्धारित करते समय सरकार किन बातों को ध्यान में रखती है? सम्भव है कि यह बड़े-बड़े मालिकों तथा व्यवसायियों की बातों का ही ध्यान रखती हो।

बिहारी—नहीं, ऐसा नहीं होता। वह काम करनेवाले छोटे-छोटे मज़दूरों तथा आम जनता का भी ध्यान रखती है। आचार्य कौटिल्य के अनुसार व्यापार-व्यवसाय का उद्देश्य धन-सम्पत्ति एकत्रित करना नहीं है। यह तो सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। महाभारत में भी लिखा है कि लाखों का धन-संग्रह बिना दूसरों का अपकार किये नहीं होता। आजकल भी हम इसी प्रकार का आन्दोलन देख रहे हैं। समाजवाद उसी का एक उदाहरण है। समाजवाद की झलक अब हमारे देश में भी आने में लगी है। इसका उद्देश्य लाभ बन्द कर देने का है।

रूस में भी, जहाँ समाजवाद का सबसे अधिक विकास हुआ है, भूमि और सम्पत्ति की मालिक सरकार है। किसी-किसी का मत है कि सरकार को कर के रूप में मुनाफ़े का अधिकांश भाग ले लेना चाहिये, जिससे व्यवसायी को छ प्रतिशत से अधिक लाभ न हो। सरकार अपने वसूल किये हुए कर को जनता के उपयोगी कार्य्यों में व्यय कर सकती है। इससे व्यवसाय का विकास भी न रुक सकेगा और लाभ का अधिकांश जनता को भी मिल सकेगा।

कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि कारख़ाने के मालिक मज़दूरों से इस प्रकार का समझौता कर लेते हैं कि अमुक सीमा से ऊपर जो कुछ लाभ होगा, उसका एक नियत भाग मज़दूरों को भी दिया जायगा। इससे मज़दूर अपना कार्य ख़ूब मन लगाकर करते हैं। इससे लाभ भी बढ़ता है। मज़दूरों की मज़दूरी भी बढ़ती है तथा साथ ही उनकी कार्य्यक्षमता भी।

इस तरह वार्तालाप करते हुए दोनों उसी दूकान पर जा पहुँचे, जहाँ पहले उन्होंने एटेवेरिन की गोलियाँ ली थी।

अन्दर जाते ही बिहारी ने पूछा—एटेवेरिन की गोलियाँ किस भाव देते हैं?

दूकानदार—भाव तो साढ़े पाँच रुपये का है, किन्तु आप साढ़े पाँच आने कम दे दीजिये। हमारी कम्पनी ने यह तै किया है कि अपने स्थायी-ग्राहकों से हम एक आना रुपया कम लेंगे।

मोहन बिहारी की ओर देखकर बोला—मैं आपकी कम्पनी की दूर-दर्शिता की प्रशंसा करता हूँ।

तिरसठवाँ अध्याय

आर्थिक असमानता

प्रातःकाल दातून करते हुए बिहारी बाबू ज्योंही बैठक में आये, त्योंही उन्होंने देखा—एक पुस्तक-विक्रेता महाशय एक मज़दूर के सिर पर पुस्तकों से भरा बक्स रखाये खड़े हुए हैं और उनसे मोहन पूछ रहा है—समाजवाद की भी पुस्तकें रखते हो कि नहीं ?

पुस्तक-विक्रेता ने कहा, अभी दिखलाता हूँ और बक्स उतारकर उसने आठ-दस पुस्तकें मोहन के सामने रख दीं। मोहन ने सबको सरसरी दृष्टि से देखा और कह दिया—ये सब तो पुरानी पुस्तकें हैं। मैं इन्हें पढ़ चुका हूँ। और कोई नयी पुस्तक हो, तो दिखलाओ।

पुस्तक-विक्रेता ने कहा—दो-एक पुस्तकें इस विषय पर और हैं, उन्हें मैं इसके हाथ आपके पास भेज दूँगा।

मोहन बोला—अच्छी बात है।

पुस्तक-विक्रेता चला गया। संध्या समय वही आदमी, जो सवेरे पुस्तकों से भरा बक्स लादे हुए था, तीन पुस्तकें हाथ में लिये हुए मोहन के सामने था। मोहन ने इन तीनों पुस्तकों को देखकर एक पसन्द की और चाचा से कहा—देखिये, यह पुस्तक मुझे अच्छी जान पड़ती है।

पुस्तक देखकर बिहारी ने कहा—हाँ, अच्छी है। किन्तु उसी समय बिल्लू और मुनियाँ भी आ पहुँचे और बोले—बाबू, हमें भी किताब ला दो, हम भी पढ़ेंगे।

बिहारी ने कहा—यह पुस्तक रख जाओ और अपने मालिक से कहना,

कुछ पुस्तकें बच्चों के पढ़ने लायक़ लेकर आवें, तब एक साथ दाम दिया जायगा। इस पर वह आदमी चलने लगा। मोहन ने देखा, वह चलने तो लगा, परन्तु उसने कोई उत्तर नहीं दिया; तब उसने पूछ लिया—क्या समझे?

उसने जवाब दिया—बच्चों के पढ़ने लायक़ पुस्तकों के साथ भैया को भेज देना है।

मोहन ने कहा—हाँ, बस जाओ।

ज्योंही यह आदमी आँखों से ओझल हुआ, त्योंही मोहन ने कहा—मैं तो इसे मामूली मज़दूर समझता था चाचा। पर इसने तो अपने मालिक के लिए भैया शब्द का प्रयोग किया है। पर दोनों के रहन-सहन में कितना अन्तर है!

बिहारी ने उत्तर दिया—सगा भाई न होगा। किन्तु इससे क्या, असमानता तो आज की एक समस्या है।

मोहन—किन्तु चाचा समाजवादी लोग तो कहते हैं कि यह स्वाभाविक नहीं है। इसे स्वार्थी मनुष्य ने पैदा किया है। किन्तु मेरी समझ में नहीं आता कि ज़मींदार और किसान, मालिक और नौकर, पूँजीपति और मज़दूर तथा ग़रीब और अमीर में आज जो असमान रूप हम देखते हैं, वह मनुष्य का पैदा किया हुआ किस प्रकार है। किसी वकील के दो लड़के हैं। वह दोनों को उच्च शिक्षा देने की चेष्टा करता है। एक मैट्रिक में तीन वर्ष लगातार फ़ेल होने के कारण पढ़ाई छोड़ बैठता और घर पर बेकारी का जीवन व्यतीत करने लगता है। दूसरा सात वर्ष में बैरिस्टर होकर हाईकोर्ट जाने लगता है।

बिहारी—किन्तु यहाँ तुमने जो उदाहरण लिया है, उसमें प्रतिभा और योग्यता में प्रकृत भेद है। परन्तु मैं तो इसके बिलकुल विपरीत स्थिति देखता हूँ। मान लो, किसी कालेज में एक अध्यापक का स्थान रिक्त हुआ है। उसकी नियुक्ति के लिए विज्ञापन दिया जाता है। बीसों उम्मीदवार प्रार्थना-पत्र भेजते हैं, जिनमें एक-से-एक अच्छे और योग्य व्यक्ति हैं। किन्तु नियुक्त होती है एक ऐसे व्यक्ति की, जो छोड़ दिये गये उम्मेद-

वारों की अपेक्षा योग्यता में कहीं अधिक निम्नकोटि का होता है। मालिक और नौकर, पूँजीपति और मज़दूरों में भी मुझे ऐसे ही अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रायः मैंने देखा है कि जो लाखों की सम्पत्ति का स्वामी बना बैठा है, वह योग्यता में इतनी हीन-श्रेणी का है कि उसे बीस रुपये महीने की नौकरी भी मुश्किल से मिलेगी। किन्तु अवसर आने पर वही आदमी, अपने उस मुनीम को, जो चालीस रुपये मासिक वेतन का व्यक्ति है, "नालायक़" शब्द कह बैठता है। सैकड़ों व्यक्ति हमें समाज में ऐसे नित्य मिलते हैं, जिनके काम करने का दैनिक औसत समय तीन घंटा भी नहीं है, किन्तु आराम के सारे साधन उनके पास हैं और निरन्तर वे उसका भोग करते हैं। इसके विपरीत उन्हीं के कारख़ाने में बीसों ऐसे लोग काम करते हैं, जिनके कार्य करने की सीमा दस घंटे प्रतिदिन है। किन्तु बहुत कम वेतन पाने के कारण न तो उनके परिवार-भर को खाने का पूरा सुभीता हो पाता है, न पहनने का। किसानों और ज़मीदारों के बीच भी ऐसा ही अन्तर पाया जाता है।

मोहन—अच्छा चाचा, तो आपने इस सम्बन्ध में क्या सोचा है?

बिहारी—इस समय मैं अपनी बात न कहकर अर्थशास्त्र की बात कहना चाहता हूँ। थोड़ी-बहुत असमानता तो प्रकृत है और सर्वत्र है। उसे कोई दूर नहीं कर सकता।

मोहन—कहा जाता है कि रूस में इस समय असमानता नहीं है। वहाँ तो साम्यवाद का प्रचार हो गया है।

बिहारी—ग़लत बात है। आर्थिक-स्थिति तथा सामाजिक पद-मर्यादा में मनुष्य कभी समान हो नहीं सकता। इस अन्तर को तो रखना ही पड़ेगा। यह कभी मिट नहीं सकता।

मोहन ने आश्चर्य से कहा—आप कह क्या रहे हैं चाचा! क्या आपका भी यही विश्वास है? मैं तो समझता था कि······।

मोहन अपने वाक्य को पूरा भी नहीं कर पाया था कि बिहारी ने कह दिया—पहले समझ लो कि मैं कह क्या रहा हूँ। हाँ, तो मैं कहना यह चाहता हूँ कि कुछ समानता तो स्वाभाविक है।

मोहन—कारण ?

बिहारी—क्योंकि मनुष्य की उत्पत्ति समान गुण, अवस्था, प्रकृति और स्थिति में नहीं होती। योग्यता भी सब की समान नहीं हुआ करती। यहाँ तक कि रुचि और प्रकृति में भी प्रायः महान अन्तर देखा जाता है। अतएव यह समानता, जो योग्यता के भेद के कारण होती है, संस्कार-जन्य है और अमिट है।

मोहन—अच्छा, इसके बाद ?

बिहारी—असमानता का दूसरा कारण है पूँजीवाद। पहले उत्पत्ति बहुत सीमित और निम्न क्षेत्रों में होती थी। जब तक सभ्यता के विकास में वर्तमान युग नहीं आया था, जिसे पूँजीवाद या कलपुर्जों का युग कहते हैं, तब तक असमानता का प्रश्न उपस्थित ही नहीं हुआ था। लोग अधिकतर अपनी पूँजी और श्रम लगाकर अपने उद्योग करते थे, इस कार्य में उन्हें उनके स्त्री-बच्चों से सहायता मिल जाती थी। वे अपनी वस्तु ले जाकर स्वयं ही बाज़ार में बेंच आते थे। जो कुछ हानि-लाभ होता था उसी पर सन्तोष करते थे। इस प्रकार के व्यवसायी कहीं-कहीं वर्तमानकाल में भी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कृषि के व्यवसाय में भी यही अवस्था अवश्य रही होगी।

अँगरेज़ों के भारतवर्ष में आने पर जहाँ एक ओर शान्ति की स्थापना हुई, वहाँ साथ-ही-साथ घरेलू उद्योग-धन्धों का भी नाश हो चला। इन धन्धों के काम से छूटे हुये लोग भी खेती करने लगे। जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण भूमि की माँग और भी बढ़ गई। खेतों के लिए पारस्परिक स्पर्धा बढ़ने लगी। जहाँ पहले जमीन्दार कृषकों को अपने गाँव में बसने के लिए आमन्त्रित किया करते थे, वहाँ अब वे उनकी पारस्परिक स्पर्धा का लाभ उठाकर मनमाना नज़राना ऐंठने और लगान बढ़ाने लगे। इस प्रकार उत्पत्ति के क्षेत्र में परिवर्तन यह हो गया है कि पहले पूँजी जन-साधारण के अधिकार के अन्तर्गत थी, अब वह समाज के वर्ग-विशेष के हाथों जा पहुँची है। घरेलू उद्योग-धन्धों का नाश हो गया है और कल-कारख़ाने बढ़ गये हैं। उत्पत्ति बहुत बड़ी मात्रा में होती है, जिसमें लाभ

अधिक होता है और मज़दूरी कम देनी पड़ती है। इस विषय में सबसे अधिक चिन्त्य और विचारणीय विषय यह है कि इस असमानता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। जब तक इस वृद्धि का क्रम भंग नहीं होता, तब तक यह बढ़ती ही जायगी। और इस असमानता की वृद्धि अगर तुरन्त रोकी न गयी, तो आश्चर्य्य नहीं कि यह एक युग के लिए स्थायी हो जाय।

मोहन—चाचाजी, इसके मूल में आपको कौन-सा मुख्य कारण देख पड़ता है?

बिहारी—(१) दाय-सम्बन्धी विधान—जिसके अनुसार अमीर आदमी का पुत्र भी उत्तराधिकार में सारी सम्पत्ति का स्वामी होकर अमीर ही बना रहता है, चाहे वह कैसा ही अयोग्य और निकम्मा क्यों न हो, (२) सामाजिक रूढ़ियाँ और कुप्रथाएँ—जिसके अनुसार अनमेल विवाह होते हैं और सामाजिक संगठन का स्वरूप दिन-पर-दिन विकृत होता जा रहा है। और इसी का यह दुष्परिणाम हम आज नित्य देखते हैं कि मज़दूरों और किसानों का जीवन आज मनुष्यता से इस तरह गिर गया है कि जानवर तो उनकी अपेक्षा फिर भी अधिक सुखी हैं। देश की भी सम्पत्ति, शक्ति और सामयिक जागृति का सबसे अधिक नाश उसी समय होता है, जब अत्यधिक असमानता स्थायी हो जाती है। आज जो लड़ाइयाँ हमारे गृह और समाजगत जीवन में देख पड़ती हैं, असमानता ही के कारण। आज जो आत्मघात, वैर-विरोध, लूट, डाका, हत्याकांड, और नरसंहार का संसार-व्यापी महानाशकारी दृश्य हमको देख पड़ता है, उसका मुख्य कारण यह असमानता की वृद्धि ही है।

यह वार्तालाप उस समय यहीं स्थगित होगया।

सायंकाल वही पुस्तक-विक्रेता जब बच्चों के लिए पुस्तकें लेकर पुनः उपस्थित हुआ, बिल्लू और मुनियाँ रंग-बिरंगी पुस्तकें लेकर उछलने-कूदने लगे, तो बिहारी ने कहा—मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य्य हुआ कि जिसके सिर पर तुम यह दो मन का बोझ लादकर मीलों घूमते हो, वह तुम्हारा भाई है!

पुस्तक-विक्रेता बोला—सगा भाई नहीं है। ममेरा भाई है। देहात से अभी

बुलाया है। वहाँ पर बेकार पड़ा हुआ था। अब यहाँ इसको इसी काम में डालना है। उस समय मुझे कोई कुली मिल नहीं सका था। मैंने मना भी किया, किन्तु उसने नहीं माना। अभी कल ही तो आया है। कपड़े भी अभी सिलकर नहीं मिले हैं।

चौसठवाँ अध्याय

असमानता को दूर करने के उपाय

मोहन रक्षा-बन्धन के अवसर पर देहात गया हुआ था। अभी कल ही लौटा है। इस बार उसने देहात जाकर अपनी दृष्टि को एक विशेष विषय के अध्ययन में लगा रक्खा था। प्रत्येक पुरुष को उसने जब देखा, तब उसके रहन-सहन, आर्थिक स्थिति, पेशा और उसके सम्बन्ध में उसका अपना प्रयत्न भी जानने की ओर उसका विशेष ध्यान रहता था। एक दिन के लिए वह अपने गञ्जा मामा के यहाँ भी गया था। वहाँ उसने देखा कि असली अर्थ में ज़मीदार कहे जाने योग्य व्यक्ति उस गाँव में केवल एक-आध हैं। शेष सभी गाँव में थोड़ी-थोड़ी ज़मीन के हिस्सेदार हैं। वे सब सवेरे से लेकर शाम तक लगातार खेती के काम में लगे रहते हैं। उनके अतिरिक्त साधारण स्थितिवाले जो किसान हैं, उनमें से अधिक मौरूसीदार हैं। इन्हीं लोगों के पास वह ज़मीन भी रहती है, जो मौरूसी नहीं होती। इन छोटे-छोटे ज़मीदारों और मौरूसी-दारों की स्थिति में विशेष अन्तर नहीं है। इन लोगों के घरों में इतना सुभीता है कि वे अपने बच्चों को थोड़ा-बहुत पढ़ा सकें। इनके यहाँ गायें, भैंसे हैं और लगातार नहीं, तो वर्ष के कुछ महीनों में दूध अवश्य होता है। इस तरह इन परिवारों के लिए मोहन ने तै किया कि ये सब मध्यम श्रेणी के लोग हैं।

मोहन ने गाँव में एक वर्ग और देखा। उसमें अधिकतर तो निम्न जाति के लोग हैं, कुछ थोड़े उच्च जाति के भी हैं। उनका रहन-सहन बहुत ही गिरा हुआ है। गर्मी और वर्षा ऋतु में वे फटी चिथड़े-सी, मैली धोती के

सिवा बदन पर कोई कपड़ा नहीं रखते। जाड़ों में आधी बाँह का पुराना सलूका या किसी का उतरन उनके बदन पर रहता है। उनके भोजन का कुछ ठीक नहीं है। जिन लोगों के यहां वे काम करते हैं, उन्हीं के यहां जो कुछ उन्हें खाने को मिल गया, वही उनका भोजन होता है। अगर मालिक के यहाँ कल की कुछ खाद्य-सामग्री बच रही है, तो वह बासी खाना ही उनका उस दिन का भोजन होगा, जो दस-ग्यारह बजे भी नहीं, दो बजे से पहले उन्हें नहीं मिलेगा। अगर किसी ने बासी-तिवासी खट्टा मट्ठा गिलासभर या तोला भर गुड़ दे दिया, तब तो यह उसकी बहुत बड़ी सहृदयता होगी। शाम के भोजन का कुछ ठिकाना नहीं है। क्योंकि इस श्रेणी के अधिकांश लोग सायंकाल के बाद का समय अपने-अपने झोपड़ों में ही व्यतीत करते हैं। विवाह इन लोगों के प्रायः कम होते हैं। अगर होते भी हैं, तो वह स्त्री भी कहीं-न-कहीं मज़दूरी करती रहती है। दिन भर के सारे परिश्रम के बाद उसने जो कुछ भी बना दिया, वही बहुत होता है। बेझर की रोटी और अरहर की दाल अगर बन गयी, तो बहुत बड़ी बात हुई। नहीं तो रोटी के साथ नमक के टोरे ही प्रायः मिलते हैं। मोहन ने अनुभव किया कि देहात का यही वर्ग सबसे अधिक शोषित है। ज़मीदार और मौरूसीदार किसान तो थोड़े से ही रहते हैं। गांवों की अधिकांश जनता प्रायः इसी वर्ग की है। हल येही जोतते हैं और खेती सम्बन्धी सारा काम येही करते हैं।

मोहन ने अनुभव किया कि इस प्रकार देहात में ज़मीदार बहुत थोड़े हैं, अधिकांश जनता उस श्रेणी की है जिसे हम मज़दूर कहते हैं। उधर शहरों में थोड़े-से नौकरी पेशा वाले लोगों को छोड़ दिया जाय, तो शेष सारी जनता मज़दूर है।

तब शहर आने पर मोहन ने बिहारी से कहा—चाचा, देहात और शहर दोनों की दशा देखकर मैं अक्सर यही सोचता रह जाता हूँ कि देश की अधिकांश जनता जब अत्यधिक ग़रीब है तब अतिशय उच्च वर्ग का अमित वैभव और विलास स्थिर और स्थायी कैसे हो रहा है! क्या इसके निराकरण का कोई उपाय नहीं है?

इस पर बिहारी ने कहा—उपाय क्यों नहीं है? स्वेच्छापूर्वक दान-धर्म

से यह असमानता दूर हो सकती है। दानों में सब से अधिक महत्त्व का दान अन्न, वस्त्र का समझा जाता है। अगर ग़रीब जनता के लिए अन्न-वस्त्र का सुप्रबन्ध हो जाय, तो प्रारम्भिक शिकायतें तो तुरन्त दूर हो सकती हैं।

मोहन—दानशीलता की हमारे देश में कमी नहीं है। पुरातन उदाहरण न भी लें, तो सर गंगाराम जैसे लोकसेवक लोग आज भी हमारे यहाँ उत्पन्न होते हैं।

बिहारी—किन्तु सारे देश के लिए तो ऐसे दानवीर बहुत बड़ी संख्या में चाहिए। हमारे यहाँ दान-धर्म जो थोड़ा-बहुत होता भी है, वह अशिक्षा के कारण अनुचित और असामयिक ढङ्ग से होता है। सुपात्र और कुपात्र का ध्यान ही नहीं रक्खा जाता। पंडे और महंत, जिनके पास मूलतः काफ़ी सम्पत्ति रहती है, प्रतिवर्ष सहस्रों रुपयों का दान पाते हैं। देश की धार्मिक प्रवृत्तियों की यह कितनी बड़ी अधार्मिकता है कि दान उसे दिया जाय, जो उसका पात्र नहीं है। देश की दानशील शक्तियों का यह कितना बड़ा क्षय है कि प्रतिवर्ष ऐसे लाखों रुपये दुर्व्यसनों तथा दुस्सह रोगों की वृद्धि में भेंट होते हैं। जीवन के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है अन्न-वस्त्र की, पहले उसका दान दरिद्र जनता के लिए होना चाहिए। उसके बाद उसकी नव सन्तति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है विद्या जिसका दान हमारे यहाँ नहीं के बराबर होता है! कुछ ठिकाना है, कितनी बड़ी संख्या में हमारी नवसंतति, अर्थाभाव के कारण, प्रति वर्ष शिक्षा-क्रम से वंचित हो जाती है। शिक्षा-संस्थाओं की वृद्धि इस कमी को बहुत अंशों में दूर कर सकती है।

मोहन—अच्छा, उसके बाद?

बिहारी—उसके बाद लोकोपकार के लिए वाचनालय, चिकित्सालय, पार्क, धर्मशाला तथा सड़क तथा कुवों के निर्माण की आवश्यकता है। यदि देश की इस महत् आवश्यकता की ओर ध्यान दिया जाय, और इसी उद्देश्य तथा क्रम से दान किया जाय, तो यह असमानता दूर होने में देर न लगे। हमारे यहाँ तो पुरातन-काल में ऐसे-ऐसे सम्राट हुए जो प्रति पाँचवें वर्ष अपना समस्त राज-कोष, अपनी सारी सम्पत्ति प्रजा के पीड़ितवर्ग के कष्ट-निवारण में दान कर देते थे।

सिवा बदन पर कोई कपड़ा नहीं रखते। जाड़ों में आधी बाँह का पुराना सलूका या किसी का उतरन उनके बदन पर रहता है। उनके भोजन का कुछ ठीक नहीं है। जिन लोगों के यहां वे काम करते हैं, उन्हीं के यहां जो कुछ उन्हें खाने को मिल गया, वही उनका भोजन होता है। अगर मालिक के यहाँ कल की कुछ खाद्य-सामग्री बच रही है, तो वह बासी खाना ही उनका उस दिन का भोजन होगा, जो दस-ग्यारह बजे भी नहीं, दो बजे से पहले उन्हें नहीं मिलेगा। अगर किसी ने बासी-तिवासी खट्टा मट्ठा गिलासभर या तोला भर गुड़ दे दिया, तब तो यह उसकी बहुत बड़ी सहृदयता होगी। शाम के भोजन का कुछ ठिकाना नहीं है। क्योंकि इस श्रेणी के अधिकांश लोग सायंकाल के बाद का समय अपने-अपने झोपड़ों में ही व्यतीत करते हैं। बिवाह इन लोगों के प्रायः कम होते हैं। अगर होते भी हैं, तो वह स्त्री भी कहीं-न-कहीं मज़दूरी करती रहती है। दिन भर के सारे परिश्रम के बाद उसने जो कुछ भी बना दिया, वही बहुत होता है। बेझर की रोटी और अरहर की दाल अगर बन गयी, तो बहुत बड़ी बात हुई। नहीं तो रोटी के साथ नमक के टोरे ही प्रायः मिलते हैं। मोहन ने अनुभव किया कि देहात का यही वर्ग सबसे अधिक शोषित है। ज़मीदार और मौरूसीदार किसान तो थोड़े से ही रहते हैं। गांवों की अधिकांश जनता प्रायः इसी वर्ग की है। हल येही जोतते हैं और खेती सम्बन्धी सारा काम येही करते हैं।

मोहन ने अनुभव किया कि इस प्रकार देहात में ज़मीदार बहुत थोड़े हैं, अधिकांश जनता उस श्रेणी की है जिसे हम मज़दूर कहते हैं। उधर शहरों में थोड़े-से नौकरी पेशा वाले लोगों को छोड़ दिया जाय, तो शेष सारी जनता मज़दूर है।

तब शहर आने पर मोहन ने बिहारी से कहा—चाचा, देहात और शहर दोनों की दशा देखकर मैं अक्सर यही सोचता रह जाता हूँ कि देश की अधिकांश जनता जब अत्यधिक ग़रीब है तब अतिशय उच्च वर्ग का अमित वैभव और विलास स्थिर और स्थायी कैसे हो रहा है! क्या इसके निराकरण का कोई उपाय नहीं है?

इस पर बिहारी ने कहा—उपाय क्यों नहीं है? स्वेच्छापूर्वक दान-धर्म

से यह असमानता दूर हो सकती है। दानों में सब से अधिक महत्व का दान अन्न, वस्त्र का समझा जाता है। अगर ग़रीब जनता के लिए अन्न-वस्त्र का सुप्रबन्ध हो जाय, तो प्रारम्भिक शिकायतें तो तुरन्त दूर हो सकती हैं।

मोहन—दानशीलता की हमारे देश में कमी नहीं है। पुरातन उदाहरण न भी लें, तो सर गंगाराम जैसे लोकसेवक लोग आज भी हमारे यहाँ उत्पन्न होते हैं।

बिहारी—किन्तु सारे देश के लिए तो ऐसे दानवीर बहुत बड़ी संख्या में चाहिए। हमारे यहाँ दान-धर्म जो थोड़ा-बहुत होता भी है, वह अशिक्षा के कारण अनुचित और असामयिक ढङ्ग से होता है। सुपात्र और कुपात्र का ध्यान ही नहीं रक्खा जाता। पंडे और महंत, जिनके पास मूलतः काफ़ी सम्पत्ति रहती है, प्रतिवर्ष सहस्रों रुपयों का दान पाते हैं। देश की धार्मिक प्रवृत्तियों की यह कितनी बड़ी अधार्मिकता है कि दान उसे दिया जाय, जो उसका पात्र नहीं है। देश की दानशील शक्तियों का यह कितना बड़ा क्षय है कि प्रतिवर्ष ऐसे लाखों रुपये दुर्व्यसनों तथा दुस्सह रोगों की वृद्धि में भेंट होते हैं। जीवन के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है अन्न-वस्त्र की, पहले उसका दान दरिद्र जनता के लिए होना चाहिए। उसके बाद उसकी नव सन्तति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है विद्या जिसका दान हमारे यहाँ नहीं के बराबर होता है! कुछ ठिकाना है, कितनी बड़ी संख्या में हमारी नवसंतति, अर्थाभाव के कारण, प्रति वर्ष शिक्षा-क्रम से वंचित हो जाती है। शिक्षा-संस्थाओं की वृद्धि इस कमी को बहुत अंशों में दूर कर सकती है।

मोहन—अच्छा, उसके बाद?

बिहारी—उसके बाद लोकोपकार के लिए वाचनालय, चिकित्सालय, पार्क, धर्मशाला तथा सड़क तथा कुवों के निर्माण की आवश्यकता है। यदि देश की इस महत् आवश्यकता की ओर ध्यान दिया जाय, और इसी उद्देश्य तथा क्रम से दान किया जाय, तो यह असमानता दूर होने में देर न लगे। हमारे यहाँ तो पुरातन-काल में ऐसे-ऐसे सम्राट हुए जो प्रति पाँचवें वर्ष अपना समस्त राज-कोष, अपनी सारी सम्पत्ति प्रजा के पीड़ितवर्ग के कष्ट-निवारण में दान कर देते थे।

मोहन—अब स्वेच्छापूर्वक इस शैली के अनुसार दान करनेवाले लोग हैं कहाँ ? इस आदर्श के अनुसार दया-धर्म का तो सर्वथा लोप हो गया है। कभी-कभी तो मेरे मन में आता है कि सरकार इस तरह का दान धनिक वर्ग से ज़रूर वसूल करे और लोकोपकार के इन कार्यों में लगा दे, तो भी यह आर्थिक असमानता दूर हो सकती है।

बिहारी—हाँ, सरकार ऐसा कर सकती है कि अमीरों पर धन-वृद्धि संबंधी अतिरिक्त कर लगाया जाय और उसका उपयोग फिर सार्वजनिक हित के कार्यों में किया जाय। वह मृत्यु-कर लगाकर तथा दाय-विभाग सम्बन्धी वर्तमान विधान को उलटकर ज़ब्त शुदा सम्पत्ति को प्रजा जन के हितार्थ लगा सकती है। किन्तु हमारे देश का शासन जिस क्रम से चल रहा है, उससे यह सम्भव नहीं है। कुछ डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने इधर कुछ दिनों से देहातों में जो हास्पिटल खोले हैं, वे सुप्रबन्ध और उपयुक्त सहायता के अभाव में बहुत बुरी स्थिति में हैं। अकसर देखा जाता है कि वे अधिकारियों के अंशतः व्यक्तिगत उपभोग की वस्तु बन रहे हैं। प्रजाजन के प्रति सरकार की हार्दिक सहानुभूति के बिना स्थानिक स्वराज्य की ये संस्थाएँ भी व्यर्थ हो रही हैं।

मोहन—तब फिर और उपाय ही क्या है ?

बिहारी—उपाय क्यों नहीं है ? सब से बड़ा उपाय यह है कि अमीरों, महाजनों, पूँजीपतियों तथा ज़मीदारों की जो असाधारण सम्पत्ति है, सरकार उसे एक साथ ज़ब्त करले और उसे राष्ट्रीय सम्पत्ति बना ले और फिर मज़दूर-सरकार क़ायम कर दे। इस प्रकार देश भर में केवल एक वर्ग रह जायगा और वह होगा मज़दूर।

मोहन—एक दूसरा वर्ग भी तो होगा सरकार का।

बिहारी—वह सरकार भी तो मज़दूर जनता के आगे ज़िम्मेदार होगी। इस तरह ग़रीब अमीर का भेद ही मिट जायगा।

मोहन—और जिन लोगों के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति है और वे उसे अपनी संतान के लिए छोड़ जाना चाहते हैं, उनके लिये क्या विधान होगा ?

बिहारी—व्यक्तिगत सम्पत्ति तब रह ही न जायगी। दाय-विभाग का

यह विधान ही न रहेगा जो आजकल है, तब पिता-पितामह की सम्पत्ति की अधिकारिणी उसकी सन्तति भी न हो सकेगी।

मोहन—यह उपाय तो मुझे सबसे अच्छा मालूम पड़ता है, चाचा।

बिहारी—इसे समाजवाद कहते हैं। रूस देश ने इसे चरितार्थ कर दिखाया है, यद्यपि अभी यह पूर्णरूप से सफल नहीं हुआ और अभी तक संसार इसे एक प्रयोग के रूप में ही स्वीकार कर रहा है।

मोहन—इसका कारण, चाचा?

बिहारी—बात यह है कि इसमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अपहरण होगया है। उसका उपभोग बहुत सीमित कर दिया गया है। जीवन के विकास में यह सहायक नहीं, एक प्रकार की बाधा है।

मोहन—मैं समझा नहीं, ज़रा इसको उदाहरण देकर समझाइये।

बिहारी—मानलो, कोई व्यक्ति अपने किसी सिद्धान्त विशेष का प्रचार करना चाहता है। ऐसी दशा में अगर सरकार से उसका मत नहीं मिलता, तो वह ऐसा कर नहीं सकता। राष्ट्रीय भण्डार में जो वस्तुएँ खाद्य अथवा व्यवहार-सम्बन्धी उपस्थित हैं, अथवा सरकार जिनको उपस्थित करने में सहमत है, आवश्यकता पड़ने पर किसी व्यक्ति को वेही वस्तुएँ, सो भी एक सीमित मात्रा में मिल सकती हैं। न अन्य वस्तुएँ ही उसे दी जा सकती हैं, न उन वस्तुओं को उस मात्रा में दिया जा सकता है, जिसकी आवश्यकता उस व्यक्ति-विशेष को अनिवार्य्य है। अभी कुछ वर्ष की बात है, महर्षि टाल्स्टाय तक का साहित्य जनता के लिए वहाँ वर्जित था। अभी गत वर्ष एक बौद्धभिक्षु रूस गये थे। कहा जाता है कि उन पर यह संदेह किया गया कि वे किसी धर्म का प्रचार करने के लिये वहाँ आये हैं। और इसका फल यह हुआ कि उनको वापस आना पड़ा। कहने का तात्पर्य्य यह कि इस व्यवस्था के अनुसार न केवल उपभोग में वरन् ज्ञानार्जन के क्षेत्र में भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का कोई महत्व नहीं रह गया है। और इसलिए कुछ तत्वदर्शियों का मत है कि यह पग विकास की ओर नहीं, ह्रास की ओर है—प्रगति नहीं, यह तो दुर्गति है।

मोहन—तो आप यही कहना चाहते हैं कि यह आर्थिक असमानता किसी प्रकार दूर हो नहीं सकती ?

बिहारी—नहीं, वही एक उपाय है, जिसका उल्लेख मैंने पहले किया है। यदि हम लोगों में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग की प्रवृत्ति हो, यदि हम एक रोटी को अपने सारे परिवार में बाँट-चूँटकर खाने का भाव रक्खें, यदि असमर्थ पीड़ित अथवा असहाय वर्ग की दशा सुधारने के लिए हमारे हृदय में दया, वाणी में स्नेह और हाथ में दान की थैली हो, तो यह असमानता एक क्षण के लिए टिक नहीं सकती। यदि व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए हम सार्वजनिक हितों की हत्या करना त्याग दें, यदि न्याय के नाम पर अधिक से अधिक कष्ट और आत्म-पीड़न को हँसी-खुशी से सहन करने को भी हम उचित समझें, यदि अपने कंगाल और अछूत भाइयों को गले से लगाकर उनके साथ मनुष्यता का समवेदनापूर्ण व्यवहार करना हम सीख जायँ, अगर हम अर्थोपार्जन में धार्मिक भावना को ही प्रधान रक्खें, तो हमारे देश की आर्थिक असमानता बहुत जल्दी दूर हो सकती है।

तब मोहन ने कहा—चाचा जी, उस दिन मैं एक कमरे में बैठा हुआ था। मैंने देखा कि वर्षा से भीगा हुआ एक मज़दूर किसान जाड़ा खा गया है और थर-थर काँप रहा है ! मुझसे उसकी यह दशा देखी नहीं गयी और अपना पुराना कम्बल मैंने उसी समय उसे दे दिया। मुझसे किसी असहाय दुखी जन का दुःख देखा नहीं जाता।

मोहन—उस समय इतना ही कह पाया था कि उसकी आँखें भर आयीं।

बिहारी तुममें दया-धर्म की ज्योति जग रही है। मैं चाहता हूँ कि आज हमारे देश का प्रत्येक शिक्षित नवयुवक तुम्हारा ही जैसा जिज्ञासु और धर्म-परायण हो। मेरे जीवन का यही एक स्वप्न है। यदि यह कभी आंशिक रूप में भी पूर्ण हुआ, तो मैं अपने जीवन को धन्य समझूँगा।
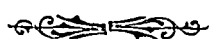
पैंसठवाँ अध्याय

वितरण का आदर्श

जन्माष्टमी का दिवस आ रहा है। इस अवसर पर मथुरा जाने के लिए राजाराम इधर कई वर्ष से उत्सुक रहे हैं। हर बार कोई न कोई विघ्न उपस्थित हो जाता और तैयार रहने पर भी घर से निकलना न होता था। परन्तु इस बार वे दो दिन पहले से ही घर से निकलकर प्रयाग आ गये। सोचा, बिहारीबाबू को भी साथ लेंगे। बिल्लू और मुनियाँ उछल पड़े। बोले, मामा आये, मामा आये—तरह-तरह की चीज़ें लाये।

मोहन बोला—मैं रोज़ सोच लेता था कि राजा मामा बहुत दिनों से नहीं आये।

बिहारी ने कहा—आ गये। यह बहुत अच्छा हुआ।

शाम को राजाराम, मोहन और बिहारी घूमने निकले और बांध रोड पर देर तक टहलते रहे। रास्ते में कई मँगते मिले। उनमें दो आदमी थे, एक कुबड़ी औरत और एक लड़का। सामने पड़ते ही सब-के-सब पैसे के लिए गिड़गिड़ाने लगे। मोहन ने तुरन्त एक आना पैसा देकर कहा—सब लोग बाँट लेना।

तब वे मँगते सामने से हट गये। घूमते-घूमते ये लोग इधर-उधर की बातें करते जा रहे थे। मोहन ने इसी अवसर पर कह दिया—लेकिन चाचा, ये मँगते भी क्या अनुचित वितरण के शिकार हैं?

राजाराम बोले—मेरी राय में तो इनसे वितरण का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। समाज का कौन-सा लाभ ये करते हैं, इनके द्वारा धनोत्पत्ति में कौन-सी सहायता मिलती है ?

यह बात बिहारी को ज़रा खटक गयी। लेकिन उन्होंने कुछ कहा नहीं। वे कुछ क्षणों तक मौन ही बने रहे।

मोहन अपने चाचा की भाव-भंगिमा ताड़ता रहा। किन्तु यह स्थिति बहुत थोड़ी ही देर क़ायम रही। क्योंकि बिहारी से बोले बिना नहीं रहा गया। उसने कहा—हाँ, इनको तो ज़हर देकर मार डालना चाहिये ! संसार में रहने और ज़िन्दगी लाभ करने का इन्हें अधिकार ही क्या है !

राजाराम बिहारी के मन का भाव ताड़ गये। अतएव मुसकराते हुए बोले—मैं क्या जानूँ, क्या करना चाहिये, क्या नहीं। अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण-मात्र मैंने आपके सामने रक्खा है। उसके अनुसार उन लोगों पर विचार नहीं किया जाता, जिनका सम्बन्ध उत्पत्ति से नहीं है।

फिर थोड़ी देर चुप रहने के अनन्तर बिहारी बोले—अच्छा इन्हीं से पूँछ लो, किसने इनकी यह दशा की है। मोहन, ज़रा बुलाना तो इन मँगतों को।

मोहन ने आगे बढ़ कर उन मँगतों को बुलाया। उन लोगों में से एक आदमी बोला—कुछ काम है का बाबू ?

मोहन ने कहा—हाँ, काम ही तो है। तुमको और पैसे दिलवायेंगे।

तब वे लोग प्रसन्नतापूर्वक मोहन के साथ चल दिये।

किनारे सड़क पर पत्थर की बेंचें पड़ी हुई थीं। उन्हीं पर राजाराम और बिहारी बैठ गये थे। मँगते भी पहुँच गये। बिहारी ने पूछा—तुम लोग कितने दिन से भीख माँगते हो ?

एक मँगता—हजूर पाँच बरिस हुइ गवा।

बिहारी—क्यों यह पेशा इख़्तियार किया ?

वही मँगता—जिमीदार लगान बढ़ाइ दिहिन, खेतन माँ पैदावारी कुछु भई नाहीं। जब भूखेन मरे लागिन, और कुछु नहीं सूझ पड़ा, त भीखइ मांगन सुरू कै दिहिन !

तब दूसरे आदमी से विहारी ने पूछा—और तुम ?

वह आदमी—हमरे ऊपर सरकार महाजन क रुपया बहुत हुइ गवा रहा। कौनौतना ते जब उद्धार न हुइ सकेन, बैलउ हमार बिकाइ गये, तब और का करतिन। कौनौ तना ते पेट त पालइ क चही।

विहारी ने तब जेब से एक आना पैसा तुरन्त निकाल कर उन्हें दे दिया और कहा—जाओ, बस इसीलिए बुलाया था।

जब वे लोग चले गये, तब विहारी ने गरजते हुए कहा—बोलो, मैं तुम्हीं से पूछता हूँ कि क्या यह ज़मींदारों तथा महाजनों की शोषण नीति का फल नहीं है ? एक इन्हीं लोगों का प्रश्न नहीं है। सारे देश की यह दशा इसी शोषण नीति ने कर रखी है। अगर वितरण की नीति में दोष न होता, तो क्या इसकी सम्भावना थी ?

तब राजाराम बोल उठा—यह मैं मानता हूँ। पर साधू-संतों को पैसा देना परमार्थवाद का आदर्श है। अर्थशास्त्र से इसका कोई सम्बन्ध मेरी समझ में नहीं है।

विहारी—तब मैं कहूँगा कि जो वितरण बन्दर-बाँट की नीति के अनुसार होता है, वह हिंसा-पूर्ण है। और मैं तो यह भी मानता हूँ कि परमार्थ में ही स्वार्थ का अनुभव करना—परोपकार में ही आनन्द की सत्ता मानना—वितरण का आदर्श है। मेरी दृष्टि में तो जो महात्मा लोग जगत के कल्याण के लिए निरन्तर मानसिक और शारीरिक परिश्रम करते और स्वयं बहुत ही सादा जीवन व्यतीत करते हैं, वे वन्दनीय हैं। मुझे तो उस वर्ग से सदा घृणा रही है, और रहेगी, जो अपने भाई, कुटुम्बी, साथी, पड़ोसी, जातीय और तदन्तर मनुष्य मात्र के स्वार्थों की किंचित् परवा न करके अपना ही पेट भरना जानता है, अपना ही आराम देखता और अपने ही विलास, ऐश्वर्य और यश-वृद्धि की चिन्ता में निरन्तर लीन रहकर दूसरों की असुविधाओं, तकलीफ़ों और कठिनाइयों की न परवा करता है—न उनके निवारण और सुधार में योग देता है। उसकी सम्पत्ति व्यर्थ है, उसका जन्म व्यर्थ हुआ है और उसके जीवन को धिक्कार है ! मैं जब किसी ग़रीब विद्यार्थी, बेकार युवक और दुःखी सद्गृहस्थ को देखता हूँ, और चाहने पर भी उसकी कुछ सेवा नहीं कर पाता,

तब उस रात को मेरी नींद उचट जाती है। मैं सोचता रह जाता हूँ कि अगर मैं इस व्यक्ति की कुछ सहायता नहीं कर सकता, तो मैं जीवित क्यों हूँ ? वितरण के सम्बन्ध में भी मेरा यही विश्वास है कि जो वितरण हमारी आर्थिक असमानता को बढ़ाने में सहायक है, वह वास्तव में ग़लत है। उसका आधार न्याय-संगत नहीं हो सकता, ज़रूर उसमें बड़ी कमी है।

राजाराम--आप अपनी बात जाने दीजिए। जो लोग खेती करते, या कल-कारख़ाने क़ायम करते और उसमें अपनी सारी शक्तियाँ लगा देते हैं, वे परमार्थवाद के अनुसार अगर व्यवहार करने लगें, तो उनकी सारी योजना ही असफल हो जाय ! क्या कभी इस दिशा की ओर भी आपका ध्यान गया है ?

बिहारी—इस दिशा की ओर मेरा ध्यान सदा से रहा है। मैं ऐसे उत्पादकों को भी जानता हूँ, जिन्होंने अपने खेतों और कल-कारख़ानों में वितरण के उच्च आदर्श का पूर्ण रूप से पालन किया है।

राजाराम—कोई उदाहरण दीजिए।

बिहारी—अभी दस वर्ष पहले की बात है, एक छोटी-सी रियासत के अधिकारी दो भाई थे। उन दिनों छोटा भाई विश्व-विद्यालय में पढ़ता था। जब वह शिक्षा पूरी करके रियासत के काम में पड़ा, तो उसने देखा, बड़े भाई साहब किसानों के अधिकारों में व्यर्थ का हस्तक्षेप कर रहे हैं। तब उन्होंने बड़े भाई साहब से कहा, कि भैया आप अगर इसी तरह किसानों को सताएँगे, तो मुझे अलग होना पड़ेगा।

इस पर बड़े भाई बलवन्तसिंह ने कहा—यशवन्त, तुम इस सुधार नीति के कारण बिल्कुल इसी हालत को प्राप्त हो जाओगे, जिस दशा में ये लोग हैं।

यशवन्त बोला—मुझे ख़ुशी होगी। आप बटवारा कर दीजिए।

और बटवारा हो गया।

राजाराम ने मुसकराते हुए पूछा—उसके बाद उन ज़मींदार महाशय की क्या गति हुई ?

बिहारी ने आवेश के साथ कहा—कोई दुर्गति नहीं हुई राजाराम। उसने

वे बेजा लगान, जो बलवन्त ने बढ़ा रक्खे थे, एकदम से कम कर दिये। जो लोग बक़ाया लगान के कारण बीस-बीस वर्ष से महाजनों के क़र्ज़दार थे, उन सभी किसानों का लगान दो-दो साल के लिए उन्होंने माफ़ कर दिया। उसके बाद उन्होंने उनके खेतों की चकबन्दी कर दी। अनाज का बीज बढ़िया से बढ़िया उन्होंने मँगवाया और किसानों को दिया। जुताने, सिंचाई कराने और कटाने का काम उन्होंने नयी मेशीनों के द्वारा आधुनिक रीति से कराया। इस नीति से पाँच वर्ष के आयोजन में उन्होंने अपनी रियासत के सारे किसानों को ख़ुशहाल कर दिया। वे सब लोग आज उन्हें अपना राजा मानते हैं। उनके गाँवों में जाकर देखो, तो तुम्हारी तबियत ख़ुश हो जाय। पक्की सड़कों पर ऐसी सफ़ाई है, मकानों की ऐसी सुन्दर बनावट है, शिक्षा-संस्थाएँ, चिकित्सालय तथा सहयोग समितियों का ऐसा सुन्दर आयोजन है कि आपको वहाँ दूसरा संसार नज़र आयेगा।

इसी समय राजाराम ने पूछा—और कुंवर यशवन्तसिंह के कोप का क्या हाल है?

बिहारी—मान लो, कोप में उतना नक़द रुपया नहीं है, जितना बलवन्त भाई के यहाँ। किन्तु इससे क्या? वितरण के आदर्श के अनुसार काम करने पर सफलता तो उन्हें मिली है! यह ठीक है कि आजकल ऐसे उदाहरण बहुत कम देखने में आते हैं।

आजकल तो सुनता हूँ, सेठजी हड़ताल के समय मिल बन्द कर देते हैं और कहते हैं—"मेरा क्या बिगड़ेगा, ज़िन्दगी भर आराम से कट जायगी, इतना पैदा कर लिया है। पर देखना है, साम्यवादी नेताओं के बहकाने में आकर ये हड़ताल करनेवाले मज़दूर कितने दिन तक ठहरते हैं!" मैं तो कहता हूँ कि जो लोग अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिए पसीना बहाने और ख़ून सुखाने वाले किसानों और मज़दूरों की जीविका अपहरण करने में किसी तरह की विजय अथवा आत्म-तृप्ति का अनुभव करते हैं, वे मनुष्य नहीं रह गये। वे पशु हो गये हैं। और आज का पूँजीवाद, अगर वितरण के आदर्श की रक्षा करने में समर्थ नहीं है, अगर वह असमर्थों और असहायों को सहारा, भूले-भटके व्यक्तियों को रोटी और बेकारों को जीविका देने

में समर्थ नहीं है, तो उसका पोषक वह पूँजीपति वर्ग मनुष्यता से गिर गया है, धर्म-कर्म से गिर गया है और अब वही स्थिति उसके सामने आने को बाक़ी रह गयी है, जब वह यह अनुभव करेगा कि यह कुल्हाड़ी तो मेरे ही पैरों में लगी है !

मोहन ने कहा—निस्सन्देह चाचा, यही बात है।

राजाराम ने कहा—अच्छा बहुत हो गया। अब चलो लौट चलें।

तब सब लोग लौट पड़े।

थोड़ी देर मौन रहने के बाद बिहारी ने पूछा—तुम्हारे गाँव के उन रोशन महाशय का क्या हाल है, जो बहुत छोटे पैमाने पर करघा चलाते थे और कपड़े की बुनवाई का काम करते थे ?

राजाराम चुपचाप, बिना किसी प्रकार का भाव-परिवर्तन प्रकट किये हुए बोले—अब तो मैं भी उनके इस धन्धे में शामिल हो गया हूँ।

आश्चर्य्य से बिहारी ने कह दिया—अच्छा !

और ठीक उसी समय राजाराम बोल उठे—गत वर्ष नब्बे रुपये का लाभ हुआ था, जिसमें हम लोगों ने केवल बीस रुपये ले लिये, बाक़ी ७०) सात कर्मचारियों में बांट दिये।

तब तो हँसते हुए बिहारी ने कहा—तुम बड़े बने हुए हो ! मुझको बेकार क्यों इतना तंग किया ?

पारिभाषिक शब्दों की सूची

हिन्दी से अंग्रेज़ी

अत्यधिक लाभ — Abnormal Profits
अतिदीर्घकालीन बाज़ार — Very Long Period Market
अभौतिक — Non Material
अर्थ — Wealth
अर्थशास्त्र — Economics
अल्पकालीन बाज़ार — Short Period Market
अस्थायी व्यय — Prime Cost
असमानता — Inequality
आर्थिक लगान — Economic Rent
आन्तरिक — Internal
आराम की वस्तुएँ — Comforts
आवश्यकता — Wants
आविष्कार — Invention
इच्छाएँ — Desires
उत्पत्ति — Production
उत्पादन व्यय — Expenses of Production
उपभोक्ता की बचत — Consumer's Surplus
उपभोग — Consumption
उपयोगिता-ह्रास नियम — Law of Diminishing Utility
एकाधिकार — Monopoly
कर — Tax
क्रमागत-उत्पत्ति-समता नियम — Law of Constant Returns
—वृद्धि नियम — Law of Increasing Returns

क्रमागतह्रास नियम	Law of Dimishing Returns
कृत्रिम आवश्यकताएँ	Conventional Necessaries
क़ीमत	Price
खेतों की चकबन्दी	Consolidation of holdings
घिसावट	Wear and Tear
जनसंख्या	Population
जीवन - रक्षक पदार्थ	Necessaries for existence
दीर्घकालीन बाज़ार	Long Period Market
धन	Wealth
निपुणतादायक पदार्थ	Necessaries for efficiency
निषेध	Prohibition
नीतिशास्त्र	Ethics
प्रबन्ध	Management
प्रतिस्पर्द्धा	Competition
प्रतिस्थापन सिद्धान्त	Principle of Substitution
पूँजी	Capital
पूँजीपति	Capitalist
पूँजी, चल—	Circulating Capital
पूँजी, अचल	Fixed Capital
पूँजीवाद	Capitalism
पूर्ति का नियम	Law of Supply
फ़िज़ूलख़र्ची	Extravagance
बचत	Savings
बरबादी	Waste
बाज़ार	Market
बाह्य	External
भौतिक	Material
भूमि	Land
मज़दूर सभा	Labour Union
मज़दूरी	Wages
माँग	Demand
माँग की लोच	Elasticity of Demand
माँग और पूर्ति का नियम	Law of Demand and Supply
मादक वस्तुएँ	Intoxicants
मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ	Joint Stock Companies
मुनाफ़ा	Profits
मूल्य ह्रास	Depreciation

पारिभाषिक शब्दों की सूची

...यात	Communication
...नसहन का दर्जा	Standard of Living
रुपया-पैसा	Money
रूप-रेखा	Outlines
राजस्व	Public Finance
राष्ट्रीय सम्पत्ति	National Wealth
लगान	Rent
लागत ख़र्च	Cost of Production
लाभ	Profit
...वस्था	Organisation
वस्तु-परिवर्तन	Barter
व्यावसायिक चक्र	Business Cycles
व्यापार	Trade
वितरण	Distribution
विनियम	Exchange
विनियम साध्य	Transferable
विलासिता के पदार्थ	Luxuries
विज्ञापन	Advertisement
श्रम	Labour
श्रम-विभाग	Division of Labour
श्रम की कुशलता	Efficiency of Labour
सट्टेबाज़ी	Speculation
स्थायी व्यय	Supplementary Costs
सम-सीमान्त-उपयोगिता	Equi-Marginal Utility
समाज-शास्त्र	Sociology
सम्पत्ति	Wealth
सूद	Interest
संरक्षण	Protection
संरक्षण नीति	Protectionist Policy
साझेदारी	Partnership
साधारण लाभ	Normal Profit
साम्यवाद	Socialism
साहस	Risk
सीमान्त-उपयोगिता	Margin Utility

अंग्रेज़ी से हिन्दी

Abnormal Profit	अत्यधिक लाभ
Advertisement	विज्ञापन
Barter	वस्तु-परिवर्तन
Business Cycles	व्यावसायिक चक्र
Capital	पूँजी
Capitalist	पूँजीपति
Circulating Capital	चल पूँजी
Comforts	आराम की वस्तुएँ
Competition	प्रतिस्पर्द्धा
Consolidation of Holdings	खेतों की चकबन्दी
Consumer's Surplus	उपभोक्ता की बचत
Consumption	उपभोग
Conventional Nece-	कृत्रिम आवश्यकताएँ
Demand	माँग
Depreciation	मूल्य-ह्रास
Desire	इच्छा
Distribution	वितरण
Division of Labour	श्रम विभाग
Economic Rent	आर्थिक लगान
Economics	अर्थशास्त्र
Efficiency of Labour	श्रम की कुशलता
Elasticity of Demand	माँग की लोच
Equi-marginal Utility	सम-सीमान्त-उपयोगिता
Ethics	नीतिशास्त्र
Exchange	विनिमय
Expenses of Production	उत्पादन व्यय
External	बाह्य

Extravagance	फ़िज़ूलख़र्ची
Fixed Capital	अचल पूँजी
Inequality	असमानता
Interest	सूद
Internal	आन्तरिक
Intoxicants	मादक वस्तुएँ
Invention	आविष्कार
Joint Stock Companies	मिश्रितपूँजी की कम्पनियाँ
Labour	श्रम
Labour Union	मज़दूर सभा
Land	भूमि
Law of Constant Returns	क्रमागत-उत्पत्ति समता नियम
Law of Demand and Supply	माँग और पूर्ति का नियम
Law of Diminishing Returns	क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास नियम
Law of Diminishing Utility	उपयोगिता - ह्रास नियम
Law of Supply	पूर्त्ति का नियम
Long Period Market	दीर्घकालीन बाज़ार
Luxuries	विलासिता के पदार्थ
Management	प्रबन्ध
Marginal Utility	सीमान्त उपयोगिता
Market	बाज़ार
Material	भौतिक
Means of Communication	यातायात के साधन
Money	रुपया-पैसा
Monopoly	एकाधिकार
National Wealth	राष्ट्रीय सम्पत्ति
Necessaries for Efficiency	निपुणतादायक पदार्थ
Necessities for Existence	जीवन - रक्षक पदार्थ
Non-material	अभौतिक
Normal Profit	साधारण लाभ
Organisation	व्यवस्था
Outlines	रूप-रेखा

Partnership साझेदारी
Populutian जन-संख्या
Price क़ीमत
Prime Costs अस्थायी व्यय
Principle of Substitution प्रतिस्थापन सिद्धान्त
Production उत्पत्ति
Profit लाभ
Prohibition निषेध
Protection संरक्षण
Protectionist Policy संरक्षण नीति
Public Finanec राजस्व
Rent लगान
Risk साहस
Savings बचत
Short Period Market अल्पकालीन बाज़ार
Socialism साम्यवाद
Sociology समाजशास्त्र
Speculation सट्टेबाज़ी
Standard of Living रहनसहन का दर्जा
Supplementary Costs स्थायी व्यय
Tax कर
Trade व्यापार
Transferable विनिमय-साध्य
Very Long Period Market अति दीर्घकालीन बाज़ार
Wages मज़दूरी
Want आवश्यकता
Waste बरबादी
Wealth सम्पत्ति या धन
Wear and Tear घिसावट

शब्दानुक्रमणिका

भारतवर्षीय हिन्दी-अर्थशास्त्र-परिषद्

(सन् १९२३ ई० में संस्थापित)

सभापति—

श्रीयुत पंडित दयाशंकर दुबे, एम्० ए०, एल-एल० बी० अर्थशास्त्र अध्यापक, प्रयाग-विश्व-विद्यालय, प्रयाग।

मंत्री—

(१) श्रीयुत जयदेवप्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, बी० काॅम०, एस० एम० कालेज, चंदौसी।

(२) पंडित भगवतीप्रसाद जी वाजपेयी, दारागंज, प्रयाग।

इस परिषद् का उद्देश्य है जनता में हिन्दी-द्वारा अर्थशास्त्र का ज्ञान फैलाना और उसका साहित्य बढ़ाना। कोई भी सज्जन अर्थशास्त्र पर एक पुस्तक लिखकर इस परिषद् का सदस्य हो सकता है। प्रत्येक सदस्य को परिषद् द्वारा प्रकाशित या संपादिक पुस्तकें पौने मूल्य पर दी जाती हैं।

परिपद् की संपादन-समिति द्वारा सम्पादित होकर निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं:—

(१)	भारतीय अर्थशास्त्र (भारतीय ग्रंथमाला, वृन्दावन)	२॥)
(२)	भारतीय राजस्व (भारतीय ग्रंथमाला, वृन्दावन)	॥।=)
(३)	विदेशी विनिमय (गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ)	१॥)
(४)	अर्थशास्त्र शब्दावली (भारतीय ग्रंथमाला वृन्दावन)	॥।)
(५)	कौटिल्य के आर्थिक विचार („ „)	॥।=)
(६)	संपत्ति का उपभोग (साहित्य-मन्दिर, दारागंज, प्रयाग)	॥।)
(७)	भारतीय बैंकिंग (रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग)	१॥)

(८) हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (भारतीय ग्रंथमाला, वृन्दावन) ।।।)

(९) धन की उत्पत्ति (लाला रामनारायन लाल, प्रयाग) १।)

(१०) अर्थशास्त्र की रूप-रेखा (साहित्य निकेतन, दारागंज, प्रयाग) ६)

(११) सरल अर्थशास्त्र (लाला रामनारायन लाल प्रयाग) ३)

(१२) ग्राम्य अर्थशास्त्र ,, ,, १।)

(१३) भारत का आर्थिक भूगोल ,, १।)

(१४) ग्राम सुधार (कृषि कार्यालय, जौनपुर) १)

इनके अतिरिक्त, निम्नलिखित पुस्तकों के लिखने का प्रयत्न हो रहा है।

(१५) मूल्य-विज्ञान।

(१६) अंक-शास्त्र।

(१७) समाजवाद।

हिन्दी में अर्थशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य की कितनी कमी है, यह किसी साहित्य-प्रेमी सज्जन से छिपा नहीं है। देश के उत्थान के लिए इस साहित्य की शीघ्र वृद्धि होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक देश-प्रेमी तथा हिन्दी-प्रेमी सज्जन से हमारी प्रार्थना है कि वह अर्थशास्त्र की पुस्तकों के प्रचार करने में हम लोगों को सहायता देने की कृपा करें। जिन महाशयों ने इस विषय पर कोई लेख या पुस्तक लिखी हो, वे उसे सभापति के पास भेजने की कृपा करें। लेख या पुस्तक परिषद् द्वारा स्वीकृत होने पर सम्पादन-समिति द्वारा बिना मूल्य सम्पादित की जाती है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण परिषद् अभी तक कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं कर पाई है, परन्तु वह प्रत्येक लेख या पुस्तक को सुयोग्य प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कराने का पूर्ण प्रयत्न करती है। जो सज्जन अर्थशास्त्र-सम्बन्धी किसी भी विषय पर लेख या पुस्तक लिखने में किसी प्रकार की सहायता चाहते हों, वे नीचे लिखे पते से पत्र-व्यवहार करें।

श्री दुबेनिवास,
दारागंज, प्रयाग

दयाशंकर दुबे, एम्० ए०

अर्थशास्त्र और राजनीति की पुस्तकें

लेखक
पं० दयाशङ्कर दुबे
श्री भगवानदास केला

धन की उत्पत्ति

यह अपने विषय की पहली पुस्तक है। इसमें भारत की ग़रीबी दूर करने के तरीक़े भी दिये गये हैं।

पृष्ठ-संख्या २७६, मूल्य १।)

सरल अर्थशास्त्र

युक्तप्रांत की इन्टरमीडिएट-परीक्षा के अर्थशास्त्र विषय के पाठ्यक्रम के अनुसार लिखित।

पृष्ठ-संख्या ६०४, मूल्य ३)

निर्वाचन-पद्धति

(तीसरा संस्करण)

इसमें मताधिकार का महत्व, मतगणना-प्रणाली, निर्वाचकों के कर्तव्य, उम्मेदवार का उत्तर-दायित्व इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है।

पृष्ठ-संख्या १२४, मूल्य ॥~)

ब्रिटिश-साम्राज्य-शासन

इंगलैंड तथा उसके साम्राज्य के स्वतन्त्र तथा परतन्त्र उपनिवेशों और अन्य भागों की शासन-पद्धति का सरल भाषा में वर्णन।

मूल्य ॥=)

अर्थशास्त्र और राजनीति की पुस्तकें

हिंदी में अर्थशास्त्र और राजनीति-साहित्य

लेखक

श्री दयाशङ्कर दुबे
श्री भगवानदास केला

इसमें अर्थशास्त्र और राजनीति में गत वर्ष तक जो पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित हुई हैं उनका संक्षेप में परिचय दिया गया है और अभाव भी दर्शाया गया है।

मूल्य ।||)

संपत्ति का उपभोग

लेखक

पंडित दयाशंकर दुबे
श्री मुरलीधर जोशी

इसमें उपभोग के विषय पर भारतीय दृष्टिकोण से विचार किया गया है। हिंदी में अपने विषय की पहली पुस्तक है।

मूल्य १।)

अर्थशास्त्र शब्दावली

लेखक

पंडित दयाशंकर दुबे
श्री गदाधरप्रसाद अम्बष्ट
श्री भगवानदास केला

हिंदी में अर्थशास्त्र के विषय पर लेख और पुस्तक लिखनेवालों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। इसमें अंग्रेजी परिभाषिक शब्दों के हिंदी पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं।

पृष्ठ संख्या १४८; मूल्य ।||)

साहित्य-निकेतन, दारागंज, प्रयाग

श्री दुवेजी की अंग्रेज़ी पुस्तकें

धर्मग्रन्थावली, दारागंज की पुस्तकें

नर्मदा रहस्य

लेखक—
पंडित दयाशंकर दुवे

नर्मदा रहस्य

(दोनों भाग)

इसमें श्री नर्मदा जी के किनारे के प्रत्येक स्थान के सचित्र वर्णन के अतिरिक्त, श्री नर्मदा जी के सम्बन्ध में स्तोत्र और कविताओं का अनूठा संग्रह है, साथ ही किनारे पर निवास करने वाले महात्माओं का परिचय भी है। चित्र-संख्या लगभग १५०; नक्शे १३; कल्याण-साइज़ की पृष्ठ संख्या २२८ मूल्य ३)

(केवल प्रथम भाग)

अमरकंटक से लेकर रेवासागर संगम तक का श्री नर्मदा किनारे के स्थानों का सचित्र वर्णन। इसमें १३ नक्शे भी हैं जिनमें परिक्रमा का मार्ग दिया हुआ है। सरस्वती साइज़ की पृष्ठ-संख्या १२४ मूल्य २)

नर्मदा-लहरी

श्री कविराज सिढायचजी की कविता का टिप्पणियों सहित संकलन। मूल्य ।)

नर्मदा-परिक्रमा-मार्ग

इसमें केवल नक़शे मार्ग सहित दिये हैं। मूल्य ।)

भूगोल का गंगांक

संपादक
पंडित दयाशङ्कर दुवे
पंडित रामनारायण मिश्र

इसमें श्री गङ्गाजी का गंगोत्री से गङ्गासागर तक का सचित्र वर्णन है। इसमें ३५ नक़शे भी दिये गये हैं।

मूल्य केवल १।)

गङ्गा-रहस्य

लेखक
पंडित दया[illegible]
नर्मदा-[illegible]वरदयाल पाठक

यह पुस्तक [illegible]पय की हिन्दी में यह पहली क़रीब [illegible] है। पुस्त[illegible] अनुभव के आधार होग[illegible] लिखी गई है। इसे पढ़कर बुनाई का काम आसानी से सीखा जा सकता है। मूल्य १।।।)

साहित्य-निकेतन

धर्मग्रन्थावली, दारागंज की पुस्तकें

भक्तचरित्रमाला

भक्त मीरा	।)
,, ध्रुव	।)
,, प्रह्लाद	।)
,, सूरदास	।)

संपादक—
पं० दयाशङ्कर दुबे

शिव महिम्न स्तोत्र
गद्य और पद्य अनुवाद
सहित मूल्य ≡)

अवतारमाला

भगवान रामचंद्र	।)
भगवान कृष्ण	।)
भगवान बुद्ध	।)

हिन्दूतीर्थ-माला

भारत के तीर्थ—(पूर्वार्ध) इसमें सप्तपुरी, चारों धाम और उत्तराखंड का वर्णन है २।)

भारत के तीर्थ—(प्रथम खंड) इसमें प्रयाग, चित्रकूट, अयोध्या, काशी, वैद्यनाथधाम और गया का वर्णन है। मूल्य सजिल्द १।)

द्वादश ज्योतिर्लिंग—इसमें बारहों ज्योतिर्लिंगों का सचित्र वर्णन मूल्य सजिल्द २)

MR. ...में अयोध्या, मथुरा,
Prescribe... कांची, उज्जैन
of Allahabad, Ag... सचित्र वर्णन
only book written by
१॥)
...श्वर,
...

हिन्दूतीर्थ-माला

निम्नलिखित प्रत्येक तीर्थस्थान का वर्णन सरल भाषा में किया गया है। प्रत्येक पुस्तक सचित्र भी है।

प्रयाग	।)	घृष्णेश्वर	।)
चित्रकूट	≡)	नासिक-त्र्यंबकेश्वर	=)
अयोध्या	=)	भीमाशंकर-पूना	=)
काशी	।)	द्वारिकापुरी	।)
गया	≡)	सोमनाथ	=)
वैद्यनाथधाम	=)	उज्जैन	=)
जगन्नाथधाम	।)	ओंकारेश्वर	=)
रामेश्वर	।)	मथुरा-वृन्दावन	।)
कांची-चिदंबरम	=)	हरिद्वार	≡)
मल्लिकार्जुन	=)	केदारनाथ	=)
नागनाथ-वैजनाथ	=)	बद्रीनाथ	=)

साहित्य-निकेतन, दारागंज, प्रयाग

बालकोपयोगी पुस्तकें

संपादक
पं० दयाशङ्कर दुबे

बालबोध प्राइमर भाग १	‌-)	नवीन प्राइमर भाग १	-)॥
बालबोध प्राइमर भाग २	-)	नवीन प्राइमर भाग २	-)॥
बालबोध रीडर भाग १	≡)॥	नर्मदा रीडर भाग १	=)
बालबोध रीडर भाग २	।)॥	नर्मदा रीडर भाग २	≡)॥
बालबोध रीडर भाग ३	।=)	नर्मदा रीडर भाग ३	।)
बालबोध रीडर भाग ४	।=)	नर्मदा रीडर भाग ४	।=)

ये पुस्तकें प्रारंभिक पाठशालाओं के दर्जा अ, ब से दर्जा ४ तक के लिए हैं।

संपादक
पं० दयाशङ्कर दुबे
पं० गंगानारायण द्विवेदी

दर्जा ३ से दर्जा ७ तक के लिए
साहित्यिक रीडरें

साहित्य-प्रवेश	मूल्य ।-)
साहित्य-सोपान भाग १	,, ।≡)
साहित्य-सोपान भाग २	,, ॥-)
साहित्य-सोपा भाग ३	,, ॥=)

दर्जा ३ से दर्जा ७ तक के लिये
साहित्यिक रीडरें

साहित्य-शिक्षा	मूल्य ।-)
साहित्य-मणि माला भाग १	,, ।≡)
साहित्य-मणि माला भाग २	,, ॥=)
साहित्य-मणि माला भाग ३	॥-)

संपादक
पं० दयाशङ्कर दुबे
श्रीयुत श्रीचंद्र अग्रवाल

नेशलनल प्रेस अंकगणित
दर्जा १ और २ के लिए मूल्य ।=)

लेखक
संपा
प्रोफ़ेसर द ...श्वरदयाल पाठक
पं० भग...
...वषय की हिन्दी में यह पहली ... है। पुस्तक अनुभव के आधार लिखी गई है। इसे पढ़कर प्रौढ़-बुनाई का काम आसानी से सीखा जा सकता है। मूल्य १॥)

साहित्य-निकेतन, द...

भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन की पुस्तकें

(इस ग्रन्थमाला की स्थापना सन् १९१५ ई० में हुई। इसकी कई पुस्तकें राष्ट्रीय एवं सरकारी शिक्षा-संस्थाओं में स्वीकृत और प्रचलित हैं, तथा कुछ पर शिक्षा-विभागों तथा साहित्य-संस्थाओं द्वारा पुरस्कार भी मिल चुका है।)

इस ग्रंथमाला के प्रकाशक तथा अधिकांश पुस्तकों के लेखक है,

श्री भगवानदास जी केला

१—भारतीय शासन (Indian Administration)—"राजनैतिक ज्ञान के लिए आइने का काम देनेवाली" तथा "विद्यार्थियों, पत्र-सम्पादकों और पाठकों के बड़े काम की।" सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार संशोधित और परिवर्द्धित। आलोचना-सहित। संघ-शासन का विवेचन। देशी राज्यों पर यथेष्ट प्रकाश। आठवाँ संस्करण। मूल्य १।)

२—भारतीय विद्यार्थी विनोद—भाषा, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, गणित, अर्थशास्त्र आदि दस पाठ्य विषयों की आलोचना। मातृभूमि, जीवन का लक्ष्य, आदि ग्यारह विषयों का विवेचन। "नये ढङ्ग की रचना।" तीसरा संस्करण। मूल्य ॥=)

३—हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ—राष्ट्र-निर्माण के साधन; राष्ट्र-... राष्ट्र-भाषा, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय पताका, साम्प्रदायिकता और स्वाधीनता आदि विषयों पर गम्भीर विचार किया गया है। तीसरा संस्करण मूल्य ॥।)

४—हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति-साहित्य—अर्थशास्त्र की १४८ और राजनीति की २११ पुस्तकों का परिचय। लेखकों और पुस्तकालयों के लिए पथ-प्रदर्शक। ले०—प्रोफ़ेसर दयाशङ्कर दुबे एम. ए. और श्री० ... मूल्य ॥।)

MR. ... [illegible] ...रतीय सहकारिता-आन्दोलन—ग्राम-सुधार और ग्राम-संगठन

Prescribe... । प्रान्तीय सहकारी विभाग द्वारा प्रशंसित और प्रोत्साहित।

of Allahabad, Ag... सहाय जी सकसेना एम. ए.। मूल्य २)

only book written b... ति—(Indian Awakening)—गत ...

...र्थिक और साहित्यिक आदि के इतिहास का सुन्दर

... मूल्य १।)

... मज़दूर, किसान, लेखक, बच्चे, विधवाएँ,

... अपनी-अपनी वेदना बता रहे हैं, उनकी

साहित्य-निकेतन, द... ये। मूल्य ॥=)

८—भारतीय चिन्तन—प्रेम का शासन, साम्राज्यों का जीवन-मरण, प्यारी माँ, राजनैतिक भूल भुलैया, तीर्थों में आत्मिक पतन, राष्ट्र की वेदी पर, आदि। मूल्य ॥।=)

९—भारतीय राजस्व (Indian Finance)—सरकारी आय-व्यय की स्पष्ट और खरी आलोचना। दूसरा संस्करण। मूल्य ॥।=)

१०—निर्वाचन पद्धति—मताधिकार का महत्व, मत-गणना-प्रणाली, निर्वाचकों के कर्तव्य, उम्मेदवार का उत्तरदायित्व, आदि। ले०—प्रोफ़ेसर दुवे और श्री० केला जी। तीसरा संस्करण। मूल्य ॥-)

११—नागरिक कहानियाँ—निर्वाचन, मताधिकार, ग्राम-सुधार, कर्तव्य-पालन, अस्पृश्यता-निवारण और साक्षरता-प्रचार आदि विषय। ले०—श्री० सत्येन्द्र, एम० ए०। मूल्य ॥=)

१२—राजनीति शब्दावली (Political Terms)—अंग्रेज़ी-हिन्दी के पर्यायवाची शब्दों का अत्युपयोगी संग्रह। राजनीति-साहित्य के पाठकों एवं लेखकों के बड़े काम की। ले०—श्री० गदाधरप्रसाद अम्बष्ट और केलाजी। दूसरा संस्करण। मूल्य ॥।)

१३—नागरिक शिक्षा—सरकार के कार्यों अर्थात् सेना, पुलिस, न्याय, जेल, कृषि, उद्योग-धन्धे, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का सरल भाषा में विचार। दूसरा संस्करण। मू० ॥=)

१४—ब्रिटिश साम्राज्य-शासन—इङ्गलैण्ड तथा उसके साम्राज्य के स्वतन्त्र तथा परतन्त्र उपनिवेशों एवं अन्य भागों की शासन-पद्धति का सरल सुबोध वर्णन। ले०—प्रोफ़ेसर दुवे और श्री० केलाजी। मूल्य ॥।=)

१५ श्रद्धाञ्जलि—"यह श्रद्धा के पथ में पूर्व और पश्चिम, नवीन और प्राचीन, स्त्री और पुरुष सबकी अर्चना कर रही है। वीर-पूजा में प्रेरणा, उत्साह और प्राण की मांग की गयी है।" इसमें २९ महापुरुषों के दर्शन हैं। मूल्य ॥।=)

...ज्ञान

१६—भारतीय नागरिक—किसानों, मजदूरों, लेख... आदि की उन्नति के उपाय। मूल्य ॥)

लेखक

१७—भव्य विभूतियाँ—महाराणा प्रताप, ...विश्वरदयाल पाठक गोविन्दसिंह, लक्ष्मीबाई, महाराणा सांगा, पन्ना ...फत्ता के मनोहर शिक्षाप्रद वृत्तान्त। ले०—... एम. ए.। मूल्य ॥=)

"विषय की हिन्दी में यह पहली ...क है। पुस्त... अनुभव के आधार ...र लिखी गई है। इसे पढ़कर बुनाई का काम आसानी से सीखा जा सकता है। मूल्य १॥।)

१८—अर्थशास्त्र-शब्दावली—(... शास्त्र के लेखकों और विद्यार्थियों ...)

हुआ आर्थिक शब्दों का अङ्गरेजी-हिन्दी सङ्कलन। लेखक—सर्वश्री दुबे, अम्बष्ट और केलाजी। मूल्य ।।।)

१९—कौटिल्य के आर्थिक विचार—सुप्रसिद्ध प्राचीन आचार्य कौटिल्य (चाणक्य) के आर्थिक विचारों का आधुनिक पद्धति से विवेचन। ले०—श्री जगनलाल गुप्त और श्री० केलाजी। मूल्य ।।।=)

२०—अपराध चिकित्सा (जेल, कालापानी और फांसी!)—"प्रत्येक सचेत हिन्दी-प्रेमी को जिसके हृदय में अपने राष्ट्र तथा मानव समाज के भविष्य के निर्माण में क्रियात्मक तथा विचारपूर्ण भाग लेने की आकांक्षा हो, इस पुस्तक को अवश्य ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।" मूल्य १।।)

२१—पूर्व की राष्ट्रीय जागृति—टर्की, मिश्र, अरब, फ़ारिस, और अफ़ग़ानिस्तान की जागृति की शिक्षाप्रद कथा। लेखक—श्री० प्रोफ़ेसर शङ्करसहाय सकसेना एम. ए.। मूल्य १।।)

२२—भारतीय अर्थशास्त्र—(Indian Economics)—धन की उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय, व्यापार और वितरण का भारतीय दृष्टि से सम्यग् विवेचन। दूसरा संस्करण। मूल्य २।।)

२३—गाँव की बात—अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी। मूल्य ।)

श्री भगवानदास जी केला की अन्य पुस्तकें

सरल भारतीय शासन (दूसरा संस्करण)—मूल्य ।।)

नागरिक शास्त्र (Citizenship)—मूल्य १।।)

भारतीय राज्य शासन (मध्यप्रान्त के लिए)—मूल्य ।।।)

[illegible]ज्ञान (मध्यप्रान्त के लिए)—मूल्य १)

MR. [illegible] सिविक्स (संयुक्त-प्रान्त के हाई स्कूलों के लिए)—दूसरा

Prescribe[illegible]

of Allahabad, Ag. (दो भाग)—मूल्य ।) और ।=)

only book written b[illegible] [illegible]व्यय का सिद्धान्त। मूल्य १)

[illegible] दारागंज, प्रयाग

साहित्य-निकेतन, द[illegible]

साहित्य निकेतन, दारागंज (प्रयाग) की पुस्तकें

महाभारत की प्राचीन पद्यमय कथाएँ

पाँच भागों में

लेखक

साहित्य-भूषण पं० शिवराम शर्मा

'रमेश' विशारद

लाक्षागृह दहन	॥)
लक्ष्यवेध	॥)
राज्यापहरण	॥)
कृष्णा क्रन्दन	॥)
निर्वासन	॥)

कथाएँ अत्यन्त सरस, प्रभावशाली हिन्दी में दी गई हैं। हिन्दी संसार के सुकवि और सुलेखकों ने इन कथाओं की बहुत प्रशंसा की है।

बालकोपयोगी पुस्तकें

लेखक

पण्डित विद्याभास्कर शुक्ल

महाभारत की कहानियां	।=)
भारत के वीर बालक	।=)
भारत की वीर बालाएँ प्रथम भाग	।=)
भारत की वीर बालाएँ दूसरा भाग	।=)
खून का तालाब, ऐतिहासिक कहानियाँ	।=)
नल-दमयंती (लेखक—श्रीलक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी विशारद)	।=)
सौमित्र (लेखक—श्री गिरिजाशङ्कर द्विवेदी, साहित्यरत्न)	।=)
रामू श्यामू (लेखक—श्री व्यथित हृदय)	≥)

श्रीगुरुचरणदास अग्रवाल लिखित

अनोखे चुटकुले	मूल्य	≥)
रंगीले चुटकुले	मूल्य	≥)

ग्राम समस्याएँ

लेखक

श्री रामचन्द्र पाण्डेय बी. ए., सी.टी.

इसमें ग्रामों की समस्याओं पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया गया है।

मूल्य ।=)

उपन्यास

मधुवन—श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर	१॥)
विनाश की ओर—श्रीयुत गिरीश-नारायण, एम० ए०	१)
[illegible] नारी—पं० पुरुषोत्तमदास गौड़	।॥)

साहित्य-निकेतन, दारागंज, प्रयाग